मंत्र योग

(मंत्र सिद्धि के १६ अंगों की विस्तृत व्याख्या)

लेखक :

डॉ० चमन लाल गौतम

रचयिता व सम्पादक : मन्त्र महाविज्ञान, उपासना महाविज्ञान, मन्त्र योग, वैदिक मन्त्र विद्या, ओंकार सिद्धि, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, श्रीमद् भागवत सप्ताह कथा, विष्णु रहस्य, शिव रहस्य, देव रहस्य, तन्त्र विज्ञान, तन्त्र रहस्य, तन्त्र महाविद्या, तन्त्र महासिद्धि, मन्त्र शक्ति से रोग निवारण-विपत्ति निवारण-कामना सिद्धि, मन्त्र शक्ति के [illegible]ार, गायत्री सिद्धि आदि।

294.54
GAU

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

[illegible]तुब, [illegible]दनगर, बरेली-२४३००१ (उ०प्र०)

मन्त्र योग

(मन्त्र सिद्धि के १६ अङ्गों को वैज्ञानिक विस्तृत व्याख्या)

लेखक :

डा० चमनलाल गौतम

रचयिता : मन्त्र महाविज्ञान, वैदिक मन्त्र विद्या मन्त्र शक्ति
से रोग निवारण—विपत्ति निवारण—कामना सिद्धि, मन्त्र
शक्ति के अद्‌भुत चमत्कार, ओंकार सिद्धि
गायत्री सिद्धि, तन्त्र विज्ञान, तन्त्र रहस्य
तन्त्र महाविद्या, तन्त्र महासिद्धि आदि

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर), बरेली—२४३००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक :

डॉ० चमन लाल गौतम

संस्कृति संस्थान,

ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर)

बरेली-२४३००१ (उ०प्र०)

●

लेखक :

डॉ. चमनलाल गौतम

●

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

●

द्वितीय संस्करण

१९७७ , 1977

●

मुद्रक :

शैलेन्द्र वी. माहेश्वरी

नव ज्योति, प्रेस

भीकचन्द मार्ग, मथुरा

●

मूल्य :

आठ रुपये मात्र

294.54
GAU
N77
S.M

भूमिका

मन्त्र विद्या भारतवर्ष की एक प्राचीन धरोहर है जिसके परिणामों ने सारे विश्व को चमत्कृत कर दिया था क्योंकि जीवन के हर क्षेत्र में इसका प्रवेश था और भौतिक व आध्यात्मिक सभी प्रकार की उपलब्धियाँ इससे सम्पन्न की जाती थी। मन्त्र सिद्धि के लिए प्राचीनकाल में घोर तपश्चर्यायें की जाती थी जो आज असम्भव प्रतीत होती है। इन महान उपलब्धियों और शास्त्रों में वर्णित लाभों और माहात्म्य को पढ़ सुनकर अनेकों व्यक्तियों में सिद्ध बनने की इच्छा तो जागृत होती है परन्तु वह चमत्कारी विद्या के रूप में थोड़े समय में ही प्राप्त करना चाहते है जो सर्वथा असम्भव है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए उन समस्त प्रक्रियाओं को अपनाना होगा जो मन्त्र विशेषज्ञों ने उनके लिये नियत की हैं। आवश्यक सहायक सामग्री के अभाव में कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती तो मन्त्र द्वारा सूक्ष्म शक्ति का विस्फोट कैसे हो सकता है? निश्चय ही मन्त्र विद्या शब्द विज्ञान पर आधारित है जिसका समर्थन आधुनिक विज्ञान ने भी किया है। हर शब्द और वर्ण का अपना विशिष्ट प्रभाव रहता है परन्तु उसके प्रयोग का अभ्यास और सहायक प्रक्रियाओं का पालन करना आवश्यक है।

मन्त्र विशेषज्ञों ने अपनी दीर्घकालीन खोजों के परिणाम स्वरूप मन्त्र योग के १६ अङ्ग निश्चित किये थे जिनका वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार आता हैं :—

१–भक्ति, २–शुद्धि, ३–आसन, ४–पंचाङ्ग सेवन, ५–आचार, ६–धारणा, –दिव्यदेश सेवन, ८–प्राण क्रिया, ९–मुद्रा, १०, तर्पण, ११–यज्ञ, १२–बलि, १३–याग, १४–जप, १५–ध्यान, १६–समाधि।

मन्त्र साधक को आस्तिक होना आवश्यक है। उसे ईश्वरीय शक्तियों और उसकी महानतम व्यवस्था पर विश्वास करते हुए अपनी रुचि के अनुसार इष्टदेव का निर्धारण करना होगा। अटूट श्रद्धा और दृढ़ विश्वास के साथ इनका नियमित पूजन अर्चन करना होगा। भक्ति को मन्त्रयोग का प्रथम सोपान माना गया है क्योंकि शक्ति की ओर आकर्षण बढ़ने से शक्ति का सान्निध्य प्राप्त होता है। इस आधार के बिना मन्त्रयोग का भवन लड़खड़ा जायेगा। इसकी पुष्टि के लिए पञ्चाङ्ग सेवन अर्थात् गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय के पाठ की व्यवस्था की गई है ताकि शास्त्रों और मन्त्रों के प्रति रुचि और आस्था स्थिर रहे। शक्ति का विकास दिव्यदेशों के माध्यम से ही होता है। उनकी प्राण प्रतिष्ठा करके उन्हें जागृत करना आवश्यक होता है। निश्चय ही बाह्य याग की अपेक्षा अन्तर्याग अधिक लाभकारी होता है परन्तु साधना का चुनाव अपने स्तर के अनुकूल ही करना चाहिए।

साधना के लिए ऐसे आसनों पर बैठना चाहिए जो असंक्रामक हों, जिनके द्वारा उपार्जित शक्ति का पृथ्वीकरण न हो। किस यौगिक आसन में स्थिर होकर जप करना चाहिए, इसका भी अपना महत्व है। मुद्राओं को भी साधना में सहायक माना गया है। साधक को सदाचार सम्पन्न होना चाहिए, उसका चरित्र उच्च व उज्जवल होना चाहिए क्योंकि यह सदाचार ही शक्ति विकास का आधार स्तम्भ है। सत्यनिष्ठता स्वयं में एक महान् शक्ति है। सत्य को तो मन्त्र सिद्धि का ब्रह्मास्त्र माना गया है। शिष्ट आचार ही सिद्धि के द्वार खोलता है। अतः इसका पालन करने वाला ही सिद्धि का अधिकारी है। दोषों और दुर्गुणों की बलि (त्याग) किये बिना सिद्धि के द्वार तक पहुँचना सर्वथा असम्भव हैं।

मन्त्रयोग का एक आवश्यक अङ्ग है—बाह्य व आन्तरिक शुद्धि। मन को शुद्ध और पवित्र रखना चाहिए ताकि वहां दिव्यताओं का विकास हो सके। विचार अणु बम की शक्ति रखते हैं, उनका परिमार्जन

होते रहना चाहिए। विचारों की पवित्रता आहार पर भी निर्भर करती हैं। साधक का आहार हर प्रकार से सात्विक होना चाहिए। इन्द्रिय संयम पर तो विशेष ध्यान देना चाहिये। तप से पवित्रता का घनिष्ट सम्बन्ध है। ज्ञान से विवेक की जागृति होती है। मन्त्र सिद्धि का क्रियात्मक माध्यम है—उसकी बार-बार उच्चारण-जप, सिद्धि जप के अभ्यास पर निर्भर करती है। इसकी सहयोगी प्रक्रियाएं हैं—श्रद्धा, विश्वास, भावना, एकाग्रता आदि। जप के बाद तर्पण का विधान है ताकि उपकारी के प्रति कृतज्ञता की भावना जाग्रत रहे। जप के पूर्व प्राणायाम किया जाता है ताकि पापों व दुर्गुणों का नाश होकर मन की चंचलता दूर हो और एकाग्रता प्राप्ति में सहायता मिले। चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए ध्यान एक सशक्त माध्यम है। इसलिए जप क्रिया की पूर्णता ध्यान के साथ हीं मानी गई है। धारणा में सफलता प्राप्त होने पर ही मन्त्र सिद्धि होती है। समाधि कहते हैं—विक्षेपों को दूर करके एकाग्रचित होने की, जब ध्यान और ध्येय वस्तु दोनों मिलकर एक हो जाते है। इस स्थिति के बिना मन्त्र सिद्धि हो भी कैसे सकती है ? जप अनुष्ठान के बाद यज्ञ को आवश्यक माना गया है क्योंकि यह शक्ति के विस्फोट का साधन है।

मन्त्रयोग के उपरोक्त १६ अङ्ग शास्त्रकारों ने स्वीकार किये है। इन्हीं की व्याख्या इस पुस्तक में की गई है। इनका यथाशक्ति पालन करते हुए ही मन्त्रयोग का अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

—चमनलाल गौतम

मन्त्रयोग
की
विषय सूची

——

मन्त्र योग

भक्ति

परिभाषा

भक्ति का अर्थ है प्रेम। स्त्री पुरुष में वासनामय प्रेम होता है। कामतत्व उनमें अत्यधिक आकर्षण उत्पन्न करता है, उसमें आपसी त्याग की भावनायें जाग्रत होती हैं, परन्तु उसकी नींव पार्थिव शरीर की वासना और कामना है जो आकर्षण बने रहने तक ही दृढ़ रहती है। इसके बाद वह प्रेम नहीं रहता। वास्तविक प्रेम तो ईश्वर से होता है जिसमें निःस्वार्थता, त्याग और आत्मसमर्पण की भावना होती है। इसी प्रेम को भक्ति कहते हैं। ईश्वर के प्रति अविनश्वर और अलौकिक अनुराग को ही भक्ति कहते है।

नारद भक्ति सूत्र में कहा है। (१) 'सा त्वस्मिन परम प्रेम रूपा' अर्थात् परमात्मा में परम प्रेम ही भक्ति का स्वरूप है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार (२) 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परम अनुराग का नाम ही भक्ति है। गर्ग मुनि का मत है कि भगवान की कथा अर्थात् नाम, रूप, गुण और लीला के कीर्तन में अनुराग का नाम ही भक्ति है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्ति-रसायन' में भक्ति की परिभाषा करते हुये लिखा है ;—

द्रवस्य भगवद्धर्माद् धारावहितां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्ति रित्य भिधीयते ॥

अर्थात्–'भगवान के गुणगान को सुनकर जब भक्तिगुण का विकास हो व मन द्रवीभूत हो जाए तो भगवान के प्रति अविच्छिन्न तैल धारा के समान जिस चिन्तन धारा में साधक लीन हो जाता है, उसी को भक्ति कहते है ।'

'नारद पञ्चराक्ष' में लिखा है 'अन्य इच्छाओं को दग्ध करके निर्मल चित्त से समस्त इन्द्रियों के द्वारा भगवान की सेवा का नाम ही भक्ति है ।' महर्षि पाणिनि ने भक्ति का धात्वर्थ करते हुए लिखा है 'भज सेवायाम' जिसमें उन्होंने भजधातु का अर्थ सेवा ही स्थिर किया है । उस सेवा में जो प्रेम की पवित्र भावनायें निहित हैं, वह ही भक्ति का रूप बन गई ।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है 'भगवान का महात्म्य जानकर उनमें सबसे अधिक स्नेह होना ही भक्ति कहलाता है । इसी से मुक्ति होती है ।'

श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार 'भक्ति का अर्थ हुआ भाग होने का ज्ञान ।' जीव जब यह समझता है कि वह ईश्वर का अंश है तो उसके समस्त विकार नष्ट हो जाते है, उनका अन्तःकरण निर्मल व पवित्र हो जाता है, स्थूल भावनायें क्षीण हो जाती हैं (क्योंकि सूक्ष्म तत्व का अंश सूक्ष्म हो जाता है । सूक्ष्म का अंश तो सूक्ष्म ही हो सकता हैं ।

विष्णु पुराण में भक्त प्रहलाद प्रार्थना करते हैं 'जिस तरह विषय भोगों में लिप्त लोगों में विषयों के प्रति एक चित्त प्रीति होती है,उसी तरह भगवान के प्रति अटूट और अविच्छिन्न प्रेम ही भक्ति का लक्षण है :'

भागवत में लिखा हैं 'भगवान की महिमा और गुणगान श्रवण करते ही समुद्र की ओर प्रस्थान करती हुई गङ्गा जी की अविच्छिन्न धारा कीं तरह चित्त की जब निष्काम अविच्छिन्न गति हो जाती है,

उसी को भक्ति योग कहते हैं।" श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ "अद्वैत सिद्धि" में लिखा है "भगवद्भाव के द्रवीभूत होकर भगवान के साथ चित्त का जो संविकल्प तदाकारभाव है, वहीं भक्ति का लक्षण है।"

एक विद्वान के अनुसार "जो लोग भक्ति को मधुर मनोराग कहकर उसकी अवज्ञा करते हैं, वे अज्ञानी हैं। भक्ति प्रकृतिक अनुभूति मात्र नहीं है। यह एक तेजस्विनी चिन्मयी शक्ति है। इस शक्ति के प्रभाव से भगवान वशीभूत होते हैं। यह शक्ति ही विश्व की परम सत्य शक्ति है।"

स्वामी शंकराचार्य के अनुसार "स्व-स्वरूप का अनुसन्धान ही भक्ति है" (विवेक चूड़ामणि)। फिर कहा कि स्व और आत्मा अर्थात् जीवात्मा और ईश्वर का तत्वानुसन्धान ही भक्ति है।"

धर्मशास्त्रों में भक्ति का असाधारण महत्व

भक्ति के सम्बन्ध में धर्म शास्त्रों में बिस्तृत चर्चा है जिसमें उसके माहात्म्य का वर्णन किया गया है। यथा—

दैवी मीमांसा दर्शन शाण्डिल, शिव और नारदीय दर्शनों में उल्लेख है "साधारण भक्ति के जाग्रत होने से ही महापाप नष्ट होते हैं" भक्ति सर्वश्रेष्ठ साधन हैं क्योंकि विभिन्न साधनाओं में इसके बिना गति नहीं है। "भक्ति सब प्रकार के फल प्रदान करने वाली है।' भक्ति से अमृतत्व की प्राप्ति होती है और पतन की सम्भावना नहीं रहती।" "भक्ति ज्ञानी व अज्ञानी सभी का कल्याण करती है।" "भक्ति कर्म, उपासन, ज्ञान यज्ञ आदि समस्त साधनाओं की सहायक है।"

उपनिषदों में लिखा है कि "जब उपनिषद् रूपी धनुष पर उपासना रूपी तीक्ष्य वाण चढ़ाकर भक्तियुक्त चित्त होकर प्रयुक्त किया जाता है तो निश्चय रूप से ब्रह्म रूप लक्ष्य सिद्ध हो सकता है" जिस तरह समुद्र की ओर जाने वाली नदी अपने नाम और रूप को भूलकर समुद्र में मिल जाता है, उसकी कोई प्रथक सत्ता शेष नहीं रहती, उसी तरह ज्ञानी

मक्त प्रकृतिदत्त नाम और रूप को छोड़ कर अपनी प्रथक सत्ता को त्यागकर परब्रह्म में लीन कर देते हैं और विदेह मुक्ति प्राप्त करते हैं।"

गीता में विभिन्न स्थानों पर मक्ति की चर्चा है । यथा "अनन्यभाव से मेरी भक्ति करने वाले की विशेष योग्यता है" (७।१७) । ',हे पार्थ ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं और जिसने इस सबको फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है, वहां पर श्रेष्ठ पुरुष अनन्य मक्ति से ही प्राप्त होता है" (८।२८) ।

अर्जुन को सच्चा मक्त बनाने की प्रेरणा देते हुये भगवान कहते हैं "तू जो कुछ करता है, खाता है, हवन, दान और तप करता है, वह मुझे अर्पण किया करो" (६।२७) ।

मक्ति से क्षुद्र से क्षुद्र परस्थितियों व हीन से हीन दशा में पड़ा व्यक्ति भी उच्च गति को प्राप्त हो सकता है, इसका दृढ़ आश्वासन भगवान सशक्त शब्दों में देते हैं "मेरे लिये सब एक हैं । न में किसी से द्वेष करता हूँ न किसी से प्रेम और न कोई मेरा प्यारा है । भक्ति से जो मेरी आराधना करते हैं, वे मुझ में और मैं उनमें हूँ" (६।२६) । "दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी यदि मुझे अनन्य भाव से भजता है तो मैं उसे बड़ा साधु समझता हूं क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय पवित्र रहता है" (६।३०) । "वह शीघ्र ही—धर्मात्मा की स्थति तक पहुच जाता है और नित्य शान्ति प्राप्त करता हैं । इसको निश्चय जान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता" (६।३१) । 'पुण्यवान ब्राह्मणों, राजर्षियों, क्षत्रियों और मेरे मक्तों की कौन कहे, मेरे अश्रय से स्त्रियां, वैश्य शूद्र और अन्त्यज भी परम गति को पाते हैं" (६।३२, ३३) ।

भक्ति द्वारा ईश्वर प्राप्ति का विश्वास दिलाते हुए भगवान ने कहा है "हे अर्जुन ! केवल अनन्य मक्ति से ही मेरा ज्ञान प्राप्त करना, मेरा साक्षात्कार करना और मुझ में तत्व से प्रवेश करना सम्भव है ।" (११।५४) । "जो मक्त सब कुछ मुझे अर्पण करके एक निष्ट भक्ति योग

से मेरा भजन करता है, वह ब्रह्मभूत स्थिति प्राप्त करने की क्षमता वाला हो जाता है।" (१४।२६)।

प्रिय भक्तों की पहिचान के लक्षणों का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं 'जिस भक्त का किसी से द्वेष नहीं है, जो सब भूतों के साथ मित्रता का बर्ताव करता है और कृपा दृष्टि से देखता है, जो ममत्व और अहंकार बुद्धि से शून्य है, जो दुःख सुख में सम रहता है और क्षमाशीलता जिसका गुण है (१२।१३)। जो सदैव सन्तुष्ट, संयमी और दृढ़ निश्चय वाला होता है, जिसने मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दिया है वह भक्त मुझे प्रिय हैं (१२।१४)। जो न दूसरों को क्लेश देता है और न ही उनसे पाता है, ऐसा हर्ष. क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त भक्त ही मुझे प्यारा है (१२।१५)। जो पवित्र और क्रियाशील है, जिसे विकार पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकते और जिसने काम्यफल की आशा छोड़ दी हो (१४।१६)। जो न हर्ष करता है, न इच्छा। जो शुभाशुभ के फल का त्यागी है, वही भक्त मुझे प्रिय है (१४।१७)। जिसे शत्रु मित्र, मान-अपमान, शीत और उष्णता, सुख और दुःख समान लगते हैं और जो आसक्ति रहित है। (१४।१८) जो निन्दा स्तुति को एक-सा मानता है, जिसकी इच्छाएँ संयमित हैं और जो सन्तोषी है, जिसकी मति स्थिर है, जो कर्मफलाशा रूप में उदासीन है, वही भक्त मुझे प्रिय है (१४। १९)। उपरोक्त तथ्यों का जो श्रद्धा पूर्वक आचरण करते हैं। वही मेरे प्यारे हैं" (१४।२०)।

"ब्रह्मभूत हुआ भक्त निरन्तर प्रसन्न चित्त रहता है, उसकी न कोई इच्छा ही रहती है और न किसी के प्रति वह द्वेषभाव रखता है, वह प्राणी मात्र में समानता का अनुभव करता हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है" (१८।५४)। भक्ति की इस स्थिति तक पहुँचने पर वह मुझे तत्व रूप में जान जाता है। यह तात्विक ज्ञान हो जाने पर वह अन्त में मुझ में ही प्रवेश कर जाता है" (१८।५५)।

कर्म योग में भक्ति की आवश्यकता पर बल देते हुए भगवान ने

कहा है "सब कर्मयोगियों में भी मैं उसे उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ कि जो मुझ में अन्तःकरण रखकर श्रद्धा से मुझ को भजता (६८ ४७)।

भावना की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भगवान ने कहा है "जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें में उसी प्रकार से फल देता हूँ। हे पार्थ ! किसी भी ओर से हो, मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं" (७१)। "देवताओं का व्रत करने वाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत रखने वाले पितरों के पास, भिन्न-भिन्न भूतों के भजने वाले उन भूतों के पास जाते हैं और मेरा भजन करने वाले मेरे पास आते हैं।" (९।२५)।

श्री मद्भागवत भक्ति का अपूर्व ग्रन्थ है। उसमें भक्ति की महत्ता और उससे होने वाले परिणामों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया हैं। यथा "मैं भक्तों के आधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे हृदय पर साधु भक्तों का राज्य है। भक्तों के बिना मुझे आत्मा और परम श्री भी अच्छी नहीं लगती। मैं साधुओं की ही परमगति हूं। जिस भक्तों ने स्त्री, पुत्र परिवार, धन, ऐश्वर्य और परलोक प्राप्ति की कामना को भीं त्याग दिया और मेरा आश्रय लिया है, उन्हें में कैसे छोड़ सकता हूँ ? पतिव्रता स्त्री गैसे अपने निःस्वार्थ प्रेम से अपने पति को वश में करती है, वैसे ही मेरा भक्त मुझे बाँध लेता है। साधु मेरा हृदय और मैं साधुओं का हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं पहिचानते और मैं भी उनके अतिरिक्तऔर किसी को नहीं पहिचानता।"

एक अन्य स्थान पर भक्ति से उत्तम गति की चर्चा करते हुए कहा गया है "भगवान की परम भक्ति से मोहादि अविद्या की ग्रन्थियाँ टूटने लगती है, संसार चक्र शिथिल होने लगता है, ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है जिसका परिणाम परम सुख होता है। जैसे अग्नि में तपने से सोने का सुन्दर रूप निखर आता है, उसी तरह भक्ति से कर्म की मलिनता नष्ट होती है'। भक्त को कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। अग्नि से जैसे लकड़ी जल कर भस्म हो जाती है। वैसे ही भक्ति से पाप भस्म

हो जाते है ।' (११।१४।१9-२०) । भक्ति से सद्गुणों की प्राप्ति की बात प्रहलाद के मुख से कहलवाई गई है कि 'भगवान के निष्काम भक्त के हृदय में समस्त देवता, धर्म ज्ञान आदि सद्गुणों सहित निवास करते है । जो अभक्त है यह महापुरुषों के सुणों का आव्हान कैसे कर सकते है ? उनकी तो बाहरी विषयों की ओर दौड़ने की ही प्रवृत्ति रहती हैं' (५ । १८ । १२) ।

भक्त संयम के मार्ग पर चलता है, इस सम्बन्ध में भगवान उद्धवजी से कहते हैं । 'मेरे जिस भक्त ने अभीं इन्द्रियों को पूर्ण रूप में वश में नहीं किया हैं और जिसे सांसारिक विषय बार:बार अपनी ओर खींचते रहते हैं, उसकी भी क्षण-क्षण बढ़ने वाली मेरी भक्ति विषयों से पराजित नहीं होती' (११ । १४ । १८) ।

भक्त के परम कर्तव्य और परम धर्म की घोषणा करते हुए कहा है भगवान के चरणो में भक्ति-भाव की प्राप्ति ही सबसे बड़ा कर्तव्य-परम धर्म हैं' (६।१२) । 'भगवान की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है । निष्काम और स्थिर भक्ति से आनन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है ।'

भक्ति से ऋषित्व प्राप्ति की सम्भावना पर वल देते हुए कहा गया हैं 'भक्ति से निष्पाप और बिर्दोष वातावरण का निर्माण होता हैं जिसमें प्रवेश करके पतन की ओर जाता व्यक्ति भी ऊंचा उठने लगता है और भक्त पुरुष तो विरक्त महात्मा और ऋषि महर्षि तक बन सकता है ।' (६ । ४ । ६३) ।

उत्तम भक्तों में कार्य कामनायें सर्वथा शान्त हो जाती है । श्री कपिल देव अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए कहते हैं 'मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त किसी की कामना नहीं करते । सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य या एकत्व किसी भी प्रकार की युक्ति वह नहीं चाहते । मेरा प्रेम और सेवा ही उनका लक्ष्य होता है । यह 'आत्यन्तिक भक्ति योग'

है। इससे वे त्रिगुणात्मिका माया को पार करके मेरे विमल प्रेम को प्राप्त करते हैं।'

परम भागवत के लक्षणों का दिग्दर्शन करते हुए कहा गया है 'जिसके मन में यह भेद-भाव नहीं होता कि मैं अलग हूँ, भगवान अलग है और सब लोग भिन्न है परन्तु जो प्राणी मात्र के सम्बन्ध में यह भावना रखता है कि भगवान और मैं दोनों एक है और जो यह समझता है कि सब प्राणी भगवान और मुझ में भी है। वही सब भागवतों में श्रेष्ठ है। (११। २। ४५। व ३। २४। ४६)।

नारद रचित--'नारद भक्ति सूत्र' भक्ति का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता हैं। उसमें भक्ति तत्व की व्याख्या, उसके फल, और प्राप्ति के उपायों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। कुछ उद्धरण प्रस्तुत है ---

'भक्ति प्रेम रूप और अमृत स्वरूप है : उसे प्राप्ति करके साधक सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। उसकी कामनायें शान्त हो जाती हैं, वह शोक, द्वेष व आसक्ति रहित हो जाता है। उस परम शान्ति प्राप्त होती है और वह आत्मा में रमण करने लगता हैं।' (सूत्र १=६)।

'वह भक्ति विषय त्याग और सङ्ग त्याग से प्राप्त होती है। अखण्ड भजन, कीर्तन और गुणों के श्रवण से भी वह मिलती है। भगवत कृपा और महापुरुषों की कृपा मुख्य साधन है।' (सूत्र ३४—३६).

'भक्त को लोभ हानि की चिन्ता से मुक्त होना चाहिए। जब तक पारस भक्ति प्राप्त न हो जाए तब तक लोक व्यवहार को नहीं छोड़ना चाहिए परन्तु फल त्याग का साधन अपनाना चाहिये। समस्त आचार भगवान को अर्पण करने चाहिए।' (सूत्र ५८ - ६६)।

'अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारों का भली भांति पालन करना चाहिए।' (सूत्र ७८)

भक्ति साधन के लिये ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नहीं है।' (सूत्र ७८)।

"पद्म पुराण" में भी भक्ति साधन के लिये समानता का व्यवहार ग्रहण किया गया है और कहा है कि "भगवान की भक्ति का अधिकार सभी देशों, युगों, जातियों और स्थितियों के मनुष्यों को है।" (अ० ४२। ९०)।

STUDY OF DEVEL... LIBRARY ... Classification No. ...

अव्यक्त ब्रह्म का चिन्तन असुविधाजनक है

मानव जीवन का परम लक्ष्य शाश्वत सुख शान्ति, आवागमन के बन्धनों और माया की जंजीरों से छूटकर मोक्ष प्राप्ति, ब्रह्म साक्षात्कार, ईश्वर प्राप्ति है। परन्तु सर्व साधारण के लिए इस ब्रह्म को, समझना और उस तक पहुँचना सरल नहीं है। गीता ने ब्रह्म की परिभाषा में लिखा हैं "सबसे परम अक्षर अर्थात् कभी न नष्ट होने वाला तत्व ब्रह्म है।" उस ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह निर्गुण, निराकार निरंजन, अविनाशी, अव्यक्त, इन्द्रियातीत, अनन्त और एकमेवा-द्वितीय है। 'वह परमब्रह्म पंचमहाभूतों के शब्दों, स्पर्श रूप, रस, गन्ध—इन पांचों गुणों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है।" (कठोपनिषद् ३। १५, वेदान्त सूत्र ३। २, २। ३०)।

महाभारत के शान्ति पर्व में भगवान ने नारद से भागवत धर्म की चर्चा करते हुए कहा है "मेरा सच्चा स्वरूप अज, नित्य शाश्वत, निष्क्रिय, अदृश्य, अस्पृश्य, अध्येय, निर्गुण और त्रिगुणातीत है।" (अ० ६। २१-२८)। "यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है" (गीता २। २५)। "यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त हैं, अतः शरीर में रहकर भी न तो यह कुछ करता है और न किसी में लिप्त होता है" (गीता ३३। ३१)। आत्मा के सम्बन्ध में गीता में कहा है 'कोई उसे अद्भुत वस्तु समझकर आश्चर्य से देखते हैं, कोई उनका आश्चर्य से वर्णन करते हैं और कोई उस वर्णन को आश्चर्य से सुनते हैं परन्तु इस प्रकार देख-सुनकर भी कोई उसे तत्व से जानता नहीं" (२। २६)। कठोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन हैं।

"आत्म-ज्ञान अत्यन्त गूढ़ है, अनेक मनुष्य तो उसे सुन भी नहीं

पाते, जो लोग सुनते हैं, उनमें अधिकाँश समझ ही नहीं सकते । ऐसे गूढ़ तत्त्व को कहने वाला भी आश्चर्यमय होता है और जो ऐसे वक्ता को ढूँढ़ निकालता है, वह चतुर मनुष्य भी कोई विरला ही होगा । आत्म-ज्ञान सहज में ही समझ में आने वाली वस्तु नहीं हैं । अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर या अनेक प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी इसका ज्ञान सम्भव नहीं है । यह सूक्ष्म ज्ञान तर्क से परे है और अन्य ज्ञानी जन द्वारा कहे जाने पर भी मनुष्य की इसमें गति नही हैं ।" (१ । २ । ६, ७) ।

गीता में भगवान ने यह भी कहा है 'मुझे कर्मों का लेप नहीं है" ४ । १४) । "अनादि और निर्गुण होकर भी यह अव्यक्त परमात्मा शरीर में रहकर भी कुछ करता-धरता नहीं है और उसे किसी भी कर्म का बन्धन नहीं होता" (१२ । ३०) । कहीं-कहीं परस्पर विरोधी वाक्य भी कहे गये हैं' उस परमेश्वर को न सत् कहते हैं और न असत् ही" (गीता १३ । १२) । 'उसके सब ओर हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुँह और कान हैं । उसे सब इन्द्रियों के गुणों का अभ्यास है परन्तु उसके कोई इन्द्रिय नहीं है । वह सबसे प्रथक रहकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होकर भी गुणों का उपयोग करता हैं ।' (१३।१३।१४) । 'वह चर भी है ओर अचर भी है, भूतों के अन्दर भी है और बाहर भी है, वह दूर भी है और निकट भी है ।' (१३ । ८५) वह विभक्त भी है और अविभक्त भी है, वह सब भूतों का पालन भी करता है और उन्हें ग्रसता भी है ।' (१३ । १६) ।

व्यक्त से ही अव्यक्त की अनुभूति

शास्त्र कहते है कि यह ब्रह्म विनाशी नाम रूपात्मक माया से आच्छादित है, इसके रूप का वर्णन करना दुःसाध्य है । वेद शास्त्रों को इसका वर्णन करते-करते अन्त में 'नेति-नेति' ही कहना पड़ा है ! बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी समझने और समझाने की क्षमता नहीं रखते फिर साधारण जनों की क्या बिसात है ? यदि स्थूल बुद्धि वालों को अव्यक्त

ब्रह्म की उपासना की प्रेरणा दी जाए तो वह उसे कदापि ग्रहण न करेंगे क्योंकि उस पर उनका विश्वास ही नहीं जम पायेगा और सर्व व्यापक होकर भी उनके अविश्वास का पात्र हो जाएगा। जिस व्यक्ति का जैसा स्तर हैं, उसे वैसी ही साधना प्रणाली का निर्देश दिया जाय तो उसे सहर्ष अपना लेगा और उसमें आशाजनक सफलता भी प्राप्त कर लेगा। परन्तु यदि आरम्भ से ही उसे अव्यक्त की साधना बता दी गई तो वह घबरा जायेगा और उसे यह साधना कष्टसाध्य प्रतीत होगी, क्योंकि मन स्वभाव से चंचल है, उसे जमाने के लिए उसके सामने कोई इन्द्रियों को दिखाई देने वाली किन्तु होनी चाहिए। अन्यथा वह भटक जाएगा।

ज्ञानियों को भी यह मार्ग क्लेशमय प्रतीत हुआ है। भगवान ने गीता में भी निर्देश दिया है कि 'अव्यक्त में चित्त की जो स्थिरता का का प्रयत्न करता है, उसे बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं क्योंकि अव्यक्त का अनुभव करना स्थूल इन्द्रियों वाले व्यक्ति के लिए स्वभाव से कष्टदायक है' (१२।५)। लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' में इस समस्या का सुन्दर समाधान किया है 'ब्रह्म इन्द्रियातीत, अव्यक्त, अनन्त और निर्गुण है। इसलिए उपासना का आरम्भ उस स्वरूप से नहीं हो सकता। कारण यह है कि जब श्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप का अनुभव होता है। तब मन अलग नहीं रहता वस्तुक उपास्य ओर उपासक अथवा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक रूप हो जाते हैं। निर्गुण ब्रह्म अन्तिम साध्य वस्तु है, साधन नहीं और जब तक किसी न किसो साधन से निर्गुण ब्रह्म के साथ एक रूप होने की पात्रता मन में न आवे, तब तक इस श्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार हो नहीं सकता। अतएव साधन की दृष्टि से की जाने वाली उपासना के लिए जिस ब्रह्म स्वरूप को स्वीकार करना होता है,वह दूसरी श्रेणी का अर्थात् उपास्य और उपासक के भेद से--मन की गोचर होने अर्थात् सगुण ही होता है। मन की स्वाभाविक रचना ऐसी है कि जो वस्तु नेत्रादि इन्द्रियों के अगोचर है, उस पर प्रेम रखना या हमेशा

उसका चिन्तन कर मन को उसमें स्थिर करके वृति को तदाकार करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन और दुःसाध्य भी है। इसलिये सर्वकर्ता, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ परमेश्वर पर प्रेम करने और उसमें अपनी वृत्ति को लीन करने के लिये मन के सामने 'प्रत्यक्ष' नाम रूपात्मक किसी वस्तु के रहे बिना साधारण मनुष्यों का काम चल नहीं सकता।'

अव्यक्त ईश्वर कों व्यक्त द्वारा अनुभव करने की साधन प्रणाली को ही भक्ति मार्ग कहा गया है। आरम्भिक साधना के लिये यह मार्ग सुविधाजनक है क्योंकि वह अपने उपास्य को अपनी स्थूल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष देखता है जिससे उसकी निष्ठा बढ़ती है। यदि वह उपास्य कोई शरीरधारी पुरुष हुआ हो और उसके जीवन की आदर्श क्रियाओं के सम्बन्ध में उसे विस्तृत जानकारी हो तो उससे उन पर सम्मान की भावनाएं जाग्रत होती हैं जो श्रद्धा में परिवर्तित हो जाती है। श्रद्धा ही भक्ति का मूल और जड़ है। श्रद्धा से ही उपास्य के प्रति प्रेम वढ़ता है। श्रद्धा जितनी जीवित रहेगी, भक्ति भी उसी अनुपात से सशक्त रहेगी। जहाँ श्रद्धा मृत रहती है, वहाँ भक्ति का भी अभाव होता है। जहाँ भक्ति की कमी है, वहां साधना की सशक्त भी अशक्त है, इसीलिए कहा है 'मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है। वह वैसा ही वन जाता है।" (गीता १७। ३, मैत्र्युउनिषद् ४। ६)।

ज्ञान मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिये भी श्रद्धा का होना आवश्यक है। गीता का मत है "जो श्रद्धावान् व्यक्ति इन्द्रिय संयम का प्रयत्न करता रहता है, उसे भी ज्ञान की प्राप्ति होंती है और ज्ञान प्राप्त हो जाने पर परम शान्ति की उपलब्धि होती है।" (४। ३९) परन्तु "जहाँ श्रद्धा का अभाव है और जिसे संशय ने घेरा हुआ है उसका नाश ही नाश है, उसे न यह लोक प्राप्त होता है, न परलोक।" (गीता ८।४०)। अतः श्रद्धा को मृतावस्था में रखना एक पाप है जिसका प्रायश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि श्रद्धा के बिना प्रगति का मार्ग ही रुक जाएगा। साधना का आरम्भ तो श्रद्धा से ही होता है। जब श्रद्धा नहीं है तो चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देगा और

जीवन भर भटकता रहेगा। अतः श्रद्धा एक ऐसा तत्व है जिसके सहारे हम जीवन के विकास क्रम को आगे बढ़ा सकते हैं और व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त के साथ नाता जोड़ सकते हैं।

भक्ति का क्रमिक विकास

भक्ति मार्ग का आरम्भ साधारण जनों के लिये सुलभ होता है क्योंकि उनकी श्रद्धा और विश्वास के लिये उपयुक्त भूमि तैयार मिलती हैं और वह प्रत्यक्ष रूप से अपने नेत्रों से आपने श्रद्धा पात्र को निहार सकते हैं। गीता ने भी कहा है "यह भक्तिमार्ग प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला और सुविधा से आचरण करने योग्य है" (९।२)। यही कारण है कि इस मार्ग के अनुयायी ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होने हैं। ज्ञान मार्ग पर चलने वाले तो बिरले ही होते हैं।

उपनिषदों ने भी ब्रह्म प्राप्ति के लिये इसी मार्ग का निर्देशन किया है। तैत्तिरीयोनिषद् की भृगु भृगुववल्ली में जबऋषि अपने पिता वरुण के पास ब्रह्म ज्ञान के लिये जाते हैं तो वरुण ने कहा "अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी सब उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये द्वार रूप हैं। भृगु ने तप किया और जाना कि अन्य ही ब्रह्म है वरुण ने पुनः तप का आदेश दिया। भृगु ने जाना कि प्राण ही ब्रह्म है। फिर तप के लिये प्रेरित किया गया तो जाना कि मन ही ब्रह्म है। पुनः तप किया तो वह यह समझा कि विज्ञान ब्रह्म हैं। इसके बाद तप करने पर पता चला कि आनन्द ही ब्रह्म है और वह ब्रह्म ज्ञानी हो गया। ब्रह्मज्ञान तक पहुँचने के लिये स्थूल से सूक्ष्म के क्रमिक विकास का आश्रय लिया गया है।

प्रतीक परमेश्वर नहीं हैं, भावना का माध्यम है

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१) के गार्ग्य और अजातशत्रु के संवाद में ब्रह्म का उपदेश आरम्भ करते हुए गार्ग्य ने कहा "यह जो आदित्य में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।" फिर चन्द्रमा, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दपण, ـ ब्द, दिशाओं, छायामय पुरुष के नाम लेकर कहा कि मैं उन्हीं की ब्रह्म रूप में उपासना करता

हूँ। अन्त में कहा "यह जो आत्मा में पुरुष है। इसी को मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।" इसमें भी पहिले व्यक्त का आधार लिया गया है। वास्तव में व्यक्त के अवलम्बन के बिना अव्यक्त तक पहुँचना सरल नहीं है। इस सुविधा के लिए ही भक्ति योग की खोज हुई है।

योग वाशिष्ठ में भी कहा है "विद्यार्थियों को जिस तरह अक्षर ज्ञान करने के लिपे धीरे-धीरे कंकड़ों से आकृतियाँ बनाकर दिखाई जाती हैं, उसी तरह शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म के ज्ञान के लिए काष्ठ, मिट्टी व पत्थर आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं।"

ईश्वर भक्ति के लिए यह मूर्तियाँ प्रतीक होती हैं। इन्हें ईश्वर मानना भारी भूल होगी। इसके वास्तविक उद्देश्य का दिग्दर्शन करते हुए तिलक ने स्पष्ट कहा है 'शालिग्राम, शिवलिंग अथवा श्रीराम कृष्ण आदि अवतारों की व्यक्त मूर्तियों का चिन्तन कीजिए—ये सब छोटे बच्चे की लंगड़ी गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के लिए अर्थात् चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन हैं, प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिए किसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है यह प्रतीक चाहे कितना ही प्यारा हो परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि सत्य परमेश्वर इस प्रतीक में नहीं।" नेत्रों से जो दिखाई देने वाला है, वह ब्रह्म नही हैं।

केनोपनिषद् (१।६) में स्पष्ट कहा है "जिसे कोई नेत्रों से भी नहीं देख सकता परन्तु जिसके द्वारा नेत्रों को दर्शन शक्ति प्राप्त होती है, तू उसे ही ब्रह्म जान नेत्रों द्वारा दिखाई देने वाले जिस तत्व की मनुष्य उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।" ब्रह्म की अनुभूति के लिए व्यक्त से आगे जाना होगा। महाभारत शान्ति पर्व (३३९।४४) में भगवान ने नारद को कहा है "तू मेरे जिस रूप को देख रहा है, वह माया है, सत्य नही है, मेरे वास्तविक रूप के दर्शन के लिए तुम्हें और आगे चलना चाहिए।" वेदान्त सूत्र (४।१।४) में भी कहा है 'परमेश्वर प्रतीक में नहीं है, इससे आगे हैं।" भक्ति मार्ग के द्वारा जो साधक का विकास

होता है, वह पत्थर, धातु या मिट्टी की मूर्ति द्वारा नहीं होता है, वरन् वह साधक की पवित्र व दृढ़ भावना का प्रतिफल होता है, मनुष्य की जैसी भावना होती है उसका मूर्त रूप ही उसके सामने आ जाता है परन्तु उस भावना के लिए कोई माध्यम भी तो होना चाहिये। वह माध्यम यह मूर्तियाँ और प्रतीक हैं।

भक्ति से उच्चतम विकास सम्भव है।

भक्ति की सरलता का यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्ण विकास नहीं होता अथवा इससे आत्म साक्षात्कार और ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती। भक्ति से भी साधक अन्तिम स्थिति तक पहुँच सकता है। भक्ति से ईश्वर का पहिले ज्ञान होता है और उसके साथ तादात्म्य हो जाता है। भगवान ने गीता में भक्त को आश्वासन दिया है कि "वह भक्ति से मेरा तात्विक ज्ञान पाएगा और तात्विक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह मुझ में प्रवेश पा जाएगा" (१८५५)। फिर अर्जुन को उन्होंने कहा है 'मेरे जिस रूप को तू देख चुका है, उसका दर्शन प्राप्त करना सरल नहीं है। देवता भी इसकी इच्छा करते हैं, जो वेद, तप, यज्ञ और दान से भी प्राप्त नहीं होता परन्तु अनन्य भक्ति से ही मेरा ज्ञान, दर्शन और मुझ में तत्व से प्रवेश करना सम्भव है।" एक जन्म में ही भगवान की अनन्य भक्ति प्राप्त हो जाती हो, ऐसी बात नहीं है। इसके लिए अनेकों जन्मों तक प्रयत्नशील रहना चाहिये। भगवान ने कहा है 'अनेकों जन्मों के पश्चात जब यह अनुभव हो जाता है कि जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही हैं तो वह ज्ञानी मुझे पा लेता है" (७।१९)।

भक्ति की एक विशेषता यह है कि भक्त अपने आपको प्रभु के चरणों सौंप देता है, अपनी समस्त शक्तियों को उसके न्यौछावर कर देता है और विनम्र भाव से सब कुछ प्रभु के लिए करता है। भगवान की भी प्रतिज्ञा है कि जो अनन्य भाव से उनकी शरण में जाता है, उसके योग-क्षेम की चिन्ता उन्हें स्वयं रहती है। "जब अपने कर्मों को ब्रह्म के अर्पण करके आसक्ति रहित रहता है तो जिस तरह कमल को जल नहीं

स्पर्श करता, उसी तरह पाप उसे नहीं लगते" (गीता ५।१०) और शुद्ध अन्तःकरण का होकर परम शान्ति पाता है। भगवान ने अर्जुन को कहा है "तू अपने भोजन, हवन, दान और तप सबको मेरे अर्पण कर दिया कर. इससे तू इनके शुभाशुभ फल रूप बन्धनों से मुक्त रहेगा" (४।२६,२८) और अन्त में मुक्ति पाएगा।

कुछ विद्वानों का मत हैं कि भक्ति से मुक्ति मिलना सम्भव नहीं है क्योंकि भक्ति द्वैत मूलक है और द्वैत मूलक भक्ति-मार्ग में अद्वैत ज्ञान सम्भव नहीं है। व्यवहारिक रूप से देखा जाय तो यह दलील सत्य नहीं है क्योंकि जितना-जितना भक्त का स्थिर हो जाता है त्यों-त्यों भिन्नता नष्ट हो जाती है और अन्त में उसे एक तत्व ही दिखाई देने लगता है। अनुभव भी इस तथ्य का समर्थन करता है। सन्त तुकाराम ने उपनिषदों का अध्ययन नहीं किया था परन्तु अद्वैत स्थिति का जैसा वर्णन याज्ञ-वल्क्य ने वृहदारण्यकोंपनिषद् में किया है, वैसा ही वर्णन तुकाराम ने अपने अभंगों में अपनी अनुभूतियों से किया है। अतः जो स्थित ज्ञानी को ज्ञानी मार्ग से उपलब्ध होती है, उसी स्थिति तक भक्ति मार्ग से भी पहुँचा जा सकता है। अन्तर इतना ही हैं कि ज्ञान मार्ग में आरम्भ में बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है और भक्ति मार्ग में श्रद्धा का, परन्तु आगे चलकर यह भेद समाप्त होता जाता है और ज्ञान की रश्मियाँ उसके अन्तःकरण में चमकने लगती है। शंकराचार्य ने इसी तथ्य को माना में है और कहा है "भक्ति ज्ञान की पूर्वावस्था है। अथवा भक्ति ही आगे चलकर ज्ञान में परिवर्तित हो जाती है।" इसी स्थिति का वर्णन करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "भक्ति की उच्च अवस्था में समस्त जगत ही भक्त को नन्दन वन दीखने लगता है, समस्त वृक्ष कल्प-वृक्ष, समस्त जल—गंगा जल समस्त कार्य—पुण्य कार्य, संस्कृत वाक्य—श्रुति वाक्य और समस्त स्थितियाँ ही ब्रह्ममयी स्थितियाँ हो जाती हैं।" वास्तव में देखा जाय तो पराभक्ति की यह स्थिति और तत्व ज्ञान की उच्च स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है।" निश्चय रूप से भक्ति मार्ग

से भी साधना की उच्चतम स्थितियों तक पहुँचा सकता है।

आरम्भ में ही सर्व साधारण कों यदि अव्यक्त ब्रह्म की शिक्षा और दीक्षा दी जाय तो स्तर की अनुकूलता न होने के कारण वह उसे ग्रहण न कर पायेंगे और विकास सम्भव न होगा। मनोविज्ञान के भारतीय आचार्यों ने इस तथ्य का गम्भीर अध्ययन किया और भक्ति ऐसा राज-मार्ग खोज निकाला जो सर्व साधारण के लिए अपनाने योग्य हो गया और मिट्टी व धातुओं की मूर्तियों के प्रतीकों के माध्यम से निराकार ईश्वर के दर्शन और तत्व ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का अपूर्व अनु-संधान किया। ऋषियों की इस मनोवैज्ञानिक प्रतिभा ने साधना क्षेत्र में चमत्कार का कार्य किया जिसका लाभ आज लाखों, करोड़ों व्यक्ति उठा रहे हैं और भगवद्गीता से अपनी आत्मा का उत्थान करते हुए आगे बढ़ रहे हैं।

भक्ति योग की सरलता

परमात्मा की उपासना के तीन मार्ग हिन्दू-धर्म में प्रसिद्ध हैं— ज्ञान, कर्म और भक्ति। श्रीमद्भागवत् में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि "ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।" ज्ञान योग, कर्म-योग और भक्तियोग के अतिरिक्त आत्मोद्धार का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इनमें से विद्वान ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते हैं, वेदज्ञ पण्डित कर्मकाण्ड को अधिक महत्व देते हैं और सामान्य जनसमुदाय के लिए भक्तिमार्ग अधिक व्यावहारिक सिद्ध होता है। प्राचीन शास्त्रों में इन तीनों मार्गों की श्रेष्ठता स्थान-स्थान पर वर्णित की गई है और प्रसङ्गा-नुसार एक को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। पर सच्ची बात यह है कि इस प्रकार की तुलनात्मक समीक्षा किसी व्यक्ति के लिए उसकी विद्वता की द्योतक हो सके, तो भी उसके आधार पर इन तीन मार्गों में से किसी को बड़ा या छोटा कहना निरर्थक है। देश-काल पात्र की दृष्टि से इनमें से प्रत्येक अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि आध्यात्मिक शिखर पर पहुँचने के लिए ये तीनों

सीढ़ियाँ हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। इनमें भक्ति को प्रथम सोपान कह सकते हैं क्योंकि ज्ञान और कर्म की बात प्रत्येक नहीं समझ सकता, पर भक्ति-पथ सबके लिये सदैव सुलभ रहता है। गोस्वामी तुलसीदास कह गये हैं—

जे असि भगति जानि परिहरही।
केवल ज्ञान हेतु श्रम करही॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी।
खोजत आकु फिरहि पय लागी॥

"भक्ति को त्याग कर केवल ज्ञान के लिए माथापच्ची करना ऐसा ही है जैसे घर में बँधी कामधेनु को छोड़कर आक (मदार) के पेड़ से दूध एकत्रित करते फिरना।" यद्यपि ज्ञान का महत्व कम नहीं है, पर उसको ठीक समझने वाले कितने हैं। इसी तथ्य को समझदार लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य' में लिखा है कि "यदि कोई कहे कि जब बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी विनाशी नाम-रूपात्मक माया से आच्छादित उस अमृत स्वरूपी परब्रह्म का वर्णन करते समय नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं तब हमारे समान साधारण जनों की सतक्ष में वह कैसे आवे? इसलिये हमें कोई ऐसा सरल उपाय या मार्ग बतलाओं जिससे तुम्हारा वह गहन ब्रह्मज्ञान हमारी अल्प ग्रहण शक्ति से समझ में आ जाये, तो इसमें दोष की क्या बात है?

उपासना की दृष्टि से तो भक्ति ही सब से अधिक व्यवहारिक और प्रत्यक्ष फलदायक तत्व है। निर्गुण उपासना ऐसी दुरुह और अप्रत्यक्ष है कि अधिकांश व्यक्ति उसके स्वरूप को समझ ही नहीं पाते। उपासना में उपासक और उपास्य दो का होना ही स्वभाविक है। पर ज्ञान-मार्ग में जब पहले ही "अहं ब्रह्मास्मि" का उच्चारण किया जाने लगता है, तब अपनी उपासना आप ही करना एक गूढ़ पहेली के समान बन जाती है। कर्मकाण्ड के मार्ग में अदृश्य देव शक्तियों को आहुतियाँ

दी जाती हैं, तो वहाँ भी उनका चिन्तन और ध्यान थोड़े ही लोग कर पाते हैं। इसलिए मनीषियों ने भक्ति-मार्ग की स्थापना की जिसमें उपासक के नेत्रों के सम्मुख अपने उपास्य का प्रत्यक्ष दर्शन मूर्ति अथवा किसी अन्य प्रतीक के रूप में होता रहता है। उसे हृदयंगम करना अथवा उसका ध्यान कर सकना सामान्य कोटि के व्यक्ति के लिए भी सुलभ होता है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए एक विद्वान् का कथन है—

"कर्मयोग के अनुसार लौकिक और वैदिक कर्म करता हुआ जीव परमेश्वर के निकट पहुँच सकता है। किन्तु इस कर्म-साधना में सर्वत्र 'अहम्' के द्वारा संकल्प पूर्वक ही कर्म करने का विधान है, जो व्यक्ति में "अहंवृत्ति" को उद्वेलित और पोषितकर जींव को लौहश्रृङ्खला था स्वर्ण श्रृङ्खला में जकड़ने वाला सिद्ध होता है। इसके लिए गीतकार ने कहा है—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवाव सुखी।
अढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः।

अर्थात्—"कर्मकाण्ड में निरन्तर व्यक्ति प्रायः अज्ञान से मोहग्रस्त होकर विचारने लगता है—मैं ही ईश्वर हूँ, भोगों को भोगने वाला सिद्ध बलवान और सुखी हूं। मैं वैभवशाली और कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और फिर स्वर्गीय आनन्दों का उपभोग प्राप्त करूँगा।" ऐसी विचारधारा जीव को कर्म-वन्धन में बाँधने वाली होती है और अनेक वार उसके कारण उत्थान के बजाय पतन भी हो जाता है।

"अब रहा ज्ञान, शास्त्रों में इसकी बड़ी महिमा वर्णन की गई है। भगवान ने गीता में कहा है "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते" अर्थात् संसार में ज्ञान से बढ़कर और कुछ नहीं है। वेदों में "ऋते

ज्ञानान्न मुक्ति" अथवा 'नान्यः पन्था: विद्यतेऽयनाम' कहकर ज्ञान को ही मुक्ति का सर्वप्रधान साधन घोषित किया है। किन्तु अनुभवी साधकों ने वायु को बांधने या भाद्रपद के उमड़ते अखण्ड सिन्धु प्रवाह को रोकने के सदृश ज्ञान-मार्ग को अत्यन्त कठिन बताया है। साथ वह शुष्क और नीरस भी होता है, जिसमें हर व्यक्ति का प्रवेश संभव नहीं। अनेक व्यावहारिक कारणों से भी ज्ञान-मार्ग विविध उपद्रवों से व्याप्त है। कभी पथिक अहंकार के कारण नीचे गिर सकता है कभी ज्ञान-उपासक में सर्वज्ञाता का दम्भ पैदा कर पतन की ओर ले जा सकता है तथा कभी ज्ञान-मार्ग में अन्तिम स्थिति पर पहुँचते-पहुँचते यदि चेतना पर माया का आवरण पड़ गया तो साधना खण्डित हो सकती है।"

उपरोक्त कथन में 'ज्ञान का आशय निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान ही है। अपने उपास्य के सम्बन्ध में अनुसन्धान उससे सर्वथा पृथक है। ज्ञानी भक्त कों 'गीता में भगवान ने अपनी आत्मा ही बतलाते हुए कहा है—"उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।" इसी कारण कर्म और ज्ञान की उपासना को सार्थक बनाने के लिए उसमें भक्ति का समन्वय किया गया है। इससे साधना सरस, व्यावहारिक और प्रत्येक स्तर के व्यक्ति के लिए सुलभ बन जाती है।

लोकमान्य तिलक ने भी भक्तिमार्ग और सगुणोपासना की युक्तियुक्तता समझाने के लिए लिखा है—'पहले किसी व्यक्त में प्रत्यक्ष पदार्थ को देखे बिना मनुष्य के मन में अव्यक्त की कल्पना जाग्रत हो ही नहीं सकती। उदाहरणार्थ जब हम लाल, हरे इत्यादि अनेक व्यक्त रङ्गों के पदार्थ पहले आँखों से देख लेते हैं तभी रङ्ग की सामान्य और अव्यक्त कल्पना जाग्रत होती है। यदि ऐसा न हो तो रङ्ग की यह अव्यक्त कल्पना हो ही नहीं सकती। अब चाहे इसे कोई मनुष्य के मन का स्वभाव कहे या दोष कुछ भी कहा जाय, जब तक देहधारी मनुष्य अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर सकता, तब तक उपासना

के लिये निर्गुण से सगुण में आना पड़ता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। यही कारण है कि व्यक्त-उपासना का मार्ग अनादि काल में प्रचलित है। "रामतापनीय" आदि उपनिषदों में मनुष्य रूपधारी व्यक्त ब्रह्मस्वरूप की उपासना का प्रतिपादन किया हैं और "भगवद्-गीता" में भी यही कहा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। (१२-५)

अर्थात्—अव्यक्त में चित्त की (मन की) एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट होते हैं, क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहधारी मनुष्य के लिये स्वभावतः कष्टदायक है।" इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कोई बुद्धि मान पुरुष अपनी बुद्धि से परब्रह्म के स्वरूप को निश्चय करके उसके अव्यक्त स्वरूप में अपने मन को स्थिर कर सकता है। परन्तु इस प्रकार अव्यक्त में 'मन' को आसक्त करने का काम भी तो अन्त में श्रद्धा और प्रेम से ही सिद्ध करना होता है । सच पूछो तो तात्विक दृष्टि से सच्चि-दानन्द ब्रह्मोपासना का समावेष भी प्रेम मूलक भक्ति-मार्ग में ही किया जाना चाहिए। परन्तु इस मार्ग में ध्यान करने के लिये जिस ब्रह्मस्वरूप को स्वीकार किया जाता है, वह केवल अव्यक्त और बुद्धिगम्य होता है, इसलिए इस क्रिया को भक्ति-मार्ग न कहकर "ज्ञान-मार्ग" कहते हैं। पर जब उपास्य के अव्यक्त के बदले व्यक्त और विशेषतः मनुष्य-देह धारी-रूप को स्वीकृत किया जाता है, तब वही भक्ति-मार्ग' कहलाता है।

उपर्युक्त प्रतिपादन से अन्त में हमको इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि भगवान् 'सगुण' भी है और 'निर्गुण' भी। इसलिए शास्त्रों में निर्गुण-भक्ति' और 'सगुण-भक्ति' दोनों का वर्णन किया गया है। व्यक्त ब्रह्म और वेदान्त सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रचारक शङ्कराचार्य ने भी निर्गुण के साथ सगुण भक्ति की उपयोगिता को

स्वीकार किया है और 'शिवानन्द लहरी' में भक्ति को पाँच भागों में विभक्त किया है तथा उसको समझाने के लिये पांच उदाहरण दिए हैं। प्रथम प्रकार की भक्ति को 'अङ्कोल' कहा गया हैं। अङ्कोल वृक्ष के बीच तूफान की गड़गड़ाहट में घृक्ष से चिपट जाते हैं, अन्य समय में पृथक् रहते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति कष्ट पड़ने पर भघवान का स्मरण करते हैं, उनकी भक्ति 'सनिमित भक्ति' कही जाती है। दूसराँ उदाहरण चुम्बक द्वारा आकर्षित लोहे की सुई का है। यह प्रथम प्रकार की भक्ति से कुछ उच्च स्तर की हैं, क्य.कि सुई किसी स्वार्थ के कारण नहीं वरन् स्वभाववश ही चुम्बक की तरफ आकर्षित होती हैं। पर इसमें त्रुटि यह है कि सुई चुम्बक से तभी आकर्षित होती है जब तक वह 'चुम्बकीय क्षेत्र' के भीतर होती है इसी प्रकार इस श्रेणी का भक्त भगवान की उपासना पूजा तभीं करेगा जब मन्दिर आदि निकट हो, दूर होने पर वह उतना कष्ट उठाने को तैयार न होगा। तीसरा उदाहरण एक सती स्त्री का है जो पति से दूर होने पर भी सदा उसका ध्यान किया करतीं है। इसमें एक त्रुटि यह है कि यदि पति का देहान्त हो जाय तो वह उससे पृथक् हो जाती हैं। चौथा उदाहरण वृक्ष से लिपटी लता वृक्ष से अलग होकर जीवित नहीं रह सकती। इसी प्रकार चौथी श्रेणी का व्यक्ति भगवान के बिना कभी रह नहीं सकता। यह भक्ति श्रेष्ठ है पर इसमें इतनी कमी फिर भी रह जाती हैं कि वृक्ष और लता दोनों अपना व्यक्तित्व स्वतन्त्र बनाये रखते है और एक रूप नहीं हो पाते। अन्तिम उदाहरण समुद्र में मिल जाने वाली नदी का दिया गया है, जो समुद्र में मिलकर अपने नाम रूप को भी त्यागकर समुद्र के साथ एक रूप हो जाती है। यह अन्तिम भक्ति निर्गुण उपासना के समीप ही जा पहुँचती है, क्योंकि उसमें भक्त का द्वैत-भाव समाप्त होकर वह अद्वैत हो जाता है।

इस प्रकार भक्ति-मार्ग अति प्राचीन काल से विविध रूपों में मनुष्यों के लिए आत्म-कल्याण का साधन बना हुआ है। पर समय के

परिवर्तन के अनुसार उसमें न्यूनाधिकता होती रहती है । जिस प्रकार हम वर्तमान काल में पाश्चात्य विज्ञान के अनुयायियों द्वारा ईश्वर-भक्ति के सिद्धान्त पर आक्षेप होते देख रहें हैं, ऐसे उदाहरण प्राचीन काल में भी उपस्थित हुए थे । उस समय चार्वाक और वृहस्पति जैसे भौतिकवादियों और अध्यात्मवादियों में इस बात पर संघर्ष होता था कि शरीर और आत्मा—इन दोनों में से किसको प्रधानता दी जाय । भौतिकवादी कहने लगे कि आत्मा परमात्मा, लोक-परलोक सब भ्रम है, इसलिये मनुष्य को संसार में आकर खाना-पीना और मौज करना ही कर्तव्य है । इसके पश्चात् जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ तो भगवान बुद्ध ने बताया कि तृष्णा ही दुःख का मूल है और उसका त्याग ही प्रधान धर्म है । जैनियों के महात्मा महावीर से अहिंसा और तपस्या को ही धर्म का मूल बताया। कुछ समय पश्चात् जब इन कठिन मार्गों की प्रतिक्रिया हुई तो देश में तांत्रिक मत फैल गया जिसने "भैरवीचक्र" के रूप में धर्म के नाम पर घोर अनाचार फैला दिया । आचार्य शङ्कर ने इस अनाचार को मिटा कर निर्गुण ब्रह्मवाद का उपदेश दिया । पर आगे चल कर यह माया-वाद के रूप में बदल कर केवल शास्त्रार्थ का विषय रह गया । वास्त-विक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध न रहा । तब रामानुज, मध्व और निम्बार्क आदि वैष्णव आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ उन्होने धर्म के सर्व सुक्षम रूप भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया । इसमें सन्देह नही कि भक्ति-मार्ग भी कुपात्रों के हाथ में पड़कर ढोंग और कभी-कभी दुराचार का साधन बन जाता है, तो भी सामान्य मनुष्यों में धर्म-भाव जाग्रत रखने का इससे प्रभावशाली उपाय अभी तक अन्य कोई नहीं मिला है । जैसा भगवान कृष्ण ने गीता में उपदेश दिया हैं । वास्तव में ज्ञान-कर्म सम-न्वित भक्ति-मार्ग ही धर्म पालन और परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करने का सर्वोपयोगी मार्ग हैं । इसके यथोचित आचरण से लोक-परलोक दोनों सध सकते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

मन्त्र योग का प्रथम सोपान-भक्ति

आज ज्ञान व कर्म पर अधिक बल दिया जा रहा है, उन्हीं के विकास की योजनायें बनती हैं परन्तु भाव पक्ष की घोर उपेक्षा हो रही है। भावना के अभाव में मानव स्वयं जड मशीन का रूप ग्रहण करता जा रहा है। उसका मन भी जड़ होता जा रहा है कम्प्यूटर ज्ञान बढ़ा सकते हैं, मशीनें भौतिक साधनों की चमत्कारिक वृद्धि कर सकती हैं, और अपार उत्पादन कर सकती हैं। इन दोनों पक्षों का परिणाम कितना भी सफल और आकर्षक क्यों न हो, उससे मानव की अन्तः चेतना को कुछ भी बल नहीं मिलता है।

आत्मा की भूख को तो हर व्यक्ति अनुभव करता ही है। जिस तरह भोजन से शरीर की तृप्ति व पुष्टि होती है, उसी तरह भावपक्ष को विकसित व सबल करने पर ही आत्म-तृप्ति व पुष्टि होगी। इसके अभाव में तो नीरसता, निष्ठुरता व शुष्कता ही बनी रहेगी और परि-
णाम यह होगा कि हजार तरह के आधुनिक भौतिक साधन उपलब्ध होने पर भी मानसिक शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी और असन्तोष की अग्नि सदैव मन में सुलगती ही दिखाई देगी, मानसिक तनाव बना ही रहेगा। ऋषियों का अनुभव है कि सारी पृथ्वी की सुख सुविधाएं भी यदि हमें उपलब्ध हो जाएं तो भी आत्म शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। भौतिक विकास के साथ आत्म-विकास का होना भी आवश्यक है। भाव स्तर का विकास करके ही मानव इसकी अनुभूति कर सकता है। प्रेम, दया, करुणा, ममता, स्नेह, आत्मीयता, सेवा, सौजन्यता, सहानुभूति त्याग. ईमानदारी की रश्मियाँ जब मानसिक क्षेत्र को आलोकित करती हैं तो ऐसा लगता है कि इन किरणों के कण-कण में अपार आनन्द, उल्लास, प्रसन्नता, मस्ती और सन्तोष ओत-प्रोत हैं। भक्ति का वास्त-
विक रूप व परिणाम यही है।

मन्त्र साधना में भक्ति भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी से ही साधक का ईश्वर की और आकर्षण बना रहता है। यह

यह आकर्षण ही तन्मयता उत्पन्न करता है। जिससे एकाग्रचित्त होकर साधक शक्ति विकास और मन्त्र सिद्धि के मार्ग को सरल व प्रसस्त करते हैं। भक्ति को मन्त्र साधना की नींव ही कहना चाहिए क्योंकि श्रद्धा-विश्वास से ही यह पुष्ट होती है। यही कारण है कि इसे मन्त्र-योग का प्रथम अङ्ग माना गया है। जो साधक भक्ति भावना को जाग्रत नहीं कर सका, वह मन्त्र साधना का अधिकार भी खो बैठता है और निष्फल प्रायः होता है। मन्त्र सिद्धि के लिये भक्ति को प्रथम सोपान मानना युक्ति-युक्त है।

———

शुद्धि

सभ्यता की प्रतीक

शुद्धि व पवित्रता मानवता का व अशुद्धि पशुता का चिह्न है। पशु की शुद्धि-अशुद्धि का कोई विवेक नही होता। सभ्य व्यक्ति वही कहलाता है जो गन्दगी से दूर रहता हैं और अपनी हर वस्तु को स्वच्छ रखता है। असभ्य व्यक्ति ही पशुओं की तरह अस्वच्छ बने रहते हैं। गन्दगी से उन्हें घृणा नहीं होती क्योंकि वह उनके स्वभाव का एक अङ्ग बन जाती है। वह गन्दगी केवल शरीर व वस्त्रों तक ही सीमित नहीं रहती। वह तो उस व्यक्ति का एक स्वभाव बन जाता है जो जीवन के हर क्षेत्र में काम करता है उसका हर काम इस अवगुण से ओत-प्रोत रहेगा। उसे यह अनुभव नहीं होता कि गन्दगी व्यक्ति को असुन्दर, अनाकर्षक और घृणास्पद बनाती है। समाज में उसे कोई सम्मान नहीं देता। ऐसे व्यक्ति से सभ्य मनुष्य अपने पास बिठाने से कतराते हैं, व्यापारिक लेन-देन में भी उसे प्रोत्साहित नहीं करते न ही उससे मैत्री का हाथ बढ़ाते हैं। परस्पर सम्बन्धों का आधार तो स्तर की अनुकूलता ही होती है। गन्दगी प्रिय व्यस्ति उच्च श्रेणी के नागरिकों के पास बैठने का साहस भी नहीं कर सकता। उसका अपना अन्तःकरण ही यह गवाही नहीं देता कि वह अच्छे लोगों के सङ्ग में रहे क्योंकि स्वयं को वह इसका अनाधिकारी समझता है। यह तो अपने स्तर के गन्दे लोगों के पास ही बैठना पसन्द करेगा जहाँ से उसे स्वच्छता की सीख नहीं मिल सकती। वह व्यक्ति आर्थिक व सामाजिक सभी क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ रहेगा। उसका बौद्धिक विकास भी रुक जाता है। वह जीवन में कुछ

महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता क्योंकि सभी ओर के सहयोग से वह वञ्चित रहेगा ।

इसके विपरीत स्वच्छता एक ऐसा गुण है जिससे आन्तरिक प्रसन्नता प्राप्त होती है, घरेलू व व्यापार-नौकरी के सभी कार्यों के सम्पादन में रुचि बनी रहती है, जीवन में एक नव चेतना का सञ्चार होता हैं जिससे शरीर व मन दोनों स्वस्थ व स्फूर्तिवान रहते हैं । किसी भी कार्य की सफलता के लिये शारीरिक व मानसिक स्फूर्ति ही परम सहायक होती है । स्फूर्ति व चेतना के अभाव में हर काम में नवग्रह की छाया रहती है । स्फूर्ति के उपार्जन के लिए स्वच्छता एक आवश्यक प्रवृत्ति है जिससे चिर नवीनता बनी रहती है । उस नवीनता से ही स्फूर्ति व उत्साह बना रहता है ।

गन्दगी से रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये कहा जाता है कि गन्दगी स्वयं आधा रोग है । इसी तरह स्वच्छता में निरोगिता का रहस्य निहित हैं । निरन्तर स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक हैं कि हम स्वच्छ रहें ।

वैज्ञानिक पक्ष

स्वच्छता का वैज्ञानिक पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । हमारे शरीर का अन्नमय कोश ठोस, द्रव और गैस से निर्मित होता है । शरीर का निर्माण इस वैज्ञानिक ढङ्ग से सञ्चालित होता है कि भीतर से अत्यन्त सूक्ष्म अणु निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं और सम्पर्क में आने वालों को प्रभावित करते रहते हैं । शरीर एक फव्वारे की तरह होता है । यह लगातार कणों को बाहर फैकता है । केवल बाहर फेंकने का ही गुण नहीं है । अन्य व्यक्तियों के शरीरों से जो कण बाहर निकलते रहते हैं, उन्हें यह ग्रहण भी करता रहता हैं । यह आदान-प्रदान का चक्र निरन्तर चलता रहता है । कोई भी शरीर दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । मनुष्य जहाँ रहता हैं, वहाँ वह अपने सूक्ष्म कणों को बाहर निकलता रहता है और अन्य पिण्डों (पत्थर, वृक्ष, पर

मनुष्य) के शरीरों से निकले हुए कणों को ग्रहण करता रहता है। स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है कि अन्नमय कोश को स्वच्छ रखा जाये, स्वच्छ वातावरण में रहा जाए और ऐसे व्यक्तियों व वस्तुओं से सम्पर्क रखा जाय जो स्वच्छ हों। यह शारीरिक तथ्य हैं।

प्राणमय कोश में जीव, शक्तियाँ निहित रहती है। यह भौतिक वायुओं से निर्मित होता हैं। यह भी अपने चारों ओर के वातावरण को प्रभावित करता है और उसके प्रभाव को ग्रहण करता है। इस आदान-प्रदान का माध्यम कण नहीं होते वरन् वह कम्पन होते हैं जो वायु में लहरों और धाराओं के उत्पन्न होने के कारण बनते हैं। जिस तरह अन्न-मय कोष से सूक्ष्म अणु निरन्तर बौछार के रूप में बाहर निकलते रहते हैं, उसी तरह प्राणमय कोश से जीवन लहरों की बौछार पड़ती है। हर पिण्ड इन्हें निकालता भी है और ग्रहण भी करता है।

अन्नमय कोश के सूक्ष्म अणु और प्राणमय कोश की जीवन लहरें दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करती रहती हैं। अतः इन्हें शुद्ध रखना और शुद्ध व्यक्तियों के सम्पर्क में रहना अभीष्ट है ताकि स्वस्थ अणुओं और लहरों को ही वह ग्रहण करे। शुद्धि के नियमों का उद्देश्य इन दोनों कोशों को स्वस्थ रखना ही है, जिससे वह शारीरिक व मानसिक कोश से वह स्वस्थ व स्फूर्तिवान बना रहे।

शारीरिक शुद्धि के नियम

शास्त्रों में शारीरिक शुद्धि के नियम भी निर्धारित किए गये हैं। मनुस्मृति (४।४८।५२, ५६।५२) में इनका उल्लेख है। इनके अनु-सार प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठे और सर्व प्रथम शौच को जाए। शौच क्रिया में अधिक जल प्रयुक्त करना चाहिए।

स्वास्थ्य की दृष्टि से दो बार मलोत्सर्ग आवश्यक हैं—एक प्रातः उठते ही ईश्वर स्मरण के बाद और दूसरे सायंकाल। आयुर्वेद का तो यह सिद्धान्त है कि ग्राम व नगर के बाहर खुले मैदान में जहाँ स्वच्छ

वायु प्रवाहित हो रही हो, शौच के लिए जाना चाहिए। आदेश तो यह है कि गढ़ा खोदकर मलोत्सर्ग करे और उस पर मिट्टी डाल दें ताकि उसके कीटाणु वायु द्वारा किसी को हानि न पहुँचा सके। बन्द शौचालय स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक ही प्रतीत होते है क्योंकि उनमें विभिन्न प्रकृति के व्यक्ति जाते हैं जो विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो सकते हैं। जहाँ यह सम्भव हो स्वच्च वायु में ही शौच जाए। शहरों में जहाँ यह असम्भव प्रतीत हो, वहाँ सफाई का अधिक ध्यान रखना चाहिए।

मलोत्सर्ग के कुछ नियम इस प्रकार है:—

आयुर्वेद के अनुसार—

शौचे च सुखमासीनः प्राङ्मुखो वायुदङ् मुखः।
शिरः प्रावृत्य कर्णौं वा मुक्त कच्छ शिखोऽपि वा॥

शौच जाते समय सर और कानों को वस्त्र से लपेट लेना चाहिये, शिखा और वस्त्र ग्रन्थी खोल लेनी चाहिए और पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके सुख से बैठना चाहिए।"

आयुर्वेद के अनुसार यदि शौच समय सर ढका होगा तो नजला से सुरक्षा होगी, जुकाम भी न हो पाएगा। सर नङ्गा रहने से कुपित वायु के आक्रमण से नजला जुकाम की सम्भावना रहती है और ढँकने से नजला तथा वात कफ जनित रोगों से सुरक्षा रहेगी। इससे शौचालय की दुर्गन्ध भी कान मुख आदि के द्वारा प्रविष्ट न हो पाएगी।

पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठने का अभिप्राय यह है कि प्रातः और सायं वायु प्रायः पूर्व या उत्तर से पश्चिम और दक्षिण की ओर प्रवाहित होती हैं और दुर्गन्ध को उसी दिशा में ले जाती है। इस तरह से मल की दुर्गन्ध का उस व्यवित पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ पाता। शौच के बाद इस प्रकार शुद्धि का विधान है:—

पञ्चापाने मृदश्चैका लिङ्गे वामकरे दश।
करयोरुभयोः सप्त गृहीत्वाद्भिश्च शोधयेत्॥

एका द्वै वाथवा तिस्त्रो मृदः पादद्वये पृथक ।
पादा वाजानुतुशोंध्यौ करौ त्वामणिबन्धान् ॥ (आ० पं०)

"अपान में पाँच बार लिङ्ग में एक बार, बाँयें हाथ में दश बार और दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगाकर फिर पानी से शुद्ध करनी चाहिये। एक बार-दो बार अथवा तीन बार प्रथक-प्रथक दोनों पैरों में मिट्टी लगाकर शुद्ध करे और दोनों हाथों को मणि बन्ध तक शुद्ध करना चाहिए।"

मिट्टी और जल से शुद्धि करके कुल्ले करने का आदेश हैं। शास्त्र की आज्ञा है–

मूत्रोत्सर्गे तु चतुरः पुराषे त्वष्टसंख्यकान् ।
कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् भोजने दन्त धावने ॥ (आ० पं०)

'मूत्र के त्याग करने पर चार, मल के त्याग में आठ और भोजन तथा दन्तधावन करने पर बारह कुल्ले करने चाहिए।"

नित्य प्रात:काल स्नान से पूर्व दाँतों की सफाई का नियम बनाना चाहिए। दाँतों की सफाई के लिए सर्वश्रेष्ठ व प्राकृतिक साधन दातुन है। साधारणत: नीम, बबूल आदि के दातुन बाजार में उपलब्ध होते हैं। इनमें से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है।

पद्म पुराण का आदेश है—

मुख शुद्धि विहीनस्य न मन्त्राः फलदाः स्मृताः ।
दन्त जिह्वा विशुद्धिण्च ततः कुर्यात्प्रयत्नतः ॥

मुख शुद्धि से विहीन व्यक्ति का मन्त्र सफल नहीं होता। अत: जीह्वा और दाँतों की प्रयत्नपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए।

दातुन के लिए निषेध तिथियाँ हैं:—

सक्रान्ति, व्यतिपात, श्रद्धा का दिन, प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, नवमी चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, रविवार, अपनी जन्म तिथि वार व नक्षत्र। इन तिथियों में मुख शुद्धि के लिए १२ कुल्ले कर लेने चाहिए। जब दातुन न मिले तो भी यही विधान है।

हिन्दु जीवन में स्नान का विशिष्ट महत्व है। सन्धा और अन्य धार्मिक क्रियाएँ स्नान के बाद ही सम्पादित होती है क्योंकि स्नान से शारीरिक शुद्धि मानी जाती हैं। स्नान का धात्वर्थ भी यही है। 'ष्णा शौचे' धातु से यह निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है शुचिता सम्पादन। हिन्दु का शिशु जन्म लेता है तो उसे स्नान कराया जाता है। जब वह इस पंच भौतिक संसार को त्याग देता है, तब भी उसे शुद्धि के लिए स्नान कराया जाता है। शरीर से प्राण निकल जाने पर भी स्नानार्थ उसकी अस्थियों को गंगा-जल में प्रवाहित किया जाता है। बिशेष तिथियों और पर्वों पर तो स्नान का विशेष महत्व प्रतिपादित किया ही गया है। तीर्थों की विशिष्टता स्नान से ही सम्बन्धित है। कुम्भ व अन्य पर्वों पर विशेष तिथियों में स्नान का विशेष महत्व शास्त्रों में वर्णित किया गया है। तीर्थ यात्रा के लिये लाखों व्यक्ति स्नान से ही आकृष्ट होकर जाते हैं। तीर्थ यात्री की यह धारणा रहती है कि विशेष तिथियों में स्नान करने से विशेष पुण्य होता है।

स्नान के जो विशिष्ट लाभ पुस्तकों में वर्णित मिलते है: वे स्नान करने वालों को प्राय: प्राप्त होते नहीं दिखाई देते। इसका कारण यह है कि अधिकांश व्यक्ति थोड़ा जल शरीर पर डाल लेना ही स्नान समझ लेते हैं, इसकी वैज्ञानिक विधि का अनुकरण नहीं करने। स्नान की वैज्ञानिक बिधि इस प्रकार है—

नदी, सरिता का स्नान सर्वोत्तम माना जाता है। जहाँ यह सुविधा न हो, वहाँ नल या कुयें से भी काम चलाया जा सकता है।। सर्वप्रथम सर पर जल डालना चाहिए क्योंकि इससे बड़ी हुई गर्मी हाथ पैरो से निकल जाती है। यदि इस नियम के विपरीत पहले पैरों को भिगोया जाए तो गर्मी ऊपर को सर की ओर बढ़ती है जिनसे कालान्तर में कोई विकार उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है। अत: पहले सर, फिर पैर व अन्य शरीर भिगोना चाहिए। सारा शरीर जल सिंचित होने पर खुरदरे तोलिये से उसे दस पन्द्रह मिनट तक खूब

रगड़ना चाहिए ताकि रोम कूपों का मल बाहर निकल आए और पूर्ण शुद्धि हो जाय। इसके बाद ५ मिनट तक शरीर पर जल डालते रहना चाहिए ताकि इससे शरीरगत जलीय अंश की पूर्ति हो जाय। अन्त में तौलिये से पोंछ डालें और बस्त्र पहन लें।

रिटर्न टु नेचर' के प्रसिद्ध लेखक "श्री एडोल्फ जस्ट" का कहना है कि शरीर को तौलिये या अँगोछे से नहीं सुखाना चाहिए वरन् खुले हाथों से रगड़-रगड़ कर सुखाना चाहिये। वे तौलिये के व्यवहार को बिल्कुल प्रयोग में न लाने का आदेश देते हैं। आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली के अनुसार नहाने के बाद शरीर को गरम करना आवश्यक है। अतः स्नान के बाद कमरे में या खुले स्थान पर नँगे शरीर से टहलना चाहिये। हल्के व्यायाम से भी गर्मी लाई जा सकती है। धूप भी इस उद्देश्य की पूर्ति करती है।

स्नान के बाद सन्ध्या व इष्ट मन्त्र का जाप करना चाहिए। जप के बाद भोजन करे। भोजन में ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। जो शरीर संरक्षण के लिए लाभदायक हों। मिठाई, चाट पकोड़ी, बीड़ी सिगरेट, मांस-मछली, मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे रोग कीटाणुओं की व्रद्धि हो और उनका पालन पोषण होता रहे। अन्यमय कोश की पवितत्रा के लिए भोजन के नियमों के पालन में पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए।

विचारों की पवित्रता की उपेक्षा न हो

शारीरिक शुद्धि की अपेक्षा वैचारिकशुद्धि का महत्व अधिक है। अतः शरीर से भी अधिक विचारों की पवित्रता पर ध्यान देना चाहिए।

सामान्य बुद्धि का व्यक्ति भौतिक उपलब्धियों को ही अपनी प्रगति का कीर्तिमान समझकर अपनी गतिविधियों का संचालन करता है। इससे उसके मन में स्वार्थ की प्रवृति बढ़ती रहती है और वह छल, कपट, बेईमानी झूठ व अन्य किसी प्रकार के भी अनुचित व भ्रष्ट उपायों

को अपनाने में संकोच नहीं करता। उसकी बुद्धि का विकास इस प्रकार से होता है कि वह इन अप्रवृत्तियों को बुरा भी नहीं मानता। आजकल तो अनेकों व्यक्ति इन्हें आवश्यक समझने लघे हैं। इससे सात्विक बुद्धि का ह्रास होता है और चरित्र का पतन होता है। ऐसा व्यक्ति भले ही कुछ भौतिक साधनों को एकत्रित कर ले परन्तु वह अपनी मानसिक सुख शान्ति को खो बैठता है। मानसिक सन्तोष तो विचारों और भावों की पवित्रता और शुद्धि से ही प्राप्त होता है। गीता की एक महान विशेषता भावों की सशुद्धि के अद्वितीय मौलिक महत्व का मूल्यांकन है।

"भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६)

विचारों की पवित्रता की स्थिरतता के लिए किरन्तर आत्म-परीक्षण की आवश्कता रहती है। प्रबन्ध प्रकाश (भाग, पृष्ठ ५९) में कहा है—

"आत्म-परीक्षणं हि नाम मनुष्यस्य प्रथम समुन्नतेर्मू लम्"

"आत्म-परीक्षण ही व्यक्ति की सच्ची प्रगति का मूल है।"

आत्म परीक्षण एक साधना है जिसमें अपने मानसिक रोगों, कुण्ठाओं, प्रवृत्तियों व बुराइयों का मूल्याकन किया जाता है और अपनी अपवित्रता व अशुद्ध को अनुभव करते हुये उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। मानव सच्चा विकास उनके चरित्र गठन पर निर्भर करता है जो विचारों की पवित्रता से विकसित होता है। इसीलिये वेदों ने विचार शुद्धि पर काफी बल दिया है ताकि यदि व्यक्ति-के पास पर्याप्त भौतिक साथन उपलब्ध हों या न हों फिर भी वह आशाप्रद, सन्तुष्ट व सुखी जीवन व्यतीत कर सके क्योंकि मानसिक सुख शान्ति धन प्राप्ति पर नहीं, विचारों व भावों पर निर्भर करती है।

ऋग्वेद (१।९७।१—८) में पापों को भस्म करने की प्रार्थना की गई है—

"हमारे पाप भस्म हों। हे अग्ने ! हमारे चारों ओर धन को

प्रकाशित करो। हमारे पाप नष्ट हों। हम सुन्दर क्षेत्र, सुन्दर मार्ग और श्रेष्ठ धन की इच्छा से यज्ञ करते हैं हमारा पाप भस्म हो। सबसे अधिक स्तुति करने वालों में मैं अग्रणी होऊँ। हमारे स्तोता अग्रणी हों, हमारा पाप भस्म हो। हे अग्ने ! तुम्हारे स्तोता हम सन्तान वाले हों। हमारा पाप भस्म हो। अग्नि की शत्रु-विजयी प्रबल ज्वालायें सब ओर बढ़ती है। हमारा पाप भस्म हो। हे सर्वतोप्रमुख अग्ने ! तुम सर्वत्र फैलने वाले हो। हमारा पाप जल कर नष्ट हो। हे अग्ने ! तुम हमको, नौका के समान शत्रुओं से पार लगाओं। हमारा पाप भस्म हो। हे अग्ने ! समुन्द्र से पार ले जाने के समान, हिंसकों से हमको पार ले जाओ। हमारा पाप जल जावे।',

अथर्ववेद (६।१६।१—३) मे देवताओं से पवित्र करने की प्रार्थना की गई है —

"देवजन मुझे पवित्र करें। मनुष्य मुझे कर्म और बुद्धि से पवित्र करें। सब प्राणी, अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले वायु और दश पवित्र में शुद्ध होता हुआ सोम वह सब मुझे पवित्र बनावें ॥१॥ शुद्ध किया जाता। सोम कर्म के निमित्त, बल प्राप्त के निमित्त तथा अहिंसा के निमित्त मुझे पवित्र करें ॥२॥ हे सवितादेव ! तुम सबको प्रेरणा देने वाले हो तुम्हारा तेज और प्रेरणा यह पवित्र करने के साधक हैं, इनके द्वारा हमको इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने के निमित्त पवित्र कीजिये" ॥३॥

विचार शुद्धि की प्रार्थना अथर्ववेद (६।११५।१—३) में भी की गई है—

हे विश्वेदेवो ! तुम हमसे स्नेह करते हो। हमने जाने या अनजाने जिन पापो को किया है, उन पापों से हमको बचाओ ॥१॥ मैं जागते या सोते जिन पापों को प्रिय मानता हुआ कर चुका हूँ, उससे मुझे वर्तमान में और भविष्य में भी काठ के पद बन्धन से छुड़ाने के समान मुक्त कर दो ॥२॥ जैसे काठ के पद बन्धन से छूटने पर या पसीने से

भीगने पर मनुष्य स्नान करके बाहरी मैल से शुद्ध होता है, वैसे ही मैं शुद्ध होऊँ जैसे पवित्रे और छलनी आदि साधनों से घृत शुद्ध होता है, वैसे ही देवगण मुझे शुद्ध करें ॥३॥

अथर्ववेद (४।२३) के सात मंत्रों से अग्नि देवता से प्रार्थना की गई है कि वह पापों से हमारी रक्षा करें। अगले सूत्र के सात मन्त्रों में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह पापों से बचावें। २५वे सूक्त के सभी मंत्रों में वायु व सूर्य से निवेदन किया गया है कि वह हमारे पापों को हमसे प्रथक करें। अगले कई सूक्तों में अन्य देवताओं से यही प्रार्थनायें की गई हैं।

यजुर्वेद में अनेक स्थानों पर पवित्रता की प्रार्थना इस प्रकार की गई हैं—

"हे अग्ने! मेरे पाप को सब ओर से दूर करो। मैं कभी पाप में प्रवृत्त न होऊँ। देवताओं के अग्रगामी पुरुष मुझे पवित्र करें। मन से सुसङ्गत बुद्धि मुझे पवित्र करें। हे अग्ने! तुम भी मुझे पवित्र करो। हे अग्ने! तुम तेजस्वी हो, अपने पवित्र तेज के द्वारा मुझे पवित्र करो। हमारे यज्ञ को देखते हुई अपने कर्म के द्वारा पवित्र करो। हे अग्ने! तुम्हारी ज्वाला में जो ब्रह्मरूप पवित्र तेज विस्तृत है, उसके द्वारा मुझे पवित्र कर।"

"जो देवता कर्माकर्म के ज्ञाता, सर्वज्ञ एवं पवित्र हैं, वह वायु रूप देवता हमको पवित्र करने में समर्थ हैं। वह मुझे आज अपने प्रभाव से पवित्र करें। हे सर्वप्रेरक सवितादेव! तुम दोनों प्रकार से पवित्र पवित्रे द्वारा और अनुज्ञापूर्वक मुझे सब ओर से पवित्र करो।"

"हे सर्वप्रेरक सवितादेव! हमारे समस्त पापों को दूर करो। हमारे प्रति कल्याण को प्रेरित करो।"

अतः मन्त्र साधक को जानना चाहिए कि विचार उसकी महान सम्पत्ति है। जिस तरह भौतिक धन की सुरक्षा के लिए अनेकों प्रयत्न किये जाते हैं, उसी तरह इस वैचारिक सम्पत्ति की सुरक्षा के साधन

भी जुटाते रहना चाहिए। आसुरी शक्तियों के विघ्नों से सदैव सावधान रहे। ऐसे पवित्र वातावरण में रहे जहाँ आसुरी आक्रमणों की आशंका न हो। सम्पर्क क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति न हों। जो दूषित वातावरण की ओर धकेलने में सहायक हों। अश्लील चलचित्रों के देखने और गन्दे उपन्यासों को पढ़ने से काम वासना इद्दीप्त होती है जिससे शारीरिक व मानसिक शक्तियों का क्षय होता है। अतः इससे बचना चाहिए और धार्मिक ग्रन्थों के नियमित स्वाध्याय का नियम बताना चाहिए ताकि कुमार्गगामी प्रवृत्तियों के सरक्षण प्राप्त होता रहे। कुप्रवृत्तियों से शक्ति का क्षय होता है जो मन्त्र साधक के प्रतिकूल ही पड़ता है।

मन की शुद्धि

शुद्ध मन शक्तियों का भण्डार हैं। मलिन मन निर्बलता का चिन्ह। शुद्ध मन ही मोक्ष का दूसरा नाम है। पही ब्रह्मज्ञान है। यही अमृत है। यही आनन्द का स्रोत है। जिसका मन निर्मल हो गया है। जो दुःखों और चिन्ताओं के दर्शन कभी नहीं होते। अतएव जिन्हें इनसे छुटकारा पाना हो, वह मन को शुद्ध करे। योग वशिष्ठ में कहा है— "जिसका मन परम पावन और निर्बल पद में दृढ़ विश्रांत और स्थित हुआ है, उसका नाश मृत्यु भी नहीं करती। जिसका मन शुद्ध होता है, उसका सत्य संकल्प होता है और वह जैसा संकल्प करता है, वैसा ही होता है""शुद्ध अन्तःकरण में जैसा निश्चय होता है, वैसा ही तत्काल आगे सिद्ध होता है और मलिन अन्तःकरण का निश्चय सिद्ध नहीं होता।"

मौलाना रूमी "हे मनुष्य तू जानता है कि तेरा दर्पण रूपी मन क्यों साफ नहीं है ? देख इसलिए साफ नहीं कि उसके मुख पर जंग सा मैल लगा हुआ है। मन को शुद्ध करो और आत्मा का साक्षात्कार करो।" श्री रामकृष्ण परमहंस 'मैले शीशे में सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब नही पड़ता। उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण मलिन और अपवित्र है, तथा जो माया के वश में हैं। उनके हृदय में ईश्वर के

प्रकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। जिस प्रकार साफ शीशे में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार स्वच्छ हृदय में ईश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिए पवित्र बनो—जहाँ मन की शुद्धि हुई तो फिर उस पवित्र आसन पर भगवान अवश्य ही आ बैठेगा। परन्तु यदि उसमें गन्दगी बनी रही यो माधव वहाँ कदापि न आएगा।"

"जे शुद्ध मन नर होय रे, वे ईश दर्शन पाए हैं।
मन के मलिन नहिं स्वप्न में भी, ईश सम्मुख जाए हैं॥"

(स्वामी श्री भोलेबाबाजी)

कठोपनिषद में यम नचिकेता से कहते हैं "शुद्ध मन से ही परमात्म तत्व प्राप्त किए जाने योग्य हैं । १ । ११.......जैसे दर्पण में सामने आई हुई वस्तु दीखती है, वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म के दर्शन होते हैं (२ । ३ ५)।" मुण्डकोपनिषद् ३ । ७ । ८ । "वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से अथवा कर्मों से भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस अवयव रहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देख पाता है।...३ । २ । ५ सर्वथा आसक्ति और विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषि लोग इस परमात्मा को पूर्णतगा प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं।....३ । २ । ६ जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वह समस्त प्रयत्नशील साधकगण मरण काल में (शरीर त्यागकर) ब्रह्म लोक में जाते हैं और वहाँ परम अमृत स्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।"

श्वेताश्चतरोपनिषद् (३ । १३) निर्मल हृदय और विशुद्ध मन से ध्यान में लाया हुआ प्रत्यक्ष होता है...४ । २० इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता इस परमात्मा का कोई भी आँखों से नहीं देख सकता। जो साधकजन इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी पर-

मेश्वर को भक्ति युक्त हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं, वह अमृत स्वरूप हो जाते हैं।"

जगद्गुरु शंकराचार्य—'अपना विशुद्ध मन ही परम तीर्थ है।.... जिसका मन पवित्र है, वही पवित्र है।" महात्मा ईसा मसीह 'जिनका अन्तःकरण शुद्ध हैं, वह धन्य है क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हीं को होगा।" स्कन्द पुराण (१० । ४८) 'केवल जल से शरीर का पवित्र कर लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसका मन भली भाँति शुद्ध है, उसने वास्तव में तीर्थ स्नान किया।....(६ । ३४) तीर्थों में भी सबसे बड़ा तीर्थ है। अन्तःकरण की आत्यन्तिक शुद्धि।'

"नहाये धोये क्या हुआ, जो मन में मैल समाय।
मीन सदा जल में रहे, धोये बास न जाय।।" -कबीर

पद्म पुराण भूमि खंड (६६) 'जिसका अन्त.करण शुद्ध हो गया है, वह स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करता है....तुम यत्नपूर्वक अपने मन को शुद्ध करो, दूसरी वाह्य शुद्धियाँ से क्या लेना है। जो भाव से पवित्र है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है,वही स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करता है।'

उपरोक्त वचनों से सिद्ध हैं कि स्वर्ग, मोक्ष और ईश्वर दर्शन की प्राप्ति मन की शुद्धि से ही होती है। अतः यह निश्चित है कि मन की शुद्धि हुए बिना मन्त्र सिद्धि प्राप्त करता भी संभव नहीं हैं।

आहार शुद्धि

मन की शुद्धि में आहार शुद्धि का विशेष हाथ रहता है।

आहार शुद्धि मानसिक वृत्तियों कों सुसंस्कारित करने की भारतीय वैज्ञानिक व्यवस्था है। सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी जैसा भी मनो-आहार किया जाता है, वैसे ही मन का निर्माण होता है। सात्विक वृत्तियों के विकास के लिए सात्विक आहार की ओर ध्यान देना आवश्यक है। तामसिक आहार का सेवन करते हुए मन्त्र साधना द्वारा आत्म विकास की ओर बढ़ना सम्भव न होगा क्योंकि आहार शुद्धि भी एक साधना है।

यदि आहार साधना और मन्त्र साधना में अनुकूलता न रही तो इच्छित फल की प्राप्ति में विलम्ब होना स्वाभाविक है ।

भारतीय ऋषियों ने अन्न के स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के तत्वों पर खोजें और विश्लेषण किये थे । छान्दोग्योपनिषद् (६ । ६) का वचन है "अन्न ही बल से बढ़कर है । यदि कोई दस दिन तक भोजन न करे तो वह जीवित रहने पर भी दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान, अनुभव कर सकने में असमर्थ रहता है । फिर जब उसे अन्न मिलने लगे तो दर्शन करने वाला, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान, अनुभव करने वाला हो जाता है ।" अन्न में शक्ति है । प्राण की शक्ति अन्न पर ही निर्भर हैं । मनुष्य अन्न के विना जीवित नहीं रह सकता । प्राणों की स्थिरता के लिये यह आवश्यक खाद्य हैं । इसीलिये इसे देवता की संज्ञा दी गई । इसे उपनिषदों ने प्रजापति और ब्रह्म कहा और ब्रह्म प्राप्ति के लिए इसकी उपासना के लिये प्रेरित किया ।

स्वास्थ्य की स्थिरता, प्राण व निरोगता की प्राप्ति के लिए पश्चिमी वैज्ञानिकों ने अपने स्थूल यन्त्रों की सहायता से विभिन्न प्रकार के अन्नों पर पर्याप्त खोजें की हैं और आधुनिक विज्ञान का भाषा में उनमें कैलशियम, प्रोटीन और अनेकों प्रकार के विटामिनों की विद्यमानता की घोषणा की । वह रोगी शरीरों का भीं इसी ढङ्ग से निरीक्षण करते हैं और इन तत्वों के अभाव की पूर्ति के लिये ही अपनी राय देते हैं । वैज्ञानिकों के स्थूल यन्त्रों में इतनी सामर्थ्य नहीं हैं कि वह इनके सूक्ष्म गुणों का भी निरीक्षण कर सकें । वह इसकी आवश्यकता भी अनुभव नहीं करते क्योंकि भौतिकवादी प्रकृति के अनुयायी होने के नाते वह अन्न के स्थूल गुणों से ही लाभ उठाना चाहते है । अतः अन्न के सम्बन्ध में उनकी खोजें सीमित है । अन्न के स्वभाव से वह सर्वथा अनिभिज्ञ है । इसीलिये उनके शरीर हृष्ट-पुष्ट होते हुये भी स्वभाव में राजसी व तामसी वृत्तियों का बाहुल्य होतां है ।

भारतीय वैज्ञानिकों ने न केवल अन्न के स्थूल तत्वों का निरीक्षण

किया और इनके विभिन्न प्रकार के गुणों का प्रतिपादन किया वरन् इनके सूक्ष्म गुणों और स्वभावों का भी स्पष्टीकरण किया कि अमुक वस्तु खाने से भले ही शरीर पुष्ट होता हो पर उससे राजसी व कामुक वृत्तियाँ उत्तेजित हो उठती हैं, इसलिए स्थूल शरीर, के लिये उपयोगी होते हुए भी उन्हें वर्जित घोषित किया गया। आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार जो कुछ भी हम खाते हैं, उससे रस, रक्त, माँस, मज्जा, अस्थि, मेद, वीर्य, यह सात्न स्थूल धातुयें बनती है। भारतीय ऋषियों ने खोज की थी कि यह प्रक्रिया यहीं तक सीमित नहीं हो जाती वरन् इसकी गति चेतना क्षेत्र तक जाती हैं। वीर्य आदि स्थूल धातुओं के निर्माण के पश्चात् ओज नामक सूक्ष्म तत्व बनना आरम्भ होता है। ओज के बाद मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार अन्तःकरण चतुष्टय बनता है। इस प्रकार से स्थूल शरीर की उन्नति अवनति ही नहीं—सूक्ष्म शरीर की—अर्न्तजगत की स्थिति भी अन्न पर ही निर्भर रहती है। जैसा हम अन्न खाते हैं, वैसा मन बनता है। अभक्ष ग्रहण करने वालों का मन क्षेत्र कभी भी उच्च नहीं हो सकता। जो अन्न हम ग्रहण करते है, यदि उसमें निम्नकोटि के संस्कार प्रविष्ट हैं तो हमारा मन की निकृष्ट श्रेणीं का बनेगा। उससे उत्कृष्ट चेतना के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। भारतीय ऋषियों ने इसी आधार पर खोजें की थी। उनकी खोजों का एक प्रमाण छान्दोग्योपनिषद् (६ । ५) में उपलब्ध होता है। उन्होंने हर खाद्य वस्तु का तीन प्रकार से निरीक्षण किया था। जो अन्न-भक्षण किया जाता है, वह तीन प्रकार से बंट जाता है। जो स्थूलतम अंश है, वह विष्टा बन जाता है, जो मध्यम अंश हैं, वह रसादि होकर माँस बन जाता है और जो अति सूक्ष्म है, वह मन बनता है। जो जल पिया जाता है, वह तीन प्रकार से विभाजित होता है। उसका अत्यन्त स्थूल अंश मूत्र बनता है। मध्यम रक्त बनता है और अत्यन्त सूक्ष्म प्राण बन जाता हैं। जो तेज (तेल, घी आदि) भक्षण किया जाता हैं, वह भी तीन प्रकार से विभाजित हो जाता है। उसका स्थूल-

तम भाग हड्डी बनता है, मध्यम भाग मज्जा बनता है अत्यन्त सूक्ष्म अंश वाणी बन जाता है।''

इससे स्पष्ट है कि जो अभेद दृष्टि भारतीय ऋषियों को प्राप्त थी, पाश्चात्य वैज्ञानिकों को आज तक भी कुछ ज्ञान नहीं है। उनकी अंधेरे में टटोलने की सी स्थिति है। इस तथ्य को वह भी स्वीकार करते हैं कि मन शरीर से हजारों गुणा अधिक शक्तिशाली हैं, शरीर मन के आदेश पर अपनी समस्त गतिविधियों का निर्धारण करता है। शरीर उस अंधे व्यक्ति की तरह है जो अपने मार्गदर्शक के निर्देशन पर चलता है चाहे सामने खाई हो या सीधी सड़क। शरीर को अपने हानि-लाभ का कुछ भी होश नहीं है। शरीर की बागडोर मन के हाथों में है। जिधर वह मोड़ता है उधर ही बिना सोचे समझे चल देता है। जब मन का सहयोग बन्द हो जाता है, तो शरीर की गतिविधियाँ भी अस्त व्यस्त हो जाती हैं। उसे कुछ नहीं सूझता कि वह क्या करे। इस दैन्य दशा वाले शरीर की पुष्टि के लिए पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपनी एड़ी चोटी का जोर लगाकर अन्न के स्थूल गुणों का विश्लेषण किया है। उनकी खोजें इस असमर्थ शरीर को समर्थ कभी नहीं बना सकती जब तक उससे सूक्ष्म गुणों का निरीक्षण करके आहार का विधिविधान नहीं बनाया जाता।

भारतीय वैज्ञानिकों ने शरीर की अपेक्षा मन को उच्च स्थान प्रदान किया। उन्होंने प्रेरणा दी कि उसी को स्वच्छ पवित्र और सुन्दर बनाने के प्रयत्न किए जायें। साथ ही शरीर की उपेक्षा भी नहीं की गई। उन्होंने खोज की थी कि स्थूल शरीर की तुष्टि-पुष्टि मन पर ही निर्भर करती है। मन स्वस्थ हो तो शरीर भी स्वस्थ रहेगा। मन निर्बल, अस्वस्थ है, तो शरीर की भी ऐसी ही स्थिति हो जायगी। मन में यदि सन्तोष, प्रेम, दया, सहानुभूति, परामर्श, सेवा, अलोभ, निःस्वार्थता, समता, अलिप्तता, त्याग, साहस आदि की उच्चकोटि की विचार धारायें प्रवाहित हो रही हैं तो ऐसे व्यक्ति को चिन्ता और दुःख नाम

की किसी साँसारिक वस्तु से भेंट नहीं होती, आशा और उत्साह की वह प्रतिमूर्ति होता है। शरीर को निरन्तर क्षीण कराने वाले शत्रु हैं—चिन्ता, दुःख, निराशा। इसके अभाव में रूखी-सूखी रोटी से भी शरीर स्वस्थ रहता है (इसके विपरीत यदि शरीर देवता को घी, दूध, मक्खन, मलाई, फल आदि तरह-तरह के विटामिन युक्त आहार ग्रहण कराए जायें और मन में आशंका, निराशा और भावी चिन्ताओं के तूफान उठ रहे हों तो शरीर पौष्टिक तत्वों को ग्रहण करके भी क्षीणता का मार्ग ही अपनायेगा। कामवासना मूल्यवान धातुओं को नष्ट करती है। क्रोध से नसे जलती हैं, लोभ से चिन्ता और भय के बादल हर समय मंडराते हैं, मोह से प्रियजनों की मृत्यु, रोग आदि का भय बना रहता है। ईर्ष्या द्वेष से शरीर जलता है, चोरीं, बेईमानी और रिश्वत आदि से भी भय बना रहता है। यह सब मन के रोग हैं। रोगी मन से शरीर भी रोगी हो जाता है। होम्योपैथिक चिकित्सा पद्धति के जन्मदाता महात्मा हैनीमैन ने अपनी पुस्तक "आर्गनन आफ मेडीसन" में लिखा है कि मन में बुरे विचारों के आगमन से रोगों की उत्पत्ति होती हैं और उनको दूर करने पर निरोगता प्राप्त होती है। यही कारण है कि भारतीय मनोविज्ञान के आचार्यों ने मानसिक स्वास्थ्य को प्राथमिकता दी और हर खाद्य वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव का गहन अध्ययन करके, मन के लिए उपयोगी वस्तुओं को ही ग्रहण करने का विधान बना था। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भारतीय आचार्य कितने बढ़े हुए थे, इसका यह उज्ज्वल प्रमाण है।

इसलिए भारतीय आचार्यों ने ऐसी वस्तुयें ग्रहण करने का आदेश दिया है जिससे शरीर के साथ-साथ मन भी पुष्ट होता हो। जिस अन्न के खाने से मानसिक वृत्तियों में तनाव उत्पन्न होता है, उनका निषेध किया गया है। आहार से मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये आहार शुद्धि भारतीय धर्म का एक आवश्यक अङ्ग माना गया है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् के ऋषि ने कहा "आहार में अभक्ष त्याग देने से चित्त शुद्ध हो

जाता है । जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता जाता है और अज्ञान की ग्रन्थियाँ टूटती जाती हैं ।" छान्दोग्योपनिषद् (८।२६) में भी आहार शुद्धि के एक अकाट्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है 'आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि से निश्चय स्मृति प्राप्त होती है, स्मृति प्राप्त हो जाने पर सब ग्रन्थियों (अविद्या जन्य भावों) का नाश हो जाता है ।' इसीलिए प्राचीन काल में आहार की अत्यन्त पवित्रता के लिए उच्चकोटि के साधन अन्न को स्वयम् उपजाते थे, कण-कण बीनकर अपनी क्षुधा बुझाते थे परन्तु पराया अन्न ग्रहण करना वह स्वीकार नहीं करते थे । जनक राजा होते हुए भी अपने लिये स्वयं खेत जोत-बोकर अन्न प्राप्त करते थे । यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली औषधियों के लिये उनके बोने, उसने सींचने, काटने एव शोधने के विशेष विधि-विधान बनाये गये थे ताकि वह संस्कारवान द्रव्य पदार्थ अपनी क्रिया-शक्ति से जनमानस में कल्याण करके प्रभाव उत्पन्न कर सकें ओर उस रहस्यमय आध्यात्मिक विशेषता से देवताओं को भी प्रसन्न एवं आकर्षित कर सकें । ऋषि आहार-शुद्धि का विशेष ध्यान रखने थे । कणाद खेतों में काटते समय गिरे हुए कण बीनकर उस अन्न से अपना जीवन यापन करते थे । पिप्पलाद पीपल के फल खाकर ही निर्वाह कर लेते थे । महर्षि दुर्वासा केवल हरी-हरी दूब घास ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते थे । ऐसे सात्विक आहार को पाकर ही वह ऋषित्व को प्राप्त किया करते थे ।

आत्मकल्याण के पथ के पथिक को यह देखना होता है कि उसका आहार राजसिक व तामसिक न हो अन्यथा वह मन में ऐसी ही वृत्तियाँ उत्पन्न कर देगा । इसलिए मद्य-माँस, प्याज, लहसन, मसाले, चटपटे, उत्तेजक, नशीले, गरिष्ठ, बासी, बुसे, तमोगुणी प्रकृति के पदार्थ वर्जित माने गए हैं । दुष्ट, दुराचारी-दुर्भावनायुक्त या हीन मनोवृत्ति के व्यक्तियों का अन्न भी ग्राह्य नहीं माना गया है क्योंकि उस पर अनिष्टकर सस्कार जमे होते हैं और खाने वाले पर वैसा ही प्रभाव डालते हैं । अनीति

और पाप की कमाई खाने वाले व्यक्ति की वृत्तियाँ भीं क्षुद्र और तमोगुणी हो जाती है। अतः अथर्ववेद (९।६ । २५) ने उस व्यक्ति को पुण्यात्मा घोषित किया जिसका अन्न दूसरे खाते हैं।" प्राचीन काल में प्रथा थी कि दुष्ट और दुराचारी व्यक्ति के घर का अन्न कोई भी नहीं खाता था। कालान्तर में उन्हीं दुराचारियों को ही शूद्र कहने लगे। उनका एक अलग वर्ण ही बन गया और वह अलग रहने लगे। अन्य वर्ण वाले इन से घृणा करने लगे, उनके हाथ का छुआ व बना भोजन ग्रहण करने से परहेज करने लगे। इस घृणा वृत्ति का आधार उनकी सामाजिक व आर्थिक हीनता नहीं थी वरन् उनकी दुष्टता थी ताकि उनकी दुष्टता के सक्रामक कीटाणु उन तक पहुँच कर उन्हें भी दूषित न कर दें। अन्न के अनिष्टकर प्रभाव से बचने के लिए ही यह विधान बनाया गया था।

वेद भगवान ने बार-बार ऐसी चेतावनियाँ दी हैं—'पाप की कमाई जन्म-जन्म तक दुःख रूपी नरक में पड़े रहने की तैयारी है' अथर्ववेद (६।११७।१) : 'पुण्य से कमाया हुआ धन ही सुख देता है। जो पाप युक्त धन है, उसको मैं नाश करने वाला बनूं।' अथर्ववेद (७।११५।४) 'पाप की कमाई छोड़ दो, पसीने की कमाई से ही मनुष्य सुखी बनता है' (अथर्ववेद ७।११५।१)। मनुस्मृति (५।१२०) में भी कहा है—मिट्टी या जल की शुद्धि, शुद्धि नहीं हैं, सब शुद्धियों में धन की पवित्रता ही श्रेष्ठ हैं। इतिहास साक्षी है कि अशुद्ध आहार ने उच्च और विकसित आत्माओं के मन में भी विकार उत्पन्न किये। भीष्म पितामह उच्चकोटि के साधक, ज्ञानी व नीति विशारद थे परन्तु द्रोपदी की लाज लुटते देख कर भी वह दुर्योधन के विरुद्ध एक शब्द कहने का साहस न कर सके।

अतः यह निश्चित सिद्धान्त निर्धारित किया गया कि मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसाही उसका मन बनता है। सात्विक अन्न खाने से सात्विक व राजसिक, तामसिक अन्न ग्रहण करने से राजसिकव तामसिक मनोभूमि तैयार होती है। इसलिए बिधान बनाया गया कि जो साधक अपने

जीवन का निर्माण करना चाहते हैं, उन्हें सात्विक प्रकृति का व शुद्ध कर्मादि का अन्न ही खाना चाहिए क्योंकि दुःख सुख और बन्धन मुक्ति का यही कारण है, अस्वस्थ मन में ही चिन्ता, निराशा, दुःख, कलह, क्लेश, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि की दुर्भावनायें उपज सकती हैं। स्वस्थ मन इन वृत्तियों के लिए बन्जर भूमि सिद्ध होता है और इनके लिए आहार की आन्तरिक पवित्रता आवश्यक है।

शिव पार्वती सम्वाद में एक स्थान पर शिव ने कहा है—"जिनकी जिह्वा परान्न से जल गई है, जिनके हाथ प्रतिग्रह से जले हुए हैं और जिनका मन परस्त्री के चिन्तन से जलता रहता है, उन्हें भला मंत्र सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है।"

अतः मन्त्र साधना में सफलता प्राप्ति के लिए आहार शुद्धि को साधना का एक आवश्यक अंग माना जाना चाहिए। यदि उसकी उपेक्षा की गई तो इसे साधना में एक व्यवधान समझना चाहिये।

संयम

मन की शुद्धि के जितने साधन शास्त्रों में वर्णित किए गए है, उनमें संयम को उच्च स्थान प्राप्त है। बिना संयम मन की शुद्धि सर्वथा असम्भव है।

इन्द्रिय निग्रह को ही संयम कहते हैं। संयम का अभिप्राय है—शक्तियों के अपव्यय को रोकना, हमारे शरीर व मन में ईश्वर प्रदत्त अपार शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यदि इनका उचित रीति से उपयोग किया जा सके तो हर व्यक्ति महानतम कार्यों का सम्पादन कर सकता है। शक्ति नाश का मार्ग है—यह इन्द्रियाँ। यदि इनका असंयम बरता गया तो अपनी सारी सामर्थ्य की बरबादी हो जाएगी और शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक हर दृष्टि से व्यक्ति दिवालिया हो जायेगा। ऐसा व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो सयम का पालन करता है, वह अपनी शक्तियों का संचय करता है। इस संचय से वह अपनी शक्तियों

के अकूत भण्डार को सुरक्षित रखता है और किसी भी अभीष्ठ दिशा में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकता है।

श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक् हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। यह दस इन्द्रियाँ मनुष्य के उपयोग के लिए बनी हैं। यह मानव शरीर के आवश्यक अङ्ग है। इनमें से किसी की भी कमी हो जाए या उनमें रोग उत्पन्न हो जाए, तो शरीर के स्वाभाविक कार्यों में बाधा उपस्थित होती है। उनका उचित उपयोग किया जाए तो मानव को मित्र सिद्ध होती है परन्तु यदि उन्हें स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और वह अपने-अपने विषयों में विचरती रहें तो वह स्वामी की शत्रु बनकर उसका नाश कर देती हैं। इसीलिए अध्यात्म शास्त्र का आदेश है कि कल्याण की इच्छा वाले साधक को इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

शास्त्रों का आदेश है कि हम हाथों से किसी को कष्ट न दें। चोरी आदि कोई बुरा कार्य न करें, सतों व गुरुजनों की सेवा करें; पैर सत्सङ्ग और देव मन्दिर की ओर अग्रसर हों, सेवा कार्यों में प्रवृत हों। वाणी से मधुर शब्द ही बोलें, ऐसे वाक्य न कहें जिसमे किसी को बुरा लगे। सत्शास्त्रों और उपदेशों का ही श्रवण करें, भगवान के विग्रह और साधु सन्तों के ही दर्शन करें। स्वाद के लिये नहीं, शरीर धारण करने के लिये विवेकपूर्वक खायें।

आज वातावरण बहुत दूषित हो चुका है। उपन्यास, पत्रिकायें, फिल्में काम-वासना को भड़काने का आसुरी काम कर रही हैं। नेत्र स्त्री में पवित्र रूप को नहीं कामी रूप को ही देखते हैं, इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निरीक्षण करते हैं। भजन, कथा, कीर्तन सुनना तो पिछले युग की बात हो गई है, सिनेमा के गाने ही तथा कथित सभ्य युग की देन है। बीड़ी, सिररेट, मास, शराब आदि तामसिक पदार्थों का सेवन आधुनिक सभ्यता के मुख्य अङ्ग बन गए है। यह आहार तामसिक गुणों को उत्तेजित करते है। आहार को कामवासना से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

श्री विजयकृष्ण गोस्वामी का मत है कि शरीर में प्रधान यन्त्र है—जीभ ! जीभ वश में हो जाने से सब कुछ वश में हो जाता है। गांधी जी का कहना है—"ब्रह्मचर्य के साथ अस्वाद व्रत का बहुत निकट का सम्बन्ध है। मेरे अनुभव के अनुसार इस व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय संयम बिल्कुल सहज हो जाता है। इन इन्द्रियों को काबू में रखना ही शक्ति और सिद्धि का साधन हैं।

हमारे शास्त्रों ने इन्द्रिय निग्रह को इसी उद्देश्य से प्रेरित किया है। गीता (४।३९) में कहा है, "जब श्रद्धावान मनुष्य इन्द्रिय निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रतत्न करने लगता है, तब उसे ब्रह्मात्मैक्य रूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है।" बुद्धि की स्थिरता के लिए इन्द्रियों को विषयों से खींचना आवश्यक बताया गया है (२।५८) और कछुये का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस तरह वह अपने साथ पैर आदि अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी तरह इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेना चाहिये। गीता (२।६०।६१) में इन्द्रियों को बलात्कार से मनमानी और साधक को खींच ले जाने वाली शक्ति कहा गया है जो उसके प्रवाह में बह जाता है, उसका आत्मिक पतन होता हैं और जो उन्हें अपनी इच्छानुसार चलाता है, उसका उत्थान होता है। गीता (३।६।७) में इन्द्रियों के प्रति कड़ा रुख अपनाने को अहित कर बताया है और जो हाथ पैरादि पर रोक लगाकर मनमें विषयों का चिन्तन करता है, उसे दाम्भिक कहा है। भगवान ने परामर्श दिया है कि उसकी योग्यता विशेष है जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग का आरम्भ करता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए वशिष्ठ ने इन्द्रिय निग्रह को मानस तीर्थ कहा हैं। जो इसमें स्नान करता है, वह पवित्र हो जाता है। महाभारत (उद्योग-पर्व) में स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों को काबू में रखना ही

ज्ञान है और वही मार्ग है जिससे कि बुद्धिमान लोग उस परम पद की ओर बढ़ते हैं। कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्री हृषीकेश भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता। सन्त तुकाराम ने भी इस सिद्धान्त को पुष्टि करते हुए व्यंग से कहा है "ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठरी नहीं धरी हैं कि वह किसी के हाथ में दें। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।"

आत्मिक उत्थान के रथ पर बढ़ने वाले साधक के लिए जनक ने अच्छा मार्ग प्रदर्शन किया है। महाभारत (जनक-ब्राह्मण सवाद) में अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है "जिस वैराग्य बुद्धि को मन में धारण कर मैं विषयों का सेवन करता हूं, उसका हाल सुनो! नाक से मैं अपने लिए वास नहीं लेता, आँखों से मैं अपने लिए नहीं देखता इत्यादि और मन का उपयोग भी मैं आत्मा के लिए करता हूँ, अपने लाभ के लिए नहीं। अतः मेरी नाक, आँख इत्यादि और मन मेरे वश में हैं अर्थात् मैंने उन्हें जीत लिया है।" जनक का व्यावहारिक अनुकरण करते ही साधक कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

संयम से शक्ति संचय के सिद्धान्त को आधार मानकर ही शास्त्रों ने इसे स्वर्ग व मोक्ष प्राप्ति और ईश्वर की प्रसन्नता का साधन बताया है और तीर्थों को परम तीर्थ माना है यथा—

महाभारत में कहा है कि जितेन्द्रिय जहाँ कहीं भी निवास करे, उनका वही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर है........। सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह दया, सरलता—यह सब तीर्थ हैं अर्थात् संसार सागर से पार करने वाले हैं........। निर्मल चित्त, निष्काम कर्म करने वाला मित-भोजी, जितेन्द्रिय, सब पापों से बचा हुआ, ऐसा पुरुष तीर्थ स्थान के फल को प्राप्त होता है। महाभारत में ही अन्य स्थान पर कहा है—"परमात्मा केवल शास्त्र ज्ञान, तपस्या व यज्ञ से नहीं मिल सकते, हाँ इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों को अनुचित विषयों में न जाने देना) से मिल सकते हैं।"

एक और स्थान पर कहा है जो पुरुष परस्त्रियों के विषय में अपने नेत्रों को सदा बन्द कर लेते हैं, इन्द्रिय निग्रह करते हैं तथा भक्ति परायण हैं, वह स्वर्ग को जाते हैं।

भागवत (४।३१) के अनुसार सम्पूर्ण प्राणियों पर दया, अनायास से मिले पदार्थ से प्रसन्न रहने से, इन्द्रिय निग्रह से भगवान शीघ्र प्रसन्न होते हैं। स्कन्द पुराण में महर्षि अगस्त्य का कथन है कि जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप, कीर्ति सभी संयम में हैं, यह तीर्थ के लिए पूर्ण फल का भागी होता है। पद्म पुराण (भूमि खण्ड) में कहा है—"धनवान, रूपवान, युवावस्था वाले होते हुए भी जो पुरुष इन्द्रियजीत हैं, वह स्वर्ग को जाते हैं।" नारद पुराण (अध्याय ३३) के अनुसार जो महात्मा जितेन्द्रिय हैं, चाहे वे ध्यान से शून्य हैं, वह परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वहाँ से फिर आना नहीं होता। मनुस्मृति (६।६०) में उपदेश है कि इन्द्रियें को जीतने से मनुष्य मोक्ष के योग्य होता है। महाभारत के अनुसार दम (इन्द्रिय निग्रह), दान और अप्रमाद कर्तव्य कर्म में सावधान) यह तीन परमात्मा के घोड़े हैं—अर्थात् ब्रह्मलोक को पहुँचाने के साधन हैं। उद्योग पर्व में कहा है—"दम, दान-अप्रमाद इनमें अमृत भरा है अर्थात् यह तीन मुक्ति के आधार हैं। विवेकी ब्राह्मण इनको सत्य का मुख कहते हैं।"

मन्त्र साधना का उद्देश्य अपनी सुप्त शक्तियों को जाग्रत करके अभीष्ट कार्यों की पूर्ति करना है। शक्ति विकास के पथ पर चलने वाले साधक की दृष्टि चारों ओर से अपनी अमूल्य सम्पदा को सुरक्षित रखने की ओर ही रहती है। शक्ति तब बढ़ती है जब शक्ति का सहयोग मिलता है। यदि अपने शक्ति भण्डार में से शक्तियों का ह्रास होता रहे, तो शक्ति विकास साधना में बाधा पड़ती है। शक्ति विकास की विशिष्ट साधना अनुष्ठान में ऐसे नियमों के पालन का आदेश दिया गया है जिनसे संयम का अभ्यास बढ़ता है। जो साधक इनका पूर्ण रूप से पालन कर पाता है, वह सिद्धि के मार्ग को प्रशस्त करने में सफल हो जाता है।

उपेक्षा करने वाले की सिद्धि भी उपेक्षा करती है। मन्त्र साधक को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यदि वह मन्त्र साधना में सफलता प्राप्त करना चाहता है तो उसे इन्द्रियों पर नियन्त्र रखना होगा। यदि इन्द्रियों को मनमानी करने दी गई तो मन्त्र सिद्धि में व्यवधान आना स्वाभाविक है। अतः मन्त्र साधना में सफलता के लिए सयम अनिवार्य है जो इसका मेरुदण्ड है।

तप

मनुस्मृति (५।१०) के अनुसार तप से आत्मा शुद्धि होती है, उस पर चढ़े मल विक्षेपों की निवृत्ति होती है, विवेक की जागृति होती है और अज्ञान का पर्दा नष्ट होकर ज्ञान के सूर्य का उदय होता है। आत्म-शुद्धि होने पर ही साधक अपने अन्तःकरण में प्रयास रूप से ईश्वर के दर्शन करता है।

पाठ, पूजा, जप, उपासना, मनन, चिन्तन, स्तुति, प्राणायाम, ध्यान, धारणा व समाधि आदि की सभी क्रियायें तप के अन्तर्गत ही आती है। तप का अभिप्राय है अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लगातार घोर परिश्रम करना, पाताञ्जलि की भी आदेश है कि जब तक सफलता न मिले तब तक साधना करते ही रहना चाहिए। तप द्वारा निश्चय रूप से शुद्धि होती है क्योंकि तप लक्ष्य को प्राप्त करने का एक महान सङ्कल्प है। सङ्कल्प वह शक्ति है जो सैकड़ों प्रकार के विरोध होने पर भी अपना लक्षित मार्ग बना ही लेता है। आत्मा को अपवित्र करने वाली आसुरी शक्तियाँ इस संकल्प के सामने अपना सर झुका देती हैं और पराज्य स्वीकार कर लेती हैं। साधक की यह महान विजय होती है जिससे अप्रत्याशित रूप से आत्मबल की वृद्धि होती है।

प्राचीन काल में जिसने भी शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त की या महानतम कार्यों का सम्पादन किया, उन्होंने तप का ही आह्वान किया। संसार के पाप-ताप हरने के लिए स्वर्ग-लोक से उतर कर गङ्गाजी

पृथ्वी पर आईं शिवजी ने उन्हें अपनी जटाओं में धारण किया, यह प्रत्यक्ष प्रक्रिया लोक विदित हैं। पर इस गङ्गावतरण के पीछे भागीरथ की तपस्या ही प्रधान है। यदि भागीरथीजी तप करने खड़े न होते तो गङ्गावतरण का होना तथा उसके द्वारा भूतल के समस्त प्राणियों को सुख पहुँचना सम्भव न हुआ होता। दुर्गा के अवतार और असुरों के संहार की कथा में श्रेय देवताओं की थोड़ी-थोड़ी तपस्या के एक स्थान पर एकीकरण को ही है। भगवान राम के द्वारा असुरों का शमन हुआ यह ठीक है पर राम जन्म के पीछे स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी का तप और दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ ही प्रधान है। सीता जन्म के सम्बन्ध में कथा है कि ऋषियों ने अपना थोड़ा-थोड़ा रक्त एक घड़े में जमा करके भूमि में गाढ़ा और वह रक्त ही कालान्तर में परिपाक होकर सीता के रूप में जनक को हल जोंतते समय प्राप्त हुआ। ऋषियों का रक्त ही सीता बनकर असुरों के विध्वंस का कारण बना।

इन्द्र ने वज्र जैसा अचूक अस्त्र बनाया और उस वज्र से असुरों का संहार आसानी से कर लिया पर वह वज्र था क्या? तपस्वी दधीचि की हाड्डियाँ ही रूपान्तर से वज्र बनी थीं। सिद्धि बुद्धि दाता गणेश मनुष्यों को सद्ज्ञान और शुभ लाभ का वरदान देते हैं। पर वह गणेश है क्या? तपस्विनी पार्वती और योगेश्वर शङ्करजी की तप साधनाओं का एकीकरण पिण्ड ही गणेश है। व्यासजी का तप उनके पुत्र शुकदेव के रूप में प्रकट हुआ था। अञ्जनी पुत्र हनुमान की महाशक्ति उनकी माता ने देहाह्वान से ही अपने उदर में स्थापित की थी। पार्वती ने शिव को पति रूप में पाने के लिए तप किया था। ध्रुव ने तप के द्वारा राज्य की प्राप्ति की। समुद्र मन्थन के तप द्वारा ही देवताओं ओर असुरों ने मिलकर १४ रत्न निकाले। विश्वामित्र ने तप द्वारा ही नई सृष्टि की रचना की थी, तपोबल से ही उन्होंने त्रिशंकु को सीधे स्वर्ग भेजा था और तप के द्वारा ही वह क्षत्रिय से ब्राह्मण बने। तप के बल पर ही महर्षि वशिष्ठ ने राजा विश्वामित्र की विशाल सेना को पराजित

कर दिया था। तप द्वारा ही सावित्री ने यमराज से टक्कर लेकर अपने पति को जीवित करवा लिया था। सार यह है कि जिसने भी साधारण कार्य किये हैं, उसे तप का ही आश्रय लेना पड़ा है।

हमें निरन्तर तप में रत रहने के लिए शास्त्रकारों ने प्रेरित किया है। किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिये सफलता की कुंजी तप ही है। तैत्तिरीयोपनिषद के ऋषि ने एक महान रहस्य का उद्घाटन किया है—"परमेश्वर ने प्रकट होने की इच्छा की, उसने तप किया और तप से तेजस्वी होकर दृश्य जगत को रचा और उसी में प्रविष्ट हो गया।" इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि की रचना के लिए ईश्वर को तप ही करना पड़ा। इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। अतः वह प्रेरित करते हैं कि अपने जीवन के निर्माण के लिए तप करो। मुण्डकोपनिषद में तप के लाभों का वर्णन किया गया है। "सङ्कल्प रूप तप के द्वारा ब्रह्म प्रवृद्ध होता है। वही अन्न को उत्पन्न करता है, उसी से अमृत्व की प्राप्ति होती है (१।८)।" परमेश्वर को वही साधक देख पाते हैं जो सब दोषों से मुक्त हो चुके हों क्योंकि वह देह के भीतर प्रकाश रूप से विराजमान हैं और सत्य भाषण, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ कर्मों से प्राप्त होता है (३/१/५)।" भागवतकार ने लिखा है—"देवताओं के सौ वर्ष तक ब्रह्मा ने तप किया। उसी के फलस्वरूप वह स्थावर जङ्गम सृष्टि की उत्पत्ति करने में समर्थ हुए।" एक और स्थान पर निर्देश है कि तप से ही साधक ईश्वर को प्राप्त करता है।" प्रश्नोपनिषद के ऋषि ने घोषणा की है—'तपस्वी ब्रह्मचारी और सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही उत्तरायण गति को प्राप्त करके ब्रह्मलोक को जाते हैं।

मनुस्मृति में तप पर काफी प्रकाश डाला गया है। भगवान मनु कहते हैं "समस्त लोकों में जो कुछ भी श्रेष्ठ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसके मूल, मध्य और अन्त में तपस्या विद्यमान है। त्रिकालदर्शी ऋषियों ने यह शक्ति तप के बल पर ही प्राप्त की है।" दुस्तर, दुष्प्राप्य

दुर्गम और दुष्कर सभी कार्यों का प्रतिकार तप ही है। स्वर्ग का साधन तप ही है। शरीर, मन और वाणी के पापों को तप द्वारा ही नष्ट किया जाता है। ब्रह्मा ने तप द्वारा ही शास्त्रों की रचना की थी। तप के फल-स्वरूप ही पवित्र हृदय वाले ऋषियों के अन्तःकरण में वेद ज्ञान का अवतरण हुआ।

महाभारत में तप की महिमा का वर्णन इस प्रकार से है—'आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेवा, साध्य, पितृ, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध और दूसरे देवताओं ने तप द्वारा ही सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। पृथ्वी लोक में राजा व अन्य गृहस्थ जिन्होंने बड़े कुलों में जन्म लिया है, वह उनके तप का ही फल हैं।'

प्राचीन भारत के इतिहास का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने पर पता चलता है कि भारतीय संस्कृति के कण-कण में तप का प्रकाश रहा है, भारतीयों की नस-नस में तप की प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी हुई थी। यहां का हर नागरिक तपस्वी होता था क्योंकि आरम्भ से ही बालक को यह शिक्षा दी जाती थी कि जीवन के पूर्ण विकास के लिये तप ही एक मात्र साधन है। आज तो धनवान घरानों के लड़कों के लिए पृथक विद्यालय खुले है परन्तु प्राचीन काल में सभी वर्गों के विद्यार्थी साथ-साथ अध्ययन करते थे, राजा और रङ्क दोनों के लड़के साथ-साथ बैठते थे और लकड़ी काटना, भिक्षा माँगना व गुरुकुल की अन्य सेवाओं को सभी विद्यार्थी समान रूप से करते थे। कष्ट सहि-ष्णुता उनके जीवन का प्रारम्भिक पाठ होता था, परिश्रम शीलता उनका एक स्वाभाविक गुण बन जाता था क्योंकि गुरुकुल का कार्यक्रम ही ऐसा बनाया जाता था विद्यार्थी को निरन्तर कार्य संलग्न रहना पड़े। ब्रह्मचर्याश्रय के नियम भी बड़े-कड़े थे। ब्रह्मचारी को तपस्वी जीवन व्यतीत करना होता था। तभी तो वह तप की भट्टी में तपकर कुन्दन बन जाता था। गृहस्थ में प्रवेश करने पर उसकी जिम्मेदारियाँ

बढ़ जाती थी। अपने परिवार के पालन-पोषण के अतिरिक्त अन्य आश्रमों की आर्थिक व्यवस्था का भार भी उसके कन्धों पर था। अतः वह दिन रात परिश्रम करता था। गृहस्थ की जिम्मेदारियों को हलका करके वह तप विशेष के लिये वन में चला जाता था ताकि आत्मिक उत्थान की दिशा में अग्रसर होता जाय। अपना आत्मिक विकास करके वह सन्यासी के रूप में राष्ट्र के उत्थान के लिये अपनी समस्त शक्तियों का बलिदान कर देता था। इस तरह से चारों आश्रमों की विधि व्यवस्था का आधार तप ही था। तप हर भारतीय का जीवनसाक्षी होता था। जिस तरह आजकल समाज में धनवान बनने की होड़ होती है, उसी तरह प्राचीन काल में तपस्वी बनने की होड़ होती थी। हर व्यक्ति तप की पूँजी एकत्रित करने में लगा रहता था। सम्मान और पूजा का मापदण्ड तप ही था। तपस्वियों के समाज पर हमें गर्व था। तभी आर्थिक, नैतिक, सामाजिक और आत्मिक सभी क्षेत्रों में हम विश्व का नेतृत्व करते थे। आज यहाँ तप का अभाव है, इसलिए विकास की दौड़ में सबसे पीछे हैं। यदि हमें प्राचीन गौरव प्राप्त करना है तो अपने पूर्वजों के इस गुण को अपना इष्ट बनाना होगा।

भारतीय ऋषियों ने तप में कल्पवृक्ष की कल्पना की थी। पौराणिक कथाओं के अनुसार जिस तरह से कल्पवृक्ष के सामने अपनी कोई भी इच्छा रखने से वह पूरी हो जाती है, उसी तरह से तप भी हमारी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करने की सामर्थ्य रखता है। शारीरिक सुदृढ़ता के लिए व्यायाम आवश्यक है। विद्वान के लिए स्वाध्याय की अग्नि जलानी होगी। मनन, चिन्तन और साधना से आत्मिक विकास सम्भव है। उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ने के लिए निरन्तर प्रयत्न, पुरुषार्थ और परिश्रम करना होगा। ज्ञान, धन, कीर्ति, नेतृत्व, मनोबल, स्वर्ग, मुक्ति, सुख शान्ति सभी कुछ तप की अग्नि में तपने से मिलता हैं। तप का अर्थ है—कष्ट सहन करना, परिश्रम एवं प्रयत्न करना। हर क्षेत्र

में यही सफलता की कुन्जी है। सिद्धियाँ इसके दरबार में सर झुकाती हैं और तप की ही छत्रछाया में निवास करती हैं। तप तो शक्ति और सिद्धि का जनक और पिता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने इसी तप की उपासना करके महानतम कार्यों का सम्पादन किया। वह महान तब ही बन पाए जब उन्होंने स्वयं तप का साक्षात रूप ग्रहण कर लिया और वह तपोमूर्ति बन गये। जो इसकी उपासना से वंचित रहते हैं, वह निरन्तर अपने भाग्य का ही रोना रोते रहते हैं और उसके लिए ईश्वर को कोसते रहते हैं। जो तपस्वी हैं, वह अपने भाग्य को स्वयं लिखता है, भाग्य निर्माण का अधिकार अपने हाथ में लेता है और स्वर्ण अक्षरों से अंकित करके जीवन की गतिविधियों को निर्देश देता है कि तुम इस तरह से चलो। दैव पर आश्रित व्यक्ति प्रार्थना करके, भगवान को फुसलाकर, अनाधिकार चेष्टा करके धन वर्षा की व्यथ आशा करता है। तपस्वी अपनी भुजाओं के बल से अपने अपने भाग्य का ढाँचा स्वयं निर्मित करता है। ईश्वर को सृष्टि की रचना करते समय जब तप करना पड़ा तो हमें अपने निर्माण के लिए भी तप करना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

तप कई प्रकार के हैं। दण्ड, बैठक, कुश्ती, आसन दौड़ना आदि व्यायाम करके शरीर को स्वस्थ रखना तप है। गहन अध्ययन से विद्वान बनना तप है। लिखने और बोलने का निरन्तर अभ्यास करने पर अच्छा लेखक और वक्ता बनना तप है। अनुकूल विचार वालों का संगठन बताकर नेता बनना तप है। दिन-रात परिश्रम करके धनोपार्जन करना तप है। इन्द्रियों का संयम करना तप है, उपवास करके शरीर में संचित मलों को भस्म करना तप है, उपासना, प्रार्थना, जप, प्राणायाम यज्ञ, यम नियमों का पालन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तप है। जीवन में जैसा बनने की इच्छा हो, वैसे ही तप का चुनाव कर लेना चाहिए। परन्तु अपने मानवीय गुणों को सुरक्षित और विकसित करने के लिये अपने बौद्धिक स्तर के अनुकूल उपासना रूपी तप को

अपने जीवन का एक आवश्यक अंग बनाना ही चाहिए अन्यथा ईश्वर प्रदत्त शक्तियाँ सुप्त पड़ी रहेंगी और उन्हें काम में न लाने के कारण निष्क्रिय होती जायेंगी। जिस तरह से चाकू को घिसने से वह तेज होता है, खराद पर चढ़ाने से उसमें चमक आती है, उसी तरह तप द्वारा अपनी मानसिक व आत्मिक शक्तियों को सहेज करते रहना ही मानव जीवन की उपयोगिता और सार्थकता है। तप शक्ति का द्वार हैं। तपस्वी शक्तियों का पुंज बन जाता है। ईश्वर के द्वार को खटखटाना भी शक्ति का ही साहस है। अतः सम्राटों के सम्राट तक पहुँचने के लिए शक्ति का आह्वान आवश्यक है और इसका मूल उद्‌गम है तप।

खड़ा जल सड़ जाता है परन्तु उछलता और कूदता हुआ नदी का जल विद्युत शक्ति का साधन बनता है। कारण स्पष्ट है खड़ा जल निष्क्रिय रहता है। उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। बहता जल सक्रिय रहता है, उसकी शक्तियाँ विकसित होती रहती हैं। तप पुरुषार्थ और क्रियाशीलता से विद्युत की उत्पत्ति होती है। उस विद्युत का प्रयोग जिधर भी किया जाय। उधर ही सफलता उसका स्वागत करती है।

जहाँ तप है, वहीं शक्ति, मुक्ति, स्वर्ग, सुख, शान्ति आनन्द, धन, ज्ञान, कीर्ति और संसार का सब कुछ है। जो जीने योग्य जीवन जीना चाहता है, उसे तप को अपना जीवन साथी बना लेना चाहिए। जो इस विवेक-पूर्ण निर्णय की उपेक्षा करता है, वह आज नहीं तो कल दीन, हीन, दुःखी और विपत्तिग्रस्त बनकर रहेगा।

तप द्वारा आत्म शुद्धि की क्रिया सम्पन्न होने पर मत्र साधना में सफलता और सिद्धि की आशा की जा सकती है। तभी कहा जाता है कि तप से ही मंत्र सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

ज्ञान

पाप तापों को नष्ट करने के लिए शास्त्रों में ज्ञान रूपी अग्नि को

चरण करने का आदेश दिया है। इसके बिना पाप दग्ध नहीं हो सकते। जब तक मानव अन्य प्राणियों से भिन्नता का अनुभव करता है, तब तक स्वार्थवश वह झूठ, छल, कपट के माध्यम से हर प्रकार के अन्याय व अत्याचार के लिए तैयार रहता है। ज्ञान से भिन्नता दूर होती है, सब ओर अपना ही रूप बिखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। परिणाम स्वरूप अपने स्वार्थ की सीमाएँ बढ़ने लगती हैं। स्वार्थ तब परमार्थ का रूप धारण करने लगता है। प्राणी मात्र में ईश्वर को दर्शन होते हैं ओर एकता की अनुभूति होती है। वास्तव में अज्ञानता की गोद में ही दोष दुर्गुण पनपते व सुरक्षित रहते हैं। दिन निकलने पर जैसे चोर दिखाई नहीं देते, वैसे ही ज्ञान के विकास से पाप भयभीत होकर लुप्त हो जाते हैं। पापों का बोझ हलका होने पर ही आत्मा सन्तोष की सांस लेती है और अपने को शुद्ध व पवित्र अनुभव करती है। ज्ञान का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है जो इस प्रकार है ;—

लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' में ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा है—"पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है, इस समझ का नाम है ज्ञान।" समर्थ गुरु रामदास के अनुसार—'जिससे निर्गुण परमात्मा जानने में आता है वही ज्ञान है, उसके अतिरिक्त सब अज्ञान है।' स्वामी ब्रह्मा नन्द के अनुसार—'एकता और समता ज्ञान का लक्षण है।'

उपनिषद् के ऋषियों ने ज्ञान की अनुभूतियों का वर्णन इस प्रकार किया है—'ब्रह्म अमृत रूप है, वही सामने और वहीं पीछे है। दायीं और बायी ओर भी वही है। नीचे और ऊपर की ओर भी वही विस्तृत है। यह सम्पूर्ण विश्व ही महान ब्रह्म है।' (मुण्डकोप० २।२।११)

छान्दोग्योपनिषद् (६।२५।२) में इन्हीं भावनाओं को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है—'आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही पश्चिम की ओर है, आत्मा ही पूर्व की ओर है, आत्मा ही उत्तर में है, आत्मा ही दक्षिण में है, आत्मा ही सब कुछ है।,,

दूसरे ऋषियों का यह हजारों वर्ष पूर्व का अकाट्य निर्णय था कि सृष्टि में दृष्टिगोचर होने वाली अनेकता सत्य नहीं है। उनके मूल में सर्वत्र एक ही अमूर्त' अव्यक्त और नित्य तत्व विद्यमान है।' (कठोपनिषद् ११। २०, बृहदारण्यक ४। १।

भागवत (११। २। ४५ और ३। २४। ४६) में परम भागवत उसे माना गया है जो भगवान और अपने में भिन्नता का अनुभव नहीं करता हैं, जो भगवान और अपने में एकता की अनुभूति करता है और समझता है कि सब प्राणी भगवान में और मुझ में भी हैं।

समर्थ गुरु रामदास ने दासबोध (२०। २। ३) में स्वानुभवरूप से कहा है--'जिधर देखता हूँ उधर ही वह अपार दिखाई देता है। वह एक ही प्रकार का है और स्वतन्त्र है, उसमें द्वैत नहीं है।' एक कवि ने भी ऐसा ही कहा है—

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।

सन्त कवि तुकाराम के अभङ्गों में भी इस भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है—

'गूँगे का गुड़ है भगवान, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जल तरङ्ग हैं हम एक ॥'

ईसा ने भी कहा है कि—'मैं और मेरे पिता एक हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।'

शङ्कराचार्य का भी मत है कि वाह्य दृष्टि से पदार्थों की दिखाई देने वाली अनेकता सत्य नहीं है। उनमें तो शुद्ध और नित्य ब्रह्म व्याप्त है। उसी की माया से इन्द्रियों की अभिन्नता का आभास होता हैं। आत्मा ही मूलतः ब्रह्म-रूप है। इस अनुभूति के प्रभाव में योग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसी को उन्होंने अद्वैतवाद की संज्ञा दी।

ज्ञान तीन प्रकार का होता है – तामसिक, राजसिक और सात्विक

(गीता (८ । २०) में सात्विक ज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—

'जिस ज्ञान से यह विदित होता है कि विभिन्न अर्थात् भिन्न भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्व है, उसे सात्विक ज्ञान ही समझना चाहिए।' (११ । २०)

गीता में ज्ञान के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

न प्रहृष्योत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिर बुद्धिरसम्मूढोब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५ ॥ २०

'जो व्यक्ति प्रिय वस्तु से प्रायः प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय को पाकर खिन्न नहीं होता, जिसकी बुद्धि स्थिर रहती है, जो मोह जाल में जकड़ा नही रहता, उसी ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्म मे स्थित हुआ समझना चाहिए।'

इन्हीं भावों को गीता (६ । ७) में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानोपमानयोः ॥ ६ ॥ ७

जिसने अपने अन्तःकरण पर विजय प्राप्त कर ली है और शान्ति के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया है। उसकी आत्मा सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान में एक जैसा व स्थिर रहती है '

गीता (६ । ८) में ऐसे ज्ञान को प्राप्त साधकों को ही सिद्ध की संज्ञा दी गई है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाण्चनः ॥

'जिसकी आत्मा विभिन्न प्रकार के ज्ञान से प्रेप्ति प्राप्त कर लेती है, अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, मिट्टी,पत्थर और सोने में जो भेद नहीं मानती, समझना चाहिए कि वह योगी सिद्धावस्था को प्राप्त हो गया है।'

ज्ञान उपासना की एक श्रेष्ठ विधि का मार्गदर्शन करते हुए ईशा-वास्योपनिषद् में कहा है—

"ईशावास्यमिदं सर्वम्"

विश्व में जो कुछ है, उसे ईश्वर से अविष्ठित करे. ऐसा समझना चाहिए कि इस भौतिक जगत में मेरा कुछ भी नहीं है, सब कुछ ईश्वर का ही है।" इस ईशावास्य बुद्धि को ही बाज्धन से मुक्ति का साधन बताया है –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्चतं समा. ।
एवं त्वयि नान्ययेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(ईशावास्य० । ३)

'उत्तम साधक को संसार के सभी काम करने के लिए सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। ईशावास्य बुद्धि से काम करने वाले को कर्मों का लेप-बन्धन नहीं होता। बन्धन से मुक्त होने के लिए इसको छोड़कर और कोई मार्ग ही नहीं है" तभी श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।८) में स्पष्ट कहा है 'ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त करने का कोई दूसरा मार्ग ही नहीं हैं।"

इस मार्ग का अनुकरण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों का उदाहरण देते हुए स्मृति में कहा है—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्यं श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥

'जो साधक पूर्ण ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह सब प्रकार के सांसारिक काम करते हुए भी श्रीकृष्ण व जनक की तरह अकर्ता, अलिप्त और सर्वदा मुक्त ही रहता है।'

ज्ञान को निश्चय रूप से सर्व श्रेष्ठ उपासना स्वीकार किया गया है। जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया, उसका जीवन धन्य है क्योंकि पशुत्व की परिधि से हटाकर मानवता के उच्च आसन पर अवस्थित करने का श्रेय ज्ञान को ही है। बुद्धिमान व्यक्ति इसे भौतिक जगत की मूल्यवान

वस्तुओं से भी हजारों गुना श्रेष्ठ समझते हैं। श्री सैम्युअल स्माइल ने ज्ञान का उच्च मूल्यांकन करते हुए इसे जाग्रत देवता की संज्ञा दी है—

"दुर्भाग्य कभी हाथ धोकर पीछे पड़ जाये, ऐसा लगे कि एक भी उपाय प्रगति पथ पर स्थिर रखने में समर्थ नहीं है, सभी ओर असफलता ही असफलता, अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत हो रहा हो तब तुम महापुरुषों के ग्रन्थ पढ़ना, विचारों का सत्सङ्ग तुम्हारे जीवन में फिर से प्रकाश लायेगा, तुम्हारे दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदलने की शक्ति उत्तम ज्ञान में सन्निहित है। सो जब कभी ऐसा अवसर आये, ज्ञान-देवता की ही शरण ग्रहण करना।

समस्त शक्तियाँ साथ छोड़ दें, मित्र, पड़ोसी और कुटुम्बी भी अपने स्वार्थ के लिए संघर्ष कर दें अथवा तुम्हें जीवन पथ पर चलने के लिए असहाय एकाकी छोड़ दें, तब तुम उत्तम पुस्तकों को मित्र बनाकर आगे बढ़ना, एकाकी और असहायपन के बीच तुम्हें मौन मैत्री और प्रकाश की वह किरण मिल जायेगी जो तुम्हारा हाथ पकड़ कर तुम्हें निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचा देगी।

मन्दिर, गिरजे, मस्जिदें, गुरुद्वारे टूटकर खण्डहर बन जाते हैं, गिरकर नष्ट हो जाते हैं लेकिन उत्तम ज्ञान और सच्चे विचार कभी नष्ट नहीं होते। ज्ञान देवता का वरदान पाकर मनुष्य निहाल हो जाता है। ज्ञान वह सीपी है जिसमें प्रवेश कर मनुष्य का जीवन मोती बन जाता है।

ज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए गीता (४।३८) में कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

'इस विश्व में ज्ञान से बढ़कर पवित्र करने वाला वास्तव में और कुछ नहीं है।"

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मेमतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमाँ गतिम् ॥
(गीता ७।१७-१८)

"इसमें भक्त और ज्ञानी की योग्यता विशेष मानी गई है। ज्ञानी को तो मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। भक्त सभी अच्छे हैं परन्तु मेरी मान्यता है कि इनमें से ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है क्योंकि चितवृत्तियों का विरोध करके यह मुझ में ही स्थिर रहता है।"

ज्ञान के सत्परिणामों का वर्णन करते हुए शास्त्रों में कहा गया है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(गीता ४।३६-३७)

"पापियों से भी अधिक घोर पाप करने वाला हो तो भी ज्ञान की नौका में बैठकर पाप रूपी नदी को पार कर लेगा। जिस तरह जलती हुई अग्नि लकड़ियों को राख का ढेर कर देती है, उसी तरह हे अर्जुन यह ज्ञान की अग्नि समस्त शुभ अशुभ कर्मों बन्धनों को भस्म कर देती है।"

पाप के अतिरिक्त ज्ञान मोह का भी विध्वंस कर देता है—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(गीता ४।३५)

"हे पाण्डव ! ज्ञान को प्राप्त करके फिर तुझे मोह नहीं सताएगा,

क्योंकि उसके योग से प्राणीमात्र को मुझ में और अपने में देखने लगता है।

ज्ञान प्राप्त होजाने पर परम शान्ति प्राप्त हो जाती है—

ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

(गीता ४।३६)

ज्ञानी को कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते—

योगसन्यस्तकर्माणि ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्त न कर्माणि निवध्नन्ति धनञ्जय॥

(गीता ४।४१)

"योग साधना से जिसने कर्म बन्धन का त्याग किया है और ज्ञान से जिसमें संयम निवृत्त हो गए हैं, उस आत्मजयी साधक को कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते।"

ज्ञान प्राप्त होने पर फिर जन्म नहीं होता। यह क्रिया किस प्रकार से सम्पादित होती है इसका स्पष्टीकरण करते हुए गीता (५।१६,१७) मे कहा है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
तद्बुद्धयस्तदात्मनस्तन्निष्टास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकलमषाः॥

ज्ञान से जिनका अज्ञान निवृत्त हो जाता है, उनका वह ज्ञान परमार्थ तत्व को इस प्रकार से विकसित करता है जैसे सूर्य सर्वत्र प्रकाश उत्पन्न करता है। उस परमार्थ में ही जिनकी बुद्धि लीन हो जाती है और उसी में जिनका अन्तः मन रम जाता है, उनके पाप ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं और वह योगी पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता।"

ज्ञान से जिन्हें साम्यावस्था में स्थिरता प्राप्त हो जाती है, वह मृत्युलोक पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और मृत्यु की प्रतीक्षा किए बिना, जीवित अवस्था में ही यहीं के यहीं ब्रह्मभूत हो जाते हैं—

इहैव तैर्जित: सर्गो येषां साम्ये स्थित मन: ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता: ।।
(गीता ५।१९)

ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होने की पुष्टि गीता (५।२५) में की गई है–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: क्षीणकल्मषा: ।
छिन्नद्वैधा यतात्मना: सर्वभूतहिते रता: ।।

"जिन ऋषियों की द्वन्द बुद्धि समाप्त हो गई और वह यह अनुभव करने लगे हैं कि सभी जगह एक ही ईश्वर विद्यमान है, जिनके पाप धुल गये हैं और जो आत्म संयम से प्राणीमात्र के कल्याण में लग गए हैं, उन्हें निश्चय रूप से ब्रह्मनिर्वाण रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ।"

गीता (६।२९।३०) में भगवान ने स्वयं इसका आश्वासन दिया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन: ।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

"जिस ज्ञानी साधक का आत्मा योग युक्त होकर साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है और उसे सर्वत्र ऐसा अनुभव होने लगता है कि सब प्राणी मुझ में हैं और मैं सब प्राणियों में हूँ। इस भावना के साथ वह सभी प्राणियों से मुझ ईश्वर में और मुझे सर्वत्र देखता है, इससे न मैं कभी अलग होता हूँ, न वह कभी मुझ से अलग होता है अर्थात् उसके ईश्वर प्राप्ति का महान लक्ष्य पूरा हो जाता है ।"

यही बात गीता (७।१९) में कही गई है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।।

"अनेक जन्मों के बाद साधक जब यह अनुभव करता है कि जो

कुछ है, वह वासुदेव ही है, ज्ञानी मुझे (ईश्वर को) प्राप्त कर लेता है। ऐसे महात्मा का मिलना कठिन होता है।"

उपनिषदों में भी इस विषय को स्पष्ट किया है। वृहदारण्यक (१।४।१०) में कहा है–

य एव वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।

"जो अपने को ब्रह्म मानता है, वह अमृत ब्रह्म हो जाता है।"

छांदोग्य (४।१४।३) में कहा है कि जिस तरह कमल को जल स्पर्श नहीं कर सकता, उसी तरह ब्रह्मज्ञानी को कर्म लिप्त नहीं कर सकते। तैत्तरीयोपनिषद (२।१) में वर्णन है कि जो ब्रह्म को जान जाता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वृहदारण्यक (४।८।२३) के अनुसार जिसने यह जान लिया कि सब कुछ आत्ममय है, उसे पाप स्पर्श नहीं कर सकता। श्वेताश्वतरोपनिषद् (५।१३,६।१३) में कहा है––

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

"ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर सभी बन्धन से साधक छूट जाता है।"

मुण्डक (२।२।८) में लिखा है—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।

"ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर साधक के सभी कर्म दग्ध होजाते हैं।"

"ईशावास्य (११) व मैत्र्युपनिषद् (७।९) में कहा है—

विद्ययामृतमश्नुते।

"विद्या से अमृत्व की प्राप्ति होती है।"

श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.८) के अनुसार—

तमेव विदत्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

"ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर अमरत्व प्राप्त होता है।"

अद्वैत की अनुभूति करने वाले ज्ञानी साधक के महान गौरव का वर्णन करते हुए लोकमान्य ने कहा है–

"जिसने द्वैत भाव को छोड़कर आत्मस्वरूप को जान लिया है, उसे चाहे प्रारब्ध-कर्म-क्षय के लिए देहगात होने की राह देखनी पड़े, तो भी उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए कहीं भी नहीं जाना पड़ता, क्योंकि ब्रह्मनिर्वाण रूप मोक्ष तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहता है।"

यह अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि भगवान ने स्वयं स्वीकार किया है कि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। यही नहीं ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है (गीता ७।१७।१८)। इस तरह से ज्ञानयोग का स्वयं भगवान ने उच्चतम मूल्यांकन किया है। जो साधक ज्ञान योग की उपासना में सफल हो जाते हैं, वह भगवान के प्रिय होकर उनसे एकता प्राप्त कर लेते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

ज्ञान द्वारा आत्मशुद्धि प्राप्त होने पर अनेकों प्रकार के विघ्नों का नाश हो जाता है और मन्त्र साधक निर्विघ्न रूप से सिद्धि के लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है।

आत्मशोधन

शुद्धि और पवित्रता के जितने साधन ऊपर वर्णित किए गए हैं, उन सब में श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण उपाय आत्मशोधन है। अन्य क्षेत्रों में आशातीत प्रगति करने पर भी मनुष्य अपने दोषों और दुर्गुणों को अनुभव नहीं कर सकता। आत्मशुद्धि की प्रक्रिया सम्पन्न करने से पहले साधक का कर्तव्य है कि वह अपने पापों, कुप्रवृत्तियों, दुस्वभावों का निरीक्षण करे और स्वीकार करे कि उसमें अमुक दोष व्याप्त हैं। दोषों को छिपाने से वह बढ़ते हैं, घटते नहीं। अतः उनको प्रकट कर देने से आत्म सन्तोष होता है, मन का बोझ हलका होता है। आत्मशोधन की यह प्रथम प्रक्रिया है। इसको अपनाये बिना साधक अगली सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकता। आत्म-शोधन की अगली रक्षा में साधक दोषों के परिमार्जन करने का प्रयत्न करता है। विवेक बुद्धि से उनका निरीक्षण करते हुए संकल्प करता है कि इन कमजोरियों का डटकर साहस से मुकाबला करूंगा और उन्हें मन से नष्ट करके ही दम लूंगा साधक की

डायरी बनाकर अपने दोषों का परिशीलन करना चाहिए। नित्य निरीक्षण करता हुआ उन्हें कम करता जाय। यदि वह दूर नहीं हो रहे हों, तो विघ्नों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करे और कारणों की खोज करे। जो विघ्न दिखाई दें, उन्हे दूर करे। रात्रि को सोते और प्रातःकाल उठने से पहले का समय इस कार्य के लिए उपयुक्त माना गया है। आत्म-शोधन साधना में मन को संकेत भी देने चाहिए कि मेरे दोष मेरी शक्तियों की वृद्धि से भयभीत होकर भाग रहे हैं और में दोष रहित बनता जा रहा हूं। यह संकेत जितनी दृढ़ता से मन को दिए जाएंगे, सफलता उतनी ही शीघ्रता से प्राप्त होने की आशा की जानी चाहिए।

तप, ज्ञान, संयम आहार शुद्धि व आत्मशोधन की सभी प्रक्रियाओं को अपनाते हुए शुद्धि की साधना पूर्ण होती है। यह मन्त्रयोग का एक आवश्यक अङ्ग है। इसकी उपेक्षा करने पर मन्त्र 'सद्धि असम्भव प्रतीत होती है।

आसन

प्रकार

मन्त्र सिद्धि में आसन का विशेष महत्व है। बिना आसन के जप नहीं करना चाहिए। जिस आसन पर दूसरे व्यक्ति ने बैठकर जप किया हो, उस पर भी जप वर्जित माना है। अनेकों प्रकार के आसन ऋषियों ने साधना के लिए उपयुक्त माने हैं। कु.ासन, मृग चर्म, व्याघ्र चर्म, ऊन व रेशम के आसन, लकड़ी की चौकी, गोबर का चौका आदि विभिन्न प्रकार के आसन अलग-अलग साधनाओं के लिए बताये गये हैं। मोक्ष और धन प्राप्ति के लिए काली मृगछाला और सभी प्रकार की साधकाओं में ऊन, मृगछाला और कुशासन पवित्र माने गये हैं। ब्रह्म.ण्ड पुराण में कहा है—

काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्त कम्बलम्।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्रकार्या विचारणा।।

'काम्य कर्म में कम्बल का आसन उपयुक्त माना जाता है। लाल कम्बल हो तो अति श्रेष्ठ है। कुशासन पर साधना करने से मन्त्र सिद्धि अवश्य होती है।"

बाँस, पत्थर, भूमि, छिद्रयुक्त काष्ठ, तृण और पत्तों के आसन वर्जित हैं। उन पर बैठकर साधना करने पर निम्न हानियाँ होने की संभावना व्यक्त की गई है –

वैशासने तु दारिद्रयं पाषाणे व्याधिः संभवः।
धनण्यांदःख संभूति दौर्भाग्यं छिद्रिदारुजे।
तृणेधन यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः।। (पंचरात्रि)

'बाँस के आसन पर दारिद्रय, पाषाण पर व्याधि, भूमि पर दुःख छिद्रयुक्त काष्ठ पर दुर्भाग्य, तृण पर लक्ष्मी व यश की हानि और पत्तों पर चित्त भ्रम की सम्भावना रहती है।'

वस्त्र और कुर्सी के आसन को भी वर्जित माना गया है।

वैज्ञानिक विवेचन

विभिन्न आसनों का वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार हैं—

साधना काल में आसन का प्रयोग का उद्देश्य यही नहीं है कि हमारे वस्त्र भूमि को स्पर्श न करें वरन् इसलिए है कि साधना द्वारा उपार्जित शक्ति पृथ्वी में प्रवाहित न हो जाये और वह साधक के पास ही सुरक्षित रहे। भौतिक विज्ञान के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी हर पार्थिव वस्तु को अपनी ओर खींचती है। यह सिद्धान्त 'न्यूटन' के नाम से विहित किया जाता है क्योंकि आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं को सबसे पहले इससे उन्होंने ही परिचित कराया हमारे ऋषि तों इसे हजारों वर्ष पहले ही जानते थे जो इस आसन व्यवस्था से सिद्ध है।

आसन उस वस्तु का गनाया जाता हैं जो असंक्रामक (नानकन्ड-क्टर) हो। इससे पार्थिव विद्युत पृथ्वी में प्रवाहित नहीं हो सकती। बिजली वाले बिजली की फिटिंग व मरम्मत करते हुए ऐसी वस्तुओं को माध्यम बनाते हैं जो असंक्रामक हों जैसे—रेशम, मिट्टी, चीनी, रबड़, लकड़ी आदि। इनमें विद्युत दूसरी ओर प्रवाहित नहीं हो सकती। लोहा पीतल आदि धातुएं ऐसी हैं जिन्हें सक्रामक (कन्डक्टर) की संज्ञा दी जाती है। यदि इन्हें माध्यम बनाया जाय तो विद्युत से हानि हो सकती हैं।

इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए कुश का आसन, मृगचर्म, व्याघ्र चर्म, ऊन का आसन, काष्ठ की चौकी और गोबर के चौके को पूजा-पाठ के कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि वह असंक्रामक—नान-कन्डक्टर गुण से युक्त हैं और पृथ्वी और साधक में एक ऐसे माध्यम का काम देते है जिससे शक्ति का प्रवाह नीचे की ओर न हो।

इसके विपरीत वस्त्र और पत्थर के आसन वर्जित माने गये हैं क्योंकि यह दोनों सक्रामक (कन्डक्टर) हैं। इनसे पार्थिव विद्युत प्रवाहित हो सकती हैं। पत्थर पर घण्टों उपासना के लिये बैठा जाये तो उसके कड़ेपन के कारण गुदा सम्बन्धी रोगों की सम्भावना भी हो सकती है।

अब साधना के उपयुक्त आसनों का विवेचन किया जाता है। सबसे श्रेष्ठ कुश का आसन माना जाता है जो सर्वसुलभ और श्रेष्ठ है।

कुशासन

हिन्दू धर्म के साधना विधान में कुशासन का महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे अलग अलग साधनाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के आसनों का विधान है। जैसे तमोगुणी साधना में ऊन का आसन बिछाया जाता है। सतोगुणी साधना में कुशासन का विधान है क्योंकि जिस प्रकार से पशुओं में गौ को, पौधों में तुलसी को, उनके गुणों के कारण श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार से घासों में कुश को श्रेष्ठ व पवित्र माना जाता है। चाहे मृतक कर्म हो या शुभ कार्य हो, कुश का प्रयोग अनिवार्य है। पारस्कर आदि गृह्यसूत्रों के अनुसार यज्ञों में कुशकण्डिका का विधान आता है। पिण्ड पितृयज्ञ में पिण्डों के नीचे कुश रखी जाती है। कुश से अभिमन्त्रित जल का छिड़काव यजमान पर किया जाता है। कर्मकाण्ड में कुश के पवित्रे जाते हैं, महाभाष्यकार पातञ्जलि मुनि ने लिखा है कि पाँणिनि मुनि जब अष्टाध्यायी लिख रहे थे, उस समय वह हाथों में कुश के पवित्रे पहिना करते थे। आयुर्वेद शास्त्रों के अनुसार कुश को भूत बाधा निरोधक बताया जाता हैं।

कुश के शुद्धता और पवित्रता के गुण को निम्न वेद मन्त्र में दर्शाया गया है।

त्व भूमिमत्येष्योजया त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे।
त्वां पवित्रमृषयोऽमरंत त्वं पुनीहि दुरितान्यस्तमत्॥

(अथर्व १९ । ३३ । .)

अर्थ—हे मणि रूप धर्म ! तू अहिंसित यज्ञ की वेदी में बैठने वाला, रमणीक और शोधक है। तुझे ऋषि अपनी शुद्धि के लिये धारण करते हैं।अतः हमें पापों से छुड़ा।

इससे स्पष्ट है कि कुश में ऐसी विद्युत शक्ति है कि उसके स्पर्श से, उनके बाँधने व कर्मकाण्ड से प्रयोग करने से साधक में पवित्र भावनाओं का संचार होता है। तभी तो पाप के विचारों के छुड़ाने की प्रार्थना की गई है।

कुश को वेदों में एक महान औषधि बताया गया है। वह रोग कीटाणुओं से रक्षा करने वाला और उनको नष्ट करने वाला है। तभी तो सूर्य और चन्द्र ग्रहण के समय जब रोग कीटाणु काफी संख्या में आकाश में इधर-उधर घूमते हैं, खाने की वस्तुओं आदि में रोग कीटाणुओं से रक्षा व उनके नाश के लिये उनमें कुश का प्रयोग किया जाता है। बाल्मिक रामायण में आता है कि जिस समय लव और कुश की उत्पत्ति वाल्मिक मुनि के आश्रम में होती है, उस समय ऋषि ने उन दोनों की रक्षा कुश द्वारा ही की थी। तभी उनका नामकरण ही इसी आधार पर हुआ है। कुश पर पूरे कुश का प्रयोग किया गया था, ईस लिये गसका नाम कुश रखा गया। लव को कुश के लव, एक भाग से आरोग्य प्राप्ति हुई थी, इसीलिये उसका नाम ही लव रखा गया था। वेदों में भी कुश की आरोग्य शक्ति के सम्बन्ध में कई मन्त्र आते हैं।

बध्नामि जरसे स्वस्तते। (अथर्व १९।३३।४)

"इस मणि को तेरे कुशल और वृद्धावस्था की अप्राप्ति के लिये बाँधता हूँ।"

दर्भो य उग्र औषधिस्त ते वध्नाम्यायुषे।

(अथर्व १९।३२।१)

इस प्रचण्ड वीर्य औषधि को तेरी आयु वृद्धि के निमित्त बाँधता हूँ।

कुश में रोगी को मृत्यु पाश से भी मुक्त करने का संकेत वेद में किया गया है।

नास्य केशान् प्र वयन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ।।
(अथर्व १९ । ३२ । २)

अर्थ— 'प्रयोग करने वाला पुरुष जिस भयभीत पुरुष को पूर्णयुक्त पूर्णाङ्ग दर्भ मणि को बाँधता है। यमदूत उसके केशों को नहीं उखाड़ते और न उसके हृदय पर घूंसा मारते हैं।

वेद में कुश से सम्बन्धित औषधि निर्माण शास्त्र के एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त की ओर सकेत किया गया है।

शतं ते दर्भ वर्मणि सहस्रं वीर्याणि ते ।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ।।
(अथर्व १९ । ३० । २)

अर्थ—हे दर्भ ! तुझ में दूसरे को पीड़ित करने वाली सैकड़ों गाँठें हैं और उन पीड़ाओं को दूर करने के भी सैकड़ों प्राक्रम हैं। तुझ कवच रूप को इस रक्षा काम्य राजा के लिए देवताओं ने जरा नाशनार्थ दिया है, इसीलिये इसकी वृद्धास्था को दूर करती हुई तू इसे पुष्ट कर।

होम्योपैथिक विज्ञान का आधार भी प्राचीन वैदिक विज्ञान पर है। उसकी औषधि निर्माण का भी यही सिद्धान्त है कि जो औषधि शरीर में बिगाड़ उत्पन्न करने की क्षमता रखती है, वही शरीर को आरोग्य प्रदान कर सकती है। उसी प्रकार से कुश को भी बिगाड़ पैदा करने वाला और निरोग्यता प्रदान करने वाला बताया गया है।

साधना से तो अन्तःकरण पवित्र होता ही है, पवित्रता, शुद्धता ओर निरोग्यता के गुणों को धारण करने वाले, कुश के आसन पर बैठने वाले साधक को अपने लक्ष्य की पूर्ति में सहायता मिलती है क्योंकि

कुश तो पवित्रता का प्रतीक ही है। कुश में व्याप्त विद्युत केवल साधक पर पवित्र विचारों की छाप ही नहीं डालती वरन् उसमें दो गुण और भी हैं। कुशासन साधन और पृथ्वी के बीच एक दीवार का काम करता है। उसमें पृथ्वी की विद्युत को रोकने की शक्ति है। इससे साधक के ध्यान में कोई विघ्न नहीं होता। यदि आसन न बिछाया जाय, तो इससे विघ्न की सम्भावना होता है। एक लाभ और है। जप और ध्यान साधना के द्वारा साधक में जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका पृथ्वीकरण न हो जाये, उसकी विद्युत पृथ्वी में न चली जाये, कुशासन उस विद्युत को रोकने का काम करता है। कुशासन के अभाव में शक्ति का प्रवाह नीचे की ओर हो सकता है। शक्ति के प्रवाह को जिस तरह ऊपर शिखा बन्धन से रोका जाता है, उसी प्रकार से नीचे कुशासन के प्रयोग से उसका निरोध किया जाता है।

शास्त्रीय व वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से कुश की महत्ता प्रतिपादित है। अतः इसका प्रयोग हर प्रकार से लाभदायक ही सिद्ध होगा।

मृगचर्म

काले मृगचर्म को यजुर्वेद ने समस्त पुण्यों का जनक माना है—

कृष्णाजिनं वैसुकृतस्य योनि :।

गीता ६।११ में मृगचर्म बिछाने का आदेश दिया गया है। शास्त्र ने काले मृगचर्म से ज्ञान की सिद्धि होना बताया है :—

"कृष्णाजिने ज्ञान सिद्धि।"

स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में भी अखण्डित काला मृगचर्म बिछाने के लिये लिखा है :—

कृष्णाजिनमखण्डम् ।

मृगचर्म आसन में कई लाभ हैं। मृगों की तेजस्विता के कारण उन्हें पवित्र माना जाता था। तभी ऋषियों के आश्रमों में उनका निवास रहता था। इस आसन को प्रयुक्त करने वाले में भी तेजस्विता की वृद्धि होती है।

मृग चर्म असंक्रामक है। इससे पार्थिव विद्युत प्रवाहित नहीं हो सकती। अतः यह साधक की शक्ति को सुरक्षित रखने की क्षमता रखता है।

मृगचर्म पर बैठने से इतनी शीतलता का अनुभव होता है कि कामोत्तेजना दबी रहती है। ध्यान में कोई काम विकार न उत्पन्न हो जाये, इसलिए इनकी शान्ति की व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए ब्रह्मचारी वानप्रस्थी और संन्यासियों के लिए विशेष प्रकार से यह विदित किया गया है। यज्ञोपवीत के समय ब्रह्मचारी को मृगचर्म ओढ़ने का आदेश है। यह कामोत्तेजना को इतना दबाता है कि नपुसङ्कता की सम्भावना हो सकती है। अतः गृहस्थों के लिए या जिन ब्रह्मचारियों को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना है, यह हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इसलिए उस पर कुश अथवा रेशम का आसन बिछाना उपयुक्त रहता है।

मृगचर्मासन पर बैठने से अर्श और भगन्दर रोगों में लाभ होते देखा गया है। आयुर्वेद ग्रन्थों में इसकी बहुत प्रशंशा है।

जाङ्गला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वावतित्तापाहः
तीक्ष्णाः- हृद्याः वस्तिशोधनाश्च।

(सुश्रुत० सूत स्थान ४६ अ०)

इस तरह से मृग को कषाय और मधुर गुण वाला बताया है जो वात और पित्त को नष्ट करता है और रक्त विकार को दूर करता है। खूनी बवासीर और भगन्दर जैसे कष्ट साध्य रोगों में वात पित्त से ही खून में स्वाब बड़ता है। मृग चर्म से वात पित्त का नाश होता है। अतः इन रोगों में लाभ होना कोई बड़ी बात नहीं है।

विज्ञान की दृष्टि में अर्श आदि रोगों में लाभ पहुंचने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

मृग चर्म में विशिष्ट प्रकार की विद्युत तरंगें होती हैं जो प्रयोक्ता के स्नायु मण्डल को प्रभावित करती हैं। गुदा में स्थित-स्नायु मण्डल इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। यह नाभि के प्रधान केन्द्र से सम्बन्धित है। अर्श का अधिष्ठान करने वाली 'महाप्रचोरी' नामक नाड़ी का सम्बन्ध इस नाभि मण्डल से ही है। यहीं पर 'गृहणी कला की नाड़ी का निवास है जो पित्त को धारण करती है और अग्नि का अधिष्ठान मानी जाती है। मृगचर्म की विद्युत तरंगे गुदा के स्नायु मण्डल से नाभि केन्द्र को और नाभिकेन्द्र 'महाप्रचोरा' को प्रभावित करती हैं जिससे अर्श में लाभ होता है। यह कवल सिद्धान्त मात्र नहीं है। अनेकों वैद्यों ने इसका प्रयोग किया और सफलता व ख्याति प्राप्त की है।

प्रश्न यह हो सकता है कि धार्मिक कार्यों में पशुओं के चर्म का उपयोग क्यों? इसका उत्तर यह है कि मृग चर्म अपने आप मरे हुए मृगों का ही विहित माना गया है। मारे हुए मृगों का नहीं। फिर भी गुण और उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए कुछ अपवाद भी ऋषियों ने स्वीकार किये हैं परन्तु वह अपवाद विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर दिखाई देते हैं, अन्ध विश्वास पर नहीं। जैसे वीर्य स्पष्टतः अपवित्र होते हुए भी सबसे उत्पन्न होने वाला पुत्र पवित्र माना जाता है। पशु अशुद्ध संज्ञा में आते हैं परन्तु गाय को माता के उच्च पद से विभूषित किया गया है। उसके मुख को फिर भी अशुद्ध माना गया है। मूत्र अपवित्र माना जाता है परन्तु गोमूत्र की वैज्ञानिक स्थिति अद्भुत है। अतः वह पवित्र है। विष्ठा अशुद्ध वस्तुओं की कोटि में आती है परन्तु गोवर का लिपा चौका पवित्र माना जाता है। मृग और व्याघ्र चम को पवित्र मानने का कारण भी उनमें पवित्र-विद्युत शक्ति की विद्यमानता है। कीड़ा अपवित्र है परन्तु तदुत्पन्न रेशम पवित्र है। उसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों में शुद्ध माना जाता है क्योंकि वह असक्रामक है और विज्ञान की दृष्टि में उपयोगी है। वमन प्रत्यक्षतः अशुद्ध है

परन्तु शहद एक उपयोगी व पौष्टिक खाद्य पदार्थ व उत्तम औषधि मानी जाती है। इसलिए मृग चर्म व व्याघ्र चर्म ऊपरी दृष्टि से हमें अपवित्र दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में यह पवित्र हैं। उनके उपयोग में कोई हानि नहीं है, लाभ ही है।

व्याघ्र व सिंह चर्म

अनुसन्धान से पता चला है कि इन दोनों में राजसिक विद्युत प्रवाहित होती है। इस पर साधना करने से पुरुषार्थ और तेजस्विता का विकास होता है जो क्षत्रित्व का गुण है। इसलिए प्राचीनकाल में जब राज्याभिषेक होता था तो सिंह चर्म को आसन के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। अनुसन्धान से यह भी पता चला है कि मरने के बाद भी उसके चर्म में उसके स्वाभाविक गुण विद्यमान रहते हैं। इसी मान्यता के अनुसार व्यवहार में यह देखा गया है कि व्याघ्र व सिंह चर्म के आसन के निकट सर्प—वृश्चिक व अन्य विषैले कीट नहीं आते। अतः साधक निर्विघ्न रूप से ध्यान, समाधि व अन्य साधनाएँ कर सकता है।

रेशम व ऊन के आसन

गीता (६/११) में नीचे रेशम के वस्त्र बिछाकर ऊपर मृग चर्म बिछाने का आदेश दिया गया है। अथर्ववेद (१८/३/४३) में ऊन के आसन का वर्णन आता है। काम्य कार्य में लाल कम्बल के आसन के उपयोग का परामर्श शास्त्रों ने दिया है। इसका कारण यह है कि यह दोनों असंक्रामक (नान—कन्डक्टर) साधना में उपार्जित विद्युत इन पर बैठने से पृथ्वी में प्रवाहित नहीं हो सकती व सुरक्षित रहती है।

उपरोक्त आसनों में से अपनी साधना के अनुरूप आसन का चुनाव किया जा सकता है।

साधनोपयोगी आसन

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किस योगासन पर बैठकर मन्त्र साधना करनी चाहिए ताकि शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो। ऋषियों ने अनुभव के आधार पर यह आदेश दिया है कि पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन व सुखासन ही जप साधना के लिए उपयुक्त माने गये हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

पद्मासन

यह जप और ध्यान के लिए श्रेष्ठ आसन माना गया है। कुशासन या अपनी साधना के अनुकूल आसन पर बैठें। दांये पैर को बांयें जांघ पर और बांयें पैर को दांये जांघ पर रखें। इसके बाद दांये हाथ को दांये घुटने पर और बांयें हाथ को बांये घुटने पर रखें। यही पद्मासन है, इस आसन में सर, गला, रीढ़ की हड्डी सभी एक सीध में होने चाहिए।

सिद्धासन

हठयोग प्रदीपिका में इसे बहत्तर हजार नाड़ियों के मलों के शोधन करने वाला बताया गया है (१।अ)। इसी पुस्तक (१।११) में कहा है कि इस आसन के सिद्ध होने पर फिर अन्य आसनों की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसकी विधि इस प्रकार से है कि बायें पैर की एड़ी को गुदा के स्थान पर रखें और दांये पैर को लिङ्ग पर रखें। यही सिद्धासन है। घेरण्ड संहिता में कहा है कि इस आसन पर स्थित होकर किसी भी मंत्र की साधना करें, अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। पद्मासन के बाद महत्व की दृष्टि से इसी का अधिक मूल्याङ्कन किया जाता है। इस आसन का अच्छा अभ्यास हो जाये तो अनेकों प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। स्थूल शरीर के साधक भी इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए यह अधिक उपयुक्त माना

जाता है। जो साधक पद्मासन व सिद्धासन पर १५ मिनट के लिए बैठने का अभ्यास कर लेता है और एकाग्रता पूर्वक जप साधना करता है। उसे आशातीत लाभ की प्रतीति होती है। यह आसन वात रोगों में भी लाभदायक सिद्ध हुए हैं। यह रोगों व जांघों की नस नाड़ियों को दृढ़ करने में भी सहायक सिद्ध होते हैं।

स्वस्तिकासन

घुटने और जंघाओं के बीच के स्थान पर पैर के तलवों का लगाकर सुविधा पूर्वक बैठने से स्वस्तिक आसन बनता है।

सुखासन

पालथी मारकर सुविधापूर्वक बैठने को सुखासन कहते हैं। इसमें अधिक देर तक बैठने की भी सुविधा नहीं रहती। साधारणतया इसी आसन पर बैठकर जप किया जाता है।

उपरोक्त आसनों में से किसी भी आसन की सुविधा की दृष्टि से चुना जा सकता है। यह ध्यान रहे कि प्रत्येक आसन में सर गला रीढ़ एक सीध में रहें। झुक कर बैठना आसन के नियमों के प्रतिकूल हैं।

आसन सिद्धि के लिये आधे घण्टे से अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। धीरे धीरे इसे तीन घण्टे तक बढ़ाना चाहिए। इस तरह से एक वर्ष में आसन सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। आसन सिद्धि प्राप्त होने पर ही मन्त्र जप सिद्धि की आशा की जा सकती है।

आसन पर किस दिशा है मुख करके बैठना उपयुक्त रहता है। इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

दिशा विचार

मन्त्र जाप में दिशा का भी विशिष्ट स्थान है । अपनी इच्छा से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी दिशा में बैठकर वांछित लाभ की प्राप्ति करना कठिन है । हर प्रकार की साधना के लिए अलग अलग दिशाओं का निर्धारण किया गया है ।

प्रातः कालीन सन्ध्या, जप के लिए पूर्व की ओर मुख करते का विधान है । पूर्व देवताओं की दिशा मानी गई है । शतपथ ब्राह्मण (१।७।१।१२) में कहा है :—

"प्राची हि देवानां दिक् "

देवताओं की दिशा पूर्व है ।

अथर्ववेद (३।२७।१) में इन्द्र को पूर्व दिशा का स्वामी माना है और यह भी लिखा है कि संसार की रक्षा के लिए उस दिशा में सर्प, धाता, अर्यमा आदि अदित के पुत्र भी निवास करते हैं । विवाह आदि कार्यों में भी पूर्व दिशा ही विहित मानी गई हैं । अथर्ववेद १२।३।७ में कहा है :—

प्राचीं-प्राचीं प्रदिशमार भेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिबिष्टग्नौ, तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ।।

"हे दम्पत्ति ! तुम पूर्व की ओर बढ़ो, उस स्वर्ग पर श्रद्धावान् ही चढ़ पाते हैं । तुमने जो पका हुआ ओदान अग्नि में रखा है, उसकीरक्षा के निमित्त स्थित रहो ।"

उड्डीश तन्त्र में वशीकरण की सिद्धि के लिए पूर्वाभिमुख साधना करने का विधान बताया है —

जपेत्पूर्व मुखो वश्ये............

सन्ध्या में पूर्व की ओर बैठने का प्रमुख कारण यह है कि सूर्य पूर्व की ओर से उदय होता है । सूर्य अग्नि और तेजस्विता का प्रतीक और प्राणशक्ति का महा भन्डार है, उसकी हर किरण में आरोग्य ओत् प्रोत्

हैं। इसलिए सूर्य को स्थावर जङ्गम की आत्मा कहा जाता है। सूर्य से प्राण शक्ति को आकर्षित करने के लिए आवश्यक है कि उसकी ओर ही मुख किया जाए। सूर्य साम को पश्चिम की ओर चला जाता है। इसलिए सायंकालीन साधना पश्चिम की ओर मुख करके की जाती है। अपनी प्राण विद्युत को विश्व की महानतम प्राण विद्युत के स्रोत सूर्य के अनुकूल प्रवाहित करने से साधना की सफलता में सुविधा रहती है। विपरीत धारा में चलने से कठिनाई स्वाभाविक है। ईसाई अपने गिरजाघरों के द्वारा पूर्व की ओर ही रखते हैं। पारसी बौद्ध और जैनियों की भी यही मान्यता है।

सायंकालीन सन्ध्या पश्चिम की ओर मुख करके होती है क्योंकि सूर्य पश्चिम में अस्त होता है। जिधर सूर्य की दिशा होगी, उधर ही मुख करने का विधान है। प्रातः पूर्व की ओर, सूर्य की ओर मुख करके साधना करने के जो लाभ प्राप्त होने चाहिए। वही लाभ सायं पश्चिम की ओर मुख करने से प्राप्त होने स्वाभाविक हैं।

अथर्ववेद ३।२७।३ में पश्चिम दिशा का स्वामी वरुण को माना गया है। वही पश्चिम दिशा से अनुग्रह प्राप्त करने की आकांक्षा भी की गई है। अथर्ववेद ३।२६।३ में भी पश्चिम दिशा में देवताओं का निवास माना गया है। उड्डीश तन्त्र २१४ में लिखा है कि धन प्राप्त हेतु पश्चिम की ओर मुख करके साधना करनी चाहिए।

अथर्ववेद ३।२७।२ में दीक्षा दिशा के स्वामी इन्द्र को माना गया है। पितरों को उसी दिशा में नमस्कार किया गया है।

दक्षिणां दिशाभमि नक्षमाणौ पर्यावतर्तेथासभि पात्रमेतत्।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाथ शर्भ।
बहुल्लंनियच्छात्॥

'हे दम्पत्ति! तुम दक्षिण की ओर जाकर इस पात्र की प्रदक्षिणा करते हुए आओ। उस समय पितरों से सहमत हुए यमराज तुम्हारे ओदन के लिए अनेक प्रकार कल्याण प्रदान करें।'

पितरों की दिशा दक्षिण है। पितृकर्म में दक्षिण की ओर ही मुख करने का विधान हैं । अन्य दिशाओं में पितरों का आवाहन उचित नहीं प्रतीत होता पूर्व की ओर सूर्य का प्रचण्ड तेज होता है। अतः उनके आवागमन में असुविधा रहेगी। यदि उत्तर की ओर मुख किया जाय तो दक्षिण की ओर से आने वाले पितरों की ओर से पीठ हो जाएगी। आते देखकर पीठ फेरना साधारण अतिथि का भी अपमान माना जाता है फिर अपने पितरों का तो घोर अपमान है। अतः उत्तर दिशा उनके लिए प्रशस्ता नहीं है। आचार्यों का मत है कि 'शिशुमार और ग्रह चक्र' की गतिविधियाँ पूर्व और पश्चिम के मध्य में संचालित होती हैं यह भी पितरों को प्रभावित करती हैं। शास्त्रों में पितृलोक की जो स्थिति स्वीकार की गई है। वह दक्षिण में चन्द्रमा से ऊपर की कक्षा में ही ह। अतः वही दिशा उनके लिए विहित है।

अथर्ववेद ३।२७।४ में उत्तर दिशा के स्वामी सोम माने गए हैं। अथर्ववेद १२।३।२० में कहा है—

अत्तरं राष्ट्र प्रजयोत्तवावद् दिशामुदीधी कृष्णवन्नो अग्रम्।
पाङक्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैविश्वाङ्गैः सह संभवेश्र ।।

"उत्तर दिशा प्रजाओं से युक्त है। यह श्रेष्ठ दिशा तप की श्रेष्ठता प्रदान करे।" अतः उच्च आदर्शों की ओर बढ़ना अभीष्ट हो तो उत्तर की ओर मुख करके साधना करनी चाहिए। स्वाध्याय श्रेष्ठता की ओर प्रवृत्त करने वाला है। अतः इसका विधान भी उत्तर की ओर ही है। उत्तर में भी देवताओं का निवास माना गया है। देवयान उत्तर कीओर ही स्वीकार किया गया है क्योंकि उत्तरायण होने पर सूर्य का झुकाव इधर ही रहता है।

योगाभ्यास उत्तर की ओर प्रशस्त माना गया है–त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् (१८।१९) में कहा है :—

ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञान विवेकतः ।
उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ।।

मूर्ध्न्यां धात्मनः प्राणान्योगाभ्यासं स्थितिश्चरन् ।
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योग प्रवर्तते ।।

"फिर काल प्रभाव से वह विवेक और आत्मज्ञान को प्राप्त होकर, उत्तराभिमुख होकर एक दर्जा से दूसरे दर्जा को प्राप्त होता जाता है। तब वह अपने प्राणों को मूर्धा में धारण करके योगाभ्यास में प्रवृत्त होता है। योग से ज्ञान और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है।"

उड्डीश तन्त्र ११४ में कहा है :—

............विद्यादुत्तरे शान्तिकं भवेत् ।
आयुष्यरक्षा शान्ति च पुष्टि वापिकरिष्यति ।।

"आयु रक्षा, शान्ति और पुष्टि कर्म के लिए उत्तर की ओर मुख करके जप करना चाहिए।"

ऋषि कर्म के लिए उत्तर दिशा इसलिए भी उपयुक्त मानी जाती है क्योंकि उधर ऋषियों की तपःस्थली हिमालय स्थित है जो कि पर्वत समूहों का पिण्ड मात्र नहीं है वरन् तप के प्रभाव से वह स्थान जीवित जाग्रत चेतना है। वहाँ साधना करने वाला अनुभव करता है जैसे वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण ज्ञान और प्रकाश की रश्मियों से सिंचित है, उसका अन्तःकरण भी उस प्रभा से आलोकित होने लगता है। इसलिए उन निर्जीव शिलाखण्डों को शास्त्रकारों ने 'देवात्मा' कहा है। इसी देवात्मा की गोद में बैठकर ही ऋषियों ने अमर शास्त्रों का प्रणयन किया है, उनके मनन व चिंतन वहीं परिपक्व हुए हैं, उनकी विचार-धारा का परिशोधन उसी की अमूल्य देन है। अतः उच्च आदर्शों, मनन चिंतन, स्वाध्याय, योगाभ्यास के लिए उत्तर की ओर मुख प्रशस्त माना गया है।

मन्त्र साधना में दिशा का विचार उपरोक्त नियमों के अनुसार ही होना उपयुक्त है।

—:—

पंचांग सेवन

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हाथ के पाठ, पूजा और अध्य-यन को पञ्चाङ्ग सेवन कहा जाता है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

२—गीता

गीता सम्पूर्ण वेद का सारभूत, हिन्दू दर्शन और धर्म का सार स्वरूपा है। संसार के समस्त मनीषी इसके महत्व को नतमस्तक होकर स्वीकार करते हैं। अब तक इस पर १३०० टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं, जो इस तथ्य कों प्रकाशित करती हैं। गीता मणियों की खान है। यदि युग-युगान्तर तक इस खान से मणियां निकलती रहें तो भी भावी वंश का इसमें से सर्वदा नये-नये अचूक मणि माणिक्य प्राप्त कर प्रसन्न और विस्मित होते रहेंगे। इसे एक अद्वितीय ग्रन्थ की संज्ञा दी जाती है जो कि व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा देने वाली अपने नमूने की आप ही है। विश्व के साहित्य में अब तक जितने ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—उन सब में गीता अपना सर्वोपरि स्थान रखती हैं।

भारतीय धर्म शास्त्रों में गीता का स्थान बहुत ऊंचा है। यद्यपि यह सात सौ श्लोकों का एक छोटा निबन्ध ही कहा जा सकता है पर इसकी मान्यता पच्चीस-पचास हजार श्लोकों वाले ग्रन्थों से कहीं अधिक है। कारण यही है कि इसमें भारतीय सिद्धान्त और उस व्यवहार का विवेचन बहुत युक्ति युक्त, स्पष्ट और संक्षिप्त तथा सरल रूप में किया गया है। हमारी सम्पत्ति में सैकड़ों प्रसिद्ध ग्रन्थों में से जिनमें प्रायः

आन्तरिक मतभेद पाया जाता है, एक मात्र गीता ही ऐसी है जिसे पढ़ कर कोई भी देशी अथवा विदेशी पाठक कुछ सार और निर्णयात्मक निष्कर्ष ग्रहण कर सकता है।

देशी व विदेशी विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' नाम का एक अद्वितीय ग्रन्थ लिखा। उस के आरम्भ में ही वे लिखते हैं :—

"श्रीमद्‌भगवद्‌गीता हमारे धर्म ग्रन्थों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्माण्ड-ज्ञान सहित आत्मविद्या के गूढ़ और पवित्र तत्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्हीं तत्वों के आधार पर मनुष्य मात्र के पुरुषार्थ की अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देने वाला भक्ति और ज्ञान का मेल कराके इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और इसके द्वारा संसार से दुःखित मनुष्य को शान्ति देकर उसे निष्काम कर्तव्य के आचरण में लगाने वाला गीता के समान बालबोध ग्रन्थसंस्कृत के कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता। केवल काव्य की ही दृष्टि से यदि इसकी परीक्षा की जाय तो भी यह ग्रन्थ उत्तम काव्यों में गिना जा सकता है, क्योंकि इसमें आत्म ज्ञान के अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गये हैं, कि वे बूढ़ों और बच्चों को एक समान सुगम हैं, और इसमें ज्ञान-युक्त भक्तिरस भी भरा पड़ा है। जिस ग्रन्थ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवान की वाणी से संग्रहित किया गया है, उसकी योग्यता का वर्णन कैसे किया जाय ?"

योगीराज अरविन्द ने 'गीता प्रबन्ध' नामक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ दो खण्डों में लिखा है जिसे अमेरिका व यूरोप आदि के अनेकों देशों के अनेकों विश्व विद्यालयों ने पाठ्य पुस्तक के रूप में भी ग्रहण किया है। गीता की भूमिका में वह लिखते हैं :—

गीता जगत की श्रेष्ठ धर्म पुस्तक है। गीता में जिस ज्ञान की संक्षेप

में व्याख्या की गई है, वह ज्ञान चरम और गुह्यतम है। गीता में जिस धर्म-नीति का वर्णन किया है, सभी धर्म नीतियाँ उस नीति के अन्तर्गत हैं और उस पर प्रतिष्ठित हैं। गीता में जो कर्म-मार्ग प्रदर्शित किया गया है, वह कर्म-मार्ग उन्नतिशील जगत् का सनातन मार्ग है। गीता असंख्य रत्नों को उत्पन्न करने वाला अथाह समुद्र है। समस्त जीवन इस अथाह समुद्र की तह में पहुँचने की चेष्टा करते रहने पर भी इसकी गहराई का अनुमान नहीं किया जा सकता, इसकी थाह नहीं मिलती। सैकड़ों वर्षों तक ढूँढ़ते रहने पर भी इस रत्न-भण्डार का सहस्राश धन भी आहरण करना दुष्कर है और उसमें से एक भी रत्न निकाल लेने पर दरिद्र धनी हो जाते हैं, गम्भीर विचारशील व्यक्ति ज्ञानी हो जाते हैं, भवगत्विद्वेषी लोग भगवत्प्रेमी बन जाते हैं और महा पराक्रमी शक्तिमान् कर्मवीर अपने जीवन जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए पूरी तरह सुसज्जित और सन्नद्ध होकर कर्मक्षेत्र में लौट आते हैं।

ऐसी गम्भीर और गुप्त—ज्ञान पूर्ण पुस्तक होने पर भी इसकी भाषा अत्यन्त प्रांजल है, रचना अत्यन्त सरल है तथा इसका बाह्य अर्थ सहज ही समझ में आने योग्य है। गीता समुद्र के भीतर डुबकी लगाये बिना, इसकी छोटी २ तरंगों के ऊपर-ऊपर ही सैर करने पर भी शक्ति और आनन्द की पर्याय वृद्धि हो जाती है। गीता रूपी खाद की रत्नोद्भासित गहरी गुणा में प्रवेश न कर, केवल इसके चारों ओर घूमते रहने पर भी घास पात पर पड़ी जो उज्ज्वल मणि मिल जाती है उससे हम इस जीवन में धनी बन सकते हैं।"

गीता हिन्दू धर्म की माननीय पुस्तक अवश्य है परन्तु विश्व के हर धर्म और सम्प्रदाय वालों के लिए यह उपयोगी है। यह किसी विशेष आयु वाले पाठक के लिए ही उपयुक्त नहीं है वरन् इसे बालक, युवक और वृद्ध सभी समान रूप से लाभ उठा सकते हैं। हर व्यक्ति की इसमें अपनी समस्या का समाधान मिलता है। वास्तव में गीता एक ऐसी पुस्तक है जो जीवन यात्रा को सफल बनाने के लिए सबसे बड़ा सम्बल

है। यह आशा और विश्वास की महानतम शक्तियाँ प्रदान करती हैं। जब किसी व्यक्ति पर चारों ओर से बाधाओं के बादल घिरे हों और उनसे निकलने का मार्ग न सूझ पड़ रहा है तो गीता एक प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती है। गीता के विचार एकदम प्रांजल व स्पष्ट हैं। गीता का अध्ययन निर्जीव व्यक्तियों में भी शक्ति का स्रोत खोल देती है। शक्ति का खजाना प्राप्त करके व्यक्ति बड़े साहस के साथ कर्म क्षेत्र में उतरता है, बाधाओं को वह रोंदता हुआ पार करता है। उसकी शक्ति का अनुमान लगाकर बाधायें भी चुपके से मार्ग से हठ जाती हैं ताकि उसकी शक्ति से वह चूर-चूर न हो आए। इसका दूसरा पक्ष भी है। गीता का साधक बाधाओं से खिन्न और दु:खी नहीं होता वरन् उनका स्वागत करता है, उनसे दो-दो हाथ करता है, युद्ध और संघर्ष करता है और रुकावटों को दूर करता है, विरोधियों को पराजित करता है, मार्ग के पत्थरों को तोड़-फोड़ देता है ताकि फिर कभी भी यह आड़े न आए। अत: जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति पथ पर आरूढ़ होने के लिए प्रकाश और शक्ति दोनों का काम करती है।

गीता के पाठक के मानसिक पटल पर यह बात दृढ़तापूर्वक अङ्कित हो जाती है कि संसार संग्राम स्थल है। यहाँ प्रत्येक क्षण सग्राम हा रहा है। यह स्थिति अनादि काल स चली आ रही है। यहाँ बिना संघर्ष के कोई नहीं रह सकता। चाहे और अनचाहे संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष अनिवार्य है आस्तत्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना परमात्मावश्यक है। संघर्ष से डरने वाले जोवन स हाथ धो बैठते हैं। एसे लोग स्वयं की ही रक्षा नहीं कर पाते। अपनी रक्षा करने के लिए वे दूसरों का मुँह ताकते हैं। एक तरह से ये लोग दूसरों पर भार बन कर रहते हैं। ऐसे लोगों से दूसरों की सहायता करने की बात सोचना व्यर्थ है। जो प्रसन्नतापूर्वक संघर्षों का स्वागत करते हैं उन्हें देखकर कठिनाइयों की आंधी भीषणता स्वयं समाप्त हो जाती है। वस्तुत: ये कठिनाइयाँ, विपदायें और संघर्ष ही जिन्दगी की सच्ची पाठशाला है। इनकी आग

में तप कर ही मनुष्य का खरापन प्रमाणित होता है । संघर्ष वस्तुतः जिन्दगी रूपी सोने के ऊपर भय, भ्रम, निराशा और आलस्य के जमे हुए मैल को भस्म करने आते हैं। इसलिए संघर्ष ही सच्चा मित्र है । संघर्ष देखने में भयावने लगते हैं पर इनके अन्दर स्वर्ग का सुख छिपा रहता है। जो व्यक्ति हिम्मत न हार कर निरन्तर उद्योग करता है, वही इनकी झोली में छिपे हुए अवसर, कीर्ति, मानवैभव सफलता औरआनन्द रूपी हीरे-मोती पाता है। दुनियाँ में जिन्होंने भी वैभव, सम्मान और यश पाया है, वे लोग ही हैं जो संघर्ष में कतराते नहीं, हँसकर परि-स्थितियों को अपनी इच्छानुकूल बदल लेते हैं। अगर संघर्षों का अस्तित्व न हो तो आदमी का पतन हो जाये, उनकी सारी शक्तियाँ कुण्ठित हो जायें और आदमी बिना हाथ पैर हिलाये जहाँ का तहाँ पढ़ा रहे । इसलिए मानव जाति को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के लिए संघर्षों का ऋण स्वीकार करना ही होगा। संघर्ष ही वरदान है. पारस है, काम धेनु और कल्प वृक्ष है ।

गीता धार्मिक ग्रन्थ होते हुए भी एक व्यावहारिक ग्रन्थ है जिसके हर एक वाक्य का सम्बन्ध हमारे जीवन के प्रत्येक कर्म से है। आपकी कठिनाई और मुसीबतों का उत्तर गीता ही देती हैं। कर्म करने वाले सिपाही का यह कोष है जिसमें हर कर्म का अर्थ उपस्थित है :

गीता ६ तत्वों, साधनों और सिद्धियों का समन्वय साधन है। इसमें अनेकों प्रकार की साधनाएँ वर्णित हैं जो आध्यात्मिक रूप से जीवन का उत्थान करती हैं। गीता मानव को अपने वास्तविक जीवन का बोध कराती है कि तुम केवल हाड़-माँस के पुतले मात्र नहीं हो कि इसी के लालन-पालन में ही अपने मूल्यवान जीवन को नष्ट कर दो, अपनी आत्मिक शक्तियों को समझो और उन्हें विकसित करने का प्रयत्न करो। गीता डंके की चोट से कहती है कि हर काम को निर्भीकता से करो, शरीर के नाश से भयभीत मत हो क्योंकि शरीर नष्ट होने पर जीवन का आत्मा का नाश नहीं हो जाता। जीवन तो अखण्ड है, इसका अंत

इस शरीर के साथ नहीं हो जाता। अन्त निरन्तर कर्म किये जाओ और आशावान रहो कि जीव की समस्त क्रियाओं का अङ्कन मानसपटल पर होता रहता है जिसकी प्रतिक्रिया परिणाम के रूप में समय-समय पर उपस्थित होती रहती है।

गीता योग शास्त्र है जिसका संकेत हर अध्याय के अन्त में लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि गीता में ऐसी सामग्री ओत-प्रोत है, ऐसे साधन विद्यमान हैं जो जीव को परमात्मा से मिलने में सहायक होते हैं। गीता एक ऐसा अमृत है जिसका पान करने पर साधक अमर हो जाता है।

मन्त्र साधन में गीता के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। मन्त्र साधन में सफलता तभी मिलनी सम्भव है जब साधक निर्विघ्न रूप से चले, मन उसमें रुचि ले, वह इधर-उधर वासनाओं की ओर आकर्षित न हो। चिन्ताओं और दुःखों के कारण मन व्याकुल न रहे। जब तक मन निश्चित न होगा, एकाग्रता की स्थिति नहीं आ पायेगी। एकाग्रता प्राप्त किए बिना शक्ति का सृजन सम्भव नहीं है। अतः मन्त्र सिद्धि में बाधाएँ आती रहेंगी। गीता निर्भय और चिन्ता रहित जीवन जीने की साधना है। मन की यह स्थिति होने पर ही साधना में रुचि, एकाग्रता और सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अतः गीता का पाठ व अध्ययन, मनन, चिन्तन, मंत्रयोग का एक आवश्लक अङ्ग बताया गया है जो युक्ति युक्त है।

२—सहस्रनाम

जगत दो प्रकार का है—जड़ और चेतन। जड़ चेतन पर आधारित रहता है। चेतन से ही जड़ में गति आती है। हम देखते हैं कि जमें दिखाई देने वाली वस्तुओं में भी एक व्यवस्थित गति है। एक नियमित प्रक्रिया के अनुसार वह कार्य करती रहती है। सर जगदीश

चन्द्र वसु ने तो वृक्षों और धातुओं तक में जीवन-तत्व की विद्यमानता को सिद्ध किया था। प्लाटिनम का उदाहरण ले सकते हैं। वह विष से मर जाती है। उद्भिजों में तो स्पष्ट रूप से चेतना-शक्ति दृष्टिगोचर होती है। इस सम्बन्ध में जो प्रयोग किये गये हैं, उनसे यह निर्णय करना सरल हो जाता है कि उद्भिज में सोचने की शक्ति है, उसमें गोचरता और इच्छा-शक्ति भी अवश्य है। ज्ञान और कर्म-तन्तुओं के अभाव में इन गुणों का विकास कैसे सम्भव हो सकता है ?

मानव में तो इसके विविध रूप हैं। घृणा, ईर्षा, द्वेष, लज्जा भी और दया, क्षमा, करुणा, परोपकार, निःस्वार्थता, श्रद्धा, विश्वास भी। मस्तिष्क और इन्द्रियों की चेतना शक्ति प्रत्यक्ष हैं। इनमें दोनों प्रकार की विपरीत धारणायें रहती हैं, भावों का आवागमन रहता है। मन तो एक अपूर्व चेतना पिण्ड है, जिसकी क्रियाशीलता का अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं है। मानव के हर अङ्ग में चेतना और स्फूर्ति है। इसी से सृजन और संहार की दोनों प्रकार की प्रक्रियाएं सञ्चालित होती हैं। ऋतु आती है, दो प्राणियों में एक होने की इच्छा जाग्रत होती है। उनका मिलना सृष्टि-प्रक्रिया का मूल बन जाता है। दोनों के संयोग से एक नया चेतन-पिंड स्थापित हो जाता है, जिसके अणु-अणु में चेतना भरी रहती है। विज्ञान ने भी इस क्रिया को समझने का प्रयत्न किया है। जीवन-विज्ञान का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों का यह मत स्थिर हो गया है कि जीवों में जो जीवन तत्व होता है, उसका नाश नहीं होता। जीवन अंकुरों (Chromosome) जीव के साथ रहते हैं ओर भौतिक शरीर के नष्ट होने पर वह संस्कार और चेतन-रूप में रहते हैं। इसलिए जीवन को अनादि और अनन्त कहने में कोई सन्देह नहीं रह गया।

विश्व में चेतना की प्रक्रिया व्यवस्थित है। जब सृजन होता है, तो ऐसा लगता है कि हर वस्तु अन्दर से बाहर आ रही है, चाहे यह मानव में ही पशु-पक्षियों या पेड़-पौधों में हो। सहार के समय वह

बाहर से अन्दर की ओर आती है, क्योंकि उन्हें विश्व-चेतना में लीन होना है। यह दोनों खेल एक ही चेतना हैं। अंकुरों के आकश की ओर उठने की प्रक्रिया में भी और उनकी पत्तियों के पृथ्वी पर गिरने पर मिट्टी में लीन होने की स्थिति में भी एक ही चेतना-शक्ति काम करती है। वह सबमें व्याप्त है—किसी में सुप्तावस्था में और किसी में जाग्रतावस्था में। जाग्रतावस्था होने पर वह विशेष रूप से क्रियाशील रहती है। परन्तु वह पक्षपातरहित हैं, उसे किसी से लगाव नहीं है। वह सबमें एक ही प्रकार की अविरल गति से प्रवाहित होती है।

इसके प्रमाण चारों ओर देखे जा सकते हैं। अपने शरीर का ही उदाहरण लें। उसमें हृदय की गति बराबर चलती रहती है। इस गति का चलते रहना ही जीवन कहलाता है और रुकना ही मृत्यु। मन निरन्तर गतिशील रहता है। जो विचारों को गतिशील रखता है, वही व्यक्ति अलग-अलग क्षेत्रों में महान् प्रतिभाशाली बनता हैं। शरीर एक कारखाना है। उसके सभी अंग अपने आप कार्यरत रहते हैं। रक्त अविरल गति से प्रवाहित होता रहता है भोजन करने पर पाचन-क्रिया होती रहती है, मलों का विसर्जन होता रहता है और श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी लम्बे समय तक सहचालित होती रहती है। शरीर को गतिशील रखने से वह स्वस्थ व शक्ति-सम्पन्न रहता है। मालिश व अन्य व्यायाम करने से शरीर में एक प्रकार की विद्युत दौड़ती है, जो उसकी शक्तियों का विकास करती हैं। जो इस विद्युतधारा के प्रवाहित करने में असमर्थ रहते हैं, वही अस्वस्थ और रोगी बने रहते हैं।

सूक्ष्म शक्तियों के विकास का आधार भी यही है। साधक व्रत, उपवास, जप, तप, हवन, पाठ, पूजा यौगिक क्रियाएँ, आसन, प्राणायाम, चिन्तन, मनन आदि के द्वारा सूक्ष्म शरीर के सुप्त शक्ति-केन्द्रों को जाग्रता करता है। इसमें गति की ही अपेक्षा है।

संसार की हर वस्तु गतिशील है। वायु गति का परिणाम है।

शब्द गति से ही सुनते है । स्पर्श, रस और गन्ध की अनुभूति भी विभिन्न प्रकार की तरङ्गों से होती है । शरीर की सर्दी-गर्मी का अनुभव होना भी सूक्ष्म तरङ्गों से सम्पन्न होता है । विद्युत और चुम्बक का आकर्षण भी गति से ही होता है । सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत और तारा-मण्डल के तेज में तरङ्गों का विज्ञान निहित है ।

विश्व की हर वस्तु गतिशील है । जिस धरती पर हम निवास करते हैं, उनकी अनेकों गतियाँ हैं । वह अपनी धुरी पर घूमती हैं, मँडराती हैं, सूर्य की परिक्रमा करती हैं, सूर्य के साथ कृत्तिका मण्डल की परिक्रमा करती है । अपनी धुरी पर वह २४ घण्टों में घूम जाती है । सूर्य की परिक्रमा वह एक वर्ष में करती है । मडराने की गति २६ हजार वर्षों के पूर्ण होती है ।

पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले हर प्राणी में गति है । गति से ही वह प्राणी कहलाता है : मनुष्य के अतिरिक्त पशु, पक्षी, कीट, पलङ्ग और कीड़े-मकोड़े सभी गतिशील है । पेड़-पौधों में भी गति होती है, तभी तो वह निरन्तर बढ़ते रहते हैं । मिट्टी और पत्थर में भी अव्यक्त गति रहती है । जब उन्हें ऊपर फेंका जाता है, तो पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से वह नीचे आ जाते है ।

वनस्पति जगत में भी इस असीम सक्रियता को प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है । यदि हम इस प्रक्रिया का निरीक्षण करें कि किस प्रकार पुष्प में रङ्ग और गंध भरी जाती है और किस प्रकार भंवरों को आकर्षित किया जाता है—तो इसकी सत्यता सिद्ध हो जायेगी । केवल फूलो में ही नहीं, समस्त वनस्पतियों में यह सृजन-क्रिया दृष्टिगोचर होती हैं और यह बताती है कि अणु-अणु में, कण-कण में इसके दर्शन हो रहे है ।

पदार्थ (Matter) में गतिहीनता नहीं है, गतिशीलता है । उसे सृजन क्रिया में व्यस्त देखा जा सकता है । आधुनिक विज्ञान ने भी इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है । विज्ञान बताता है कि पदार्थ और जीवन

अभिन्न है, एक है । उनको अलग नहीं किया जा सकता । कुछ वैज्ञानिक तो जीवन को पदार्थ का एक गुण घोषित करते हैं । विश्व चेतना भी दोनों की एकता ही सिद्ध करती है क्योंकि जब हम सृष्टि की हर जड़-चेतन वस्तु का निरीक्षण करते हैं, तो स्पष्ट विदित होता है कि हर वस्तु में सक्रियता है । यहाँ क्रियाहीन कोई पदार्थ हैं ही नहीं । अणु-विज्ञान इलेक्ट्रोन को भौतिक इकाई नहीं मानते । वे इस विद्युत पुन्ज में गतिशीलता और इच्छा-शक्ति की विद्यमानता स्वीकार करते हैं । अणु में इच्छा का होना वास्तव में वैज्ञानिकों के लिये आश्चर्य का विषय हैं, परन्तु है यह अटूट सत्य । कुछ भी हो पदार्थ और जीवन अविभाज्य हैं ।

वर्गसाँ इसे स्वीकार करते हुए कहते है—"पदार्थ (Matter) में ही जीवन की इच्छा निहित हैं । वह इच्छा-शक्ति बाह्य नही, आंतरिक है, जो प्रगति की ओर ऊर्ध्वमुखी है । मनुष्य में यहीं इच्छा चेतन के स्तर पर पहुँच गयी है । पर सभी रूप-आकारों में यह इच्छा प्रगतिशील जीवन की जननी है । यही ब्रह्म का मातृरूप है ।'

इस विश्व का हर परमाणु तीव्र गति से अपना कार्य कर रहा है । पृथ्वी तो सूर्य की परिक्रमा साढ़े अठारह मील प्रति सैकिन्ड की गति से करती है, परन्तु यहां हर एक परमाणु हजारों मील प्रति सैकिण्ड की गति से घूम रहे हैं । तभी तो परमाणु की शक्ति का मूल्यांकन करते हुए महान् वैज्ञानिक सर जे० जे० टामसन ने कहा था—'यदि एक परमाणु के अन्दर छिपी शक्ति निकल पड़े, तो एक क्षण के अल्पांश में ही लन्दन जैसे घनी आबादी वाले तीन नगर ध्वस्त हो जाएं । यह उस परमाणु का विद्युत और गति के कारण ही हैं ।'

सार यह है कि सारा विश्व गतिमय हैं—शक्तिमय है । किसी की शक्ति व्यक्त है और किसी की अव्यक्त । सारे ब्रह्मांड में शक्ति के खेत लहलहा रहे हैं, शक्ति के बीज बिखरे पड़े हैं । ब्रह्मांड में व्याप्त विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ सृष्टि के संचालन और नियन्त्रण में व्यस्त हैं । उन्हीं

शक्तियों के बल पर ही इस विश्व की गतिविधियां संचालित हो रही हैं। यदि यह शक्तियाँ अपना काम न करती तो यह विश्व एक शमशान की तरह होता, सब ओर जड़ता के ही दर्शन होते, गति के कोई चिन्ह कहीं दृष्टिगोचर न होते। विश्व का सौन्दर्य उन शक्तियों की गतिशीलता के कारण ही हैं। इन शक्तियों को भारतीय अध्यात्म विद्या की भाषा में देवता नाम से अभिव्यिय किया जाता है। इन देव शक्तियों को उस परम शक्तयां की उस परम शक्ति-परमात्मा की किरणें ही समझना चाहिए। उत्पत्ति, स्थिति व विनाश के प्रतीक तीन देव हैं — ब्रह्मा, विष्णु महेंश। पंच तत्त्रों की प्रतीक शक्तियाँ हैं—आदित्य, वरुण मरुत, द्यौ, आन्तरिक्ष। गणेश, बृहस्पति, इन्द्र, पूषा, अश्विनी, विश्वेदेवा अधर्मा, तृष्टा: वसु, आदि शक्तियाँ सृष्ठि सँचालन के विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहती हैं। दिव्य होने के कारण इन्हें देवता की संज्ञा दी गई हैं। इन शक्तियों की गणना करना तो सम्भव नहीं है परन्तु जिन तत्वदर्शी ऋषियों ने इन शक्तियों की खोज की थी, उन्होंने इनकी संख्या एक हजार ही मानीं है। समझने की सुविधा के लिये इन देव-शक्तियों का नामकरण भी किया गया है जिनसे उनके गुणों का स्पष्टी-करण होता है। ऐसी रचना अथवा स्तोत्र जिसमें एक हजार देव-शक्तियों का नाम होता है, सहस्रनाम कहलाता है। हर देवता के सहस्रनाम स्तोत्र बने हुए हैं। उनके पाठ-पूजा से कल्याण की सम्भाव-नाएं व्यक्त की जाती हैं। सहस्रनाम पाठ से तो निश्चय रूप से लाभ होता ही है। इसमें दिये एक हजार देवताओं की सूची नाम मात्र के लिये नहीं है वरन् हर नाम में निहित तत्वों, तथ्यों, गुणों, प्रभावों और विशेषताओं का विश्लेषण है। उन पर विचार करना आवश्यक है। उनसे प्रेरणा और बल मिलता है।

साधक यह विचार करता है कि मेरा शरीर-पिन्ड भी एक ब्रह्मांड है जो उसे विशल ब्रह्मान्ड का एक संक्षिप्त संस्करण है। उस ब्रह्माण्ड की तरह मेरे पिन्ड में वही देव शक्तियाँ काम कर रही हैं, इनके गुण

और स्वभाव भी वही हैं जो सृष्टि प्रक्रिया में संलग्न देव शक्तियों के हैं तभी पिंड और ब्रह्मांड में सादृश्यता का सिद्धान्त निश्चित किया गया है। सहस्रनाम पाठ व चिन्तन करते हुए साधक विचार करता है कि मुझे सृष्टि सञ्चालन में सक्रिय देव शक्तियों का अनुग्रह, आ ीर्वाद और सहयोग प्राप्त हो रहा है और मेरे पिण्ड में स्थित देव शक्तियाँ विकसित जाग्रत और क्रियाशील होती जा रही हैं। मैं एक शक्ति पिण्ड के रूप में परिणित होता जा रहा हूँ। सक्रियता व क्रियाशीलता मेरी नस-नस में ओत-प्रोत होती जा रही है। जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति के लिए यह चेतना अपेक्षित है। मन्त्र साधना की सिद्धि में इससे अपार बल मिलता है। जिस साधक की चेतना सुप्त रहती है उसे मंत्र सिद्धि से दूर का भी वास्ता नहीं रहता। अतः इस चेतना को जीवित-जाग्रत रखने के लिए सहस्र नाम पाठ व मनन-चिन्तन करते रहना चाहिए। यह मंत्र-साधना में निश्चय रूप से सहायक होता है।

३-स्तवन

अपने इष्ट देवता के गुणों का गान करना स्तवन कहलाता है। स्तवन मंत्र साधना की एक सहायक प्रक्रिया है जिससे मंत्र साधना को बल मिलता है। जिस शक्ति को प्राप्त करने के लिए हम जप, तप साधना, अनुष्ठान कर रहे हैं, उसकी विशेषताओं की जानकारी रखना हर साधक के लिए आवश्यक है। उससे साधक की श्रद्धा-विश्वास में वृद्धि होती है। स्तवन करते समय साधक यह सोचता है कि मेरे आराध्य देव मेरे समक्ष खड़े मेरी स्तुति को सुन रहे हैं, मेरी भावनाओं से प्रसन्न हैं और हार्दिक आशीर्वाद दे रहे हैं। उससे सफलता का विश्वास जाग्रत व विकसित होता है। स्तुति इष्ट देव के सन्निध्य में रहने का एक साधन है जिससे शक्ति अवतरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। मनुष्य अपूर्ण है, उसकी शक्तियाँ सीमित हैं। शक्ति-विकास

के लिए वह पूर्ण की, असीम की सहायता व मार्गदर्शन चाहता है। पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिए पूर्ण की समीपता आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्तुति भी एक साधन हैं।

इस जगत की कुछ भौतिक शक्तियाँ व ऐश्वर्य प्राप्त करके अविवेक पुरुषों को अहङ्कार का महारोग घेर लेता है। वह अपने को शक्ति सम्राट समझते हैं, अपने से छोटों पर अन्याय व अत्याचार करते हैं, उन्हें घृणा व उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, ईश्वर की उपासना तो क्या उसके अस्तित्व पर ही सन्देह करने लगते हैं। यह पतन के चिन्ह हैं। अहङ्कार इसकी शक्तियों को नष्ट कर देता है।

इष्ट देव की स्तुति करने वाले साधक में यह अवगुण नहीं पनपने पाता। वह अपनी सीमित शक्तियों व अपूर्णता को अनुभव करता है और यह समझता है कि उससे कोई बड़ी शक्ति उसकी गतिविधियों का नियन्त्रण व संचालन करती है। इसमे नम्रता आती है, अहङ्कार नहीं बढ़ पाता और आत्मिक विनाश से सुरक्षा होती है।

स्तुति में इष्टदेव के गुणों और विशेषताओं का विस्तृत विवेचन होता है। देवता से सम्बन्धित कुछ चमत्कारी घटनायें ऐसी होती हैं जो केवल विश्वास और श्रद्धा को बनाये रखने के लिए होती हैं। उन शक्तियों को प्राप्त करना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव भी नहीं होता परन्तु स्तुति में कुछ ऐसी मानवीय महानताओं का भी उल्लेख होता है जिनको व्यवहारिक रूप देना सरल होता है या थोड़े से प्रयत्न से उस का पालन किया जा सकता है। मानवीय विभूतियों के विकास के लिए साधारण व्यक्तियों के उपदेश कुछ काम नहीं करते। उसी व्यक्ति का उपदेश मन को प्रभावित करता है जिसके प्रति कुछ श्रद्धा हो। स्तुति एक प्रकार का मौन आग्रह होता है कि उपासक को अपने अन्तःकरण में इष्ट देव के आदर्शों की स्थापना करनी ही चाहिए अन्यथा वह श्लोकों का उच्चारण थोथा कर्मकाण्ड मात्र ही रह जायगा। साधक नित्य-प्रति जिन श्लोकों का पाठ करता है अथवा आदर्शों को स्मरण करता है, उनकी

छाप मन पर पड़ती ही है। अतः स्तुति का उद्देश्य दिव्यताओं का विकास करना है जो अपने इष्टदेव के माध्यम से ही सुविधा से सम्पन्न होता है। यह प्रक्रिया मन्त्र साधना की सफलता में सहायक सिद्ध होती है।

४-कवच

कवच का उद्देश्य बाहरी आक्रमणों से रक्षा करना है। जिस वस्तु से रक्षा का काम लिया जाता है, उसे कवच कहते हैं। इसका अर्थ भी आच्छादन है। किसी वस्तु से अपने शरीर को आच्छादित कर लिया जाय तो उसे कवच ग्रहण करना कहा जायगा। प्राचीनकाल के युद्धों में अस्त्रों से सुरक्षा के लिए चमड़े और लोहे से निर्मित विशिष्ट वस्त्र पहने जाते थे ताकि उन अस्त्रों का प्रभाव शरीर पर न हो पाय। युद्ध में सुरक्षा के काम में आए उन वस्त्रों को कवच कहा जाता था।

शरीर की सुरक्षा के लिए जिस तरह चमड़े और लोहे के बने कवच का प्रयोग किया जाता था, उसी तरह आसुरी सूक्ष्म प्रकोपों से बचने के लिए आध्यात्मिक शक्ति से ओत-प्रोत दैवी कवच की व्यवस्था की जा सकती है। ऐसी शक्तियों को अपने चारों ओर आच्छादित करने से उनसे सुरक्षा बनी रहती है।

आसुरी शक्तियों का स्वभाव ही श्रेष्ठ कर्मों में विघ्न डालना ही होता है अपने स्वभावगत कर्मों को वह सम्पन्न करती ही रहती है। शास्त्रों में अनेकों प्रकार के ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब ऋषि महर्षि और महान पुरुषों को भी इन शक्तियों का सामना करना पड़ा है। विश्वामित्र विश्व कल्याण के लिये एक महायज्ञ सम्पादित कर रहे थे राक्षसों ने उसका विरोध किया और उसे असफल करने के प्रयास किए। जब विश्वामित्र को यह आभास हुआ कि यह किसी तरह भी यज्ञ को चलने नहीं देंगे तो वह अयोध्या जाकर राम और लक्ष्मण को लाए थे जिन्होंने अपने पराक्रम और वीरता से उन्हें पराजित किया

और यज्ञ निर्विघ्न पूर्वक सम्पन्न हुआ उसी तरह सभी यज्ञीय श्रेष्ठ कार्यों में विरोध और विघ्न आते हैं उनसे सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक होती है ताकि उस क्रिया को सफलता पूर्वक सम्पन्न किया जा सके।

आत्मिक उत्थान की व्यक्तिगत साधनाओं में भी आसुरी आक्रमण होते हैं। भगवान बुद्ध ने जब बोधि के वृक्ष नीचे घोर तपस्या आरम्भ की थी और निश्चय किया गया था कि निर्वाण का मार्ग खोज कर ही यहाँ से उठूँगा तो भयानक आसुरी शक्तियों ने उस तपस्या रूपी यज्ञ में घोर विघ्न डाले थे। बुद्ध ने भी उनसे संघर्ष किया यदि वह निराश और भयभीत हो जाते तो तप असफल रहता और विश्व को महान विचार और अनुभव प्राप्त न होते जो आज बुद्ध के कारण उपलब्ध हैं।

यह परिस्थितियाँ हर व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में आती हैं। आज चलचित्रों का व्यापक प्रचार है और देश में एक जाल सा बिछा हुआ है। अधिकांश व्यक्ति मनोरंजन के लिए इन्हें देखते हैं। इनके निर्माता इन में ऐसी सस्ती सामग्री भरने का प्रयत्न करते हैं जो साधारण व्यक्ति की आकर्षित कर सके। अश्लील नृत्य, गायन और हावभावों से यह ओत प्रोत होते हैं। अर्द्ध नग्न युवतियाँ इधर उधर कूदती फाँदती रहती हैं। कुछ चाँदी के सिक्कों की प्राप्ति के लिए जनता में काम वासनाओं को भड़काने का यह कुकृत्य सर्वथा निन्दनीय है। आध्यात्मिक भाषा में इसे आसुरी प्रकोप कहा जाता है। कामुक उत्तेजना उत्पन्न करने वाली कहानी पत्रिकाएँ और उपन्यास भी काफी मात्रा में प्रकाशित होते हैं जो पाठक को वासनात्मक प्रवृत्तियों की ओर ही धकेलते हैं। साधारण व्यक्ति इन कुप्रभावों को अनुभव नहीं कर सकते। कुछ विवेकी पुरुष भी इनके दुष्प्रभावों से परिचित होते हैं और बचने का प्रयत्न करते हैं।

केवल काम ही नहीं, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि शत्रु हर समय अपने अस्त्र-शस्त्र लिए तैयार रहते हैं और व्यक्ति की निर्बलता का लाभ उठाकर प्रहार करते हैं और पतन के मार्ग की

ओर घसीट ले जाते हैं। कोई बिरले व्यक्ति ही इनसे बच पाते हैं। इसीलिए अधिकांश व्यक्तियों का आत्मिक स्तर गिरा हुआ होता है। लोभ के वशीभूत होकर वह हर तरह के गिरे हुए काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं और पतन के गर्त में गिरे ही रहते हैं जब तक कि कोई शक्तिशाली महात्मा पुरुष उनको अपने आत्मबल अथवा सत्संग से उठा न दे। दूसरों द्वारा उत्थान की प्रक्रियाएँ बहुत कम ही सम्पन्न हो पाती हैं। हर व्यक्ति को स्वयं ही इसके लिए व्यवस्था करनी चाहिए।

ऋषियों ने मंत्र शक्ति, कर्मकाम और श्रद्धा से सम्मिलित ऐसी आध्यात्मिक दैवी कवच की व्यवस्था और निर्देश दिया है जिससे इस दूषित वातावरण के कुप्रभावों से सुरक्षित रहा जा सके।

कवच पाठ स्तोत्र की तरह होते हैं। इनमें शक्ति सम्पन्न मन्त्र तो होते ही हैं। उनके पाठ की भी विशिष्ठ विधि होती है। श्रद्धा की नींव पर जब यह क्रिया सम्पन्न हो जाती है तो सफलता मिलनी निश्चित हो जाती है। कवच पाठ में यह दृढ़ भावना भी करनी होती है कि "हमारे चारों ओर देव शक्तियाँ दिव्य अस्त्र-शस्त्र लिए खड़ी हैं। वह किसी भी आसुरी शक्ति से लोहा लेने के लिए सक्षम हैं, अब आसुरी शक्तियाँ प्रहार करने का साहस नहीं कर पा रही है। मैं हर प्रकार से सुरक्षित हूँ।"

मंत्र साधक के लिए इस दैवी कवच का धारण करना आवश्यक होता है क्योंकि आसुरी विघ्नों से साधना की प्रगति रुकी रहती है। साधना अबाध गति से चलती रहे, इसके लिए दिव्य शक्तियों का सहयोग होना ही चाहिए।

५-हृदय

हृदय पाठ सभी देवताओं के उपलब्ध होते हैं। मन्त्र साधक को अपने इष्टदेव का हृदय पाठ भी करना चाहिए। हृदय वैसे तो मानव शरीर का एक आवश्यक अंग है जिसकी गति रुकने पर शरीर का अंत

ही हो जाना है । परन्तु आध्यामिक हृदय का अभिप्राय है—तत्व, रहस्य । साधक को अपने इष्ट देवता के तत्वज्ञान से भी परिचित होना ही चाहिए । केवल श्रद्धा और विश्वास के आधार पर चल रही साधना कभी भी लड़खेड़ा सकती है । उसमें अनेकों प्रकार के विघ्न आ सकते हैं । एक बार अश्रद्धा और अविश्वास होने पर पुनः साधना में सलग्न होना सहज नहीं होता । साधना के रहस्य और तत्व को जानकर विवेक पूर्वक जो साधना आरम्भ की जाती है, उसमें स्थायित्व होता है और सफलता भी शीघ्र प्राप्त होती है । उदाहरण के लिए हम भगवान विष्णु के तत्व ज्ञान व रहस्य को यहाँ प्रस्तुत करते हैं । विष्णु साधक को अपने इष्ठ देव का चिंतन इस प्रकार करना चाहिए:—विष्णु शेष शैया पर विराजमान हैं । सर्प संहारक शक्ति, तामसिकता, क्रोध और शत्रुता का प्रतीक है, वह हजारों फण वाले शेष पर शान्ति-पुर्वक शयन करते हैं । साधक हजारों सांसारिक कठिनाइयों व बाधाओं के आने पर भी अपनी बुद्धि को स्थिर रखता है, मन कों असन्तुलित नहीं होने देता । भगवान भृगु को लात सहकर भी मुस्कराते हैं । परिवार और समाज में सहिष्णुता भी एक आवश्यक गुण है, यही गुण धीर और गम्भीर होने का परिचय देता है, यही महानता की कसौटी है, प्रगतशील व्यक्ति का चिन्ह है । ऐसा व्यक्ति ही सबको अपना साथी और मित्र बना सकता है । बात-बात पर जिसे क्रोध आ जाता है, उसके मित्र भी शत्रु बन जाते हैं । सहिष्णुता मानसिक शक्ति के विकास की द्योतक है । यही कारण है कि विष्णु ने सर्प जाजि से सम्बन्ध बना रखा है। वह बुरे से बुरे व्यत्ति से निर्वाह करना जानते हैं, उन्हें सद्मार्ग पर लगाते हैं ! यही साधक भी करने का प्रयत्न करता है ।

लक्ष्मी निरन्तर विष्णु के पैर दबाती रहती है, उनकी दासी हैं । धन उनके पैरो पर गिरता है परन्तु वह उनका दुरुपयोग नहीं करते । वह लक्ष्मी के नियन्त्रण में नहीं हैं, उसे ही अपने काबू में रखते हैं । भोग ऐश्वर्य उनके चारों ओर बिखरे पड़े हैं, परन्तु वह उनमें लिप्त नहीं रहते

हैं। भोग में त्याग का उदाहरण उपस्थित करते हैं, कमल उनके हाथ में रहता है जो इस आदर्श व्यवहार का प्रतीक है। वह अपने साधक से भी ऐसा ही जीवन व्यतीत करने की आशा करते हैं।

अपने चतुर्भुज रूप से वह जीवन के लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ओर ध्यान दिलाते हैं। उनसे चारों दिशाओं में व्याप्त ईश्वर का स्मरण करते हैं, ज्ञान के आगार चारों वेदों के मनन की प्रेरणा देते हैं। चार दैवी गुणों–निःस्वार्थता, सहिष्णुता, निरहंकारिता और प्रेम के विकास द्वारा चारों ओर से आसुरी आक्रमण से सुरक्षित रहने की शिक्षा देते हैं। उनका अष्टभुजी रूप—स्वास्थ्य, विद्या, धन, व्यवस्था, सङ्गठन, यश, शौर्य और सत्य की शक्तियों में वृद्धि करते रहने का निर्देशक है।

विष्णु चक्र रूपी मन को अपनी अँगुलियों पर नचाते हैं। उनके नियंत्रण में कभी नहीं रहे। उसे अपने इशारों पर चलाते हैं, तभी उनकी इन्द्रियाँ भी स्वाधीन रहती हैं जो आत्मिक विकास में सहायक सिद्ध होती हैं। चक्र संकल्प रूप है। सकल्प को दृढ़ रखना चाहिए। वह क्रियाशक्ति का प्रतीक है, निरन्तर परिश्रम करते रहने की प्रेरणा देता है क्योंकि क्रियाशीलता ही विकास की आधार शिला है। आलसी व्यक्ति विष्णु का भक्त नहीं हो सकता।

कमल की शिक्षा है कि संसार के समस्त कार्य करते हुए उनसे अलिप्त रहो। शङ्ख सद्‌विचारों के प्रसार का प्रतिनिधित्व करता है। पवित्र, निर्मल और सात्विक बुद्धि के रूप में गदा विष्णु के हाथ में है। इसी शक्ति से वह मन की लगामों को अपने हाथों में रखते हैं।

विष्णु निर्लेप, निर्गुण और निर्मल आत्मा को कौस्तुभ मणि के रूप में धारण करते हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और प्रकाश–पञ्च महाभूतों रूपी वैजयन्तीमाला से शोभा पा रहे हैं। प्रकृति के रूप में श्रीवत्स अवस्थित है। प्रणव के रूप में यज्ञोपवीत पहने हैं जो प्रणव की साधना से ही विष्णु पद पाने का आश्वासन देता है। विष्णु अहङ्कार रूपी शार्ङ्ग धनुष, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ व ५ कर्मेन्द्रियाँ रूपी बाण, व ज्ञान रूपी

खड्ग धारण करते हैं। वह पीत वस्त्रों को ओढ़ते रहते हैं, अपनाए रहते हैं। उनके ८ द्वारपाल है। वह आठ प्रकार की सिद्धियों के स्वामी हैं। वह सर्व समर्थ हैं। साधक भी इसी मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है।

विष्णु के बाहन गरुढ़ हैं जो सर्पों को खाते हैं। सर्प तमोगुण का प्रतीक है। उनकी शक्तियाँ निरन्तर तमोंगुण का नाश करती रहती हैं। वह क्षीर सागर में निवास करते हैं। विश्व के पालन-पोषण की जिम्मेदारी उन पर ही है। उसे कर्तव्य पूर्वक निभाते हैं। वह समुद्र-मंथन जैसी कल्याणकारी योजनाओं में संलग्न रहते हैं। परिश्रम व पुरुषार्थ करते हैं। मोहिनी रूप से ही देवताओं को अमृत बाँटते हैं,अधिकारी को ही विकास का अवसर देते हैं। शलिग्राम विश्वरूप भगवान का प्रतिरूप है। वह श्याम वर्ण वाले हैं। उन पर कोई भी वर्ण अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता। वह आस-पास के वातावरण से अप्रभावित रहते हैं, साँसारिक कार्यों में अलिप्त रहते हैं, वह श्वेत रूप हैं, सात्विकता उनमें ओत-प्रोत है। वह सूर्य, यज्ञ,अग्नि से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं जो निःस्वार्थता और परमार्थ वृत्ति के ही दूसरे नाम हैं। वह सोम रूप है, प्रेरणा-कारक व शान्तिदाता हैं। वह गाय का, पवित्रता का सम्मान करते। उनकी चार पत्नियाँ हैं--लक्ष्मी, सरस्वती, गङ्गा और वृन्दा। वह धन का सदुपयोग करते हैं। विद्या का उपार्जन करते है, बुद्धि का विकास करते हैं, पवित्रता को स्थिर रखते हैं और स्वाध्याव को सुदृढ़ बनाते हैं। शिव और ब्रह्मा से उनका बैर नहीं हैं। वह समन्वय वृत्ति वाले है। वह वामन रूप धारण करते हैं। वामन होकर तीन पैर से सारी सृष्टि को नाप लेते हैं, विराट रूप प्रदर्शन करते हैं, लघु से महान् बनते हैं। वह सहायता के लिये पुकारने वाले गजेन्द्र को शत्रु से बचाते हैं। सुदृढ़ व्रती प्रहलाद व ध्रुव को परम पद देते हैं। उनके दस अवतार जीवन-निर्माण की विभिन्न शृङ्खलाओं से सम्बद्ध हैं, अधर्म का नाश करके धर्म और न्याय की स्थापना करते हैं। शास्त्रों व कथाओं से उनके इसी प्रकार के गुण प्रकट होते है।

इष्ट देव का चिंतन इसलिए किया जाता है कि उनके गुणों की छाप अपनी अन्त:चेतना पर बिठावें ताकि धीरे-धीरे उनको धारण करते हुए, उनके पद-चिन्हों पर चलते हुए हम भी वही रूप बनते जाएं। विष्णु साधक के लिए चिन्तन के लिये पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत है। वह अपनी परिस्थितियों, शक्ति, सामर्थ्य और सुविधा को देखते हुए प्रगति पथ पर आरूढ़ होने का प्रयत्न करे, अपना आत्म निरीक्षण करे, अवगुणों का त्याग करते हुए गुणों का विकास करे इष्ट विष्णु को अपने मन मन्दिर में बटाये, उनके कार्यों और गुणों का चिन्तन करे। उनके प्रतीकात्मक विवरण से स्पष्ट है कि उन्हें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक चारों प्रकार का विकास अभीष्ट है। इनमें जीवन निर्माण का कोई पहलू अछूता नहीं रह गया है, क्षुद्र से महान् बनने के लिये सभी नियमों का वर्णन कर दिया गया है, सुख शान्ति के उपायों पर अपरोक्ष रूप से प्रकाश डाला गया है।

भगवान विष्णु उनसे प्रसन्न नहीं होते जो केवल उनकी मूर्ति या चित्र का नमस्कार ही करते हैं। वरन् उनके कृपापात्र वही रहते हैं जो उनकी पूजा, उपासना के साथ उनके गुणों का चिन्तन करके उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं।

इसी तरह से शिव, गणेश, गायत्री आदि देवी देवताओं के रहस्य व तत्वज्ञान को जाना जा सकता है। अपने इष्टदेवता के तत्वज्ञान का चिन्तन मनन करते हुए किया गया हृदय पाठ विशिष्ट रूप से लाभदायक होता है, उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

इस तरह से गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय का पाठ पूजा, अध्ययन और मनन चिन्तन मन्त्र साधना की सफलता के लिए हर प्रकार से लाभदायक होता है।

——

आचार

ब्राह्मणत्व की कसौटी

आचार मानव के व्यवहार की कसौटी है। यह मनुष्य की मनुष्यता की परीक्षा है। आचार से ही मानवता की झलक मिलती है। मानव ने कहाँ तक अपनी मानवता का विकास कर लिया हैं, यह उसके आचार से ही पहचाना जा सकता है। इसे मानवता का मापदड भी कह सकते हैं। भारतीयों शास्त्रों ने इसे असाधारण महत्व दिया है। ब्राह्मणत्व की आधार शिला ही वह मानते थे। मनुस्मृति (१० । ६५) में कहा है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम् ।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् यथैव च ।।

आचार के आधार पर ही शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है। यही सिद्धान्त क्षत्रियों व वैश्यों पर भी लागू होता है।'

महाभारत, वन पर्व (१८० । २१, २५, २६) में भी इसी तथ्य की पुष्टि की है—

सत्यं दानं क्षमा शीलम् आनृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।
शूद्रे तु यद् भवेत् लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।
नैव शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।।
यत्रैतत् लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृत ।
यत्र नैतद् भवेत् सर्प त शूद्र इति निर्दिशेत् ।।

'हे नागेन्द्र ! सत्य, दान, क्षमा, शील सौम्यता, तप, दया जिस व्यक्ति में दृष्टिगोचार हैं वही ब्राह्मण है यह लक्षण और किसी शूद्र में हैं तो उसे शूद्र नही कहा जा सकता । इन लह्मणों का यदि ब्राह्मण में अभाव है तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण और शूद्र की कसौटी का यही आधार हैं। जिस व्यक्ति में इन आचारों का विकास हो चुका हैं, उसे ब्राह्मण कहा जाता है। जिसमें इनका अभाव है, उसे शूद्र जानना चाहिये।

इसका भाव यह है कि जाति जन्म से नहीं वरन् उसके आचरण से ही माननी चाहिए। कहा भी हैं--

जन्मता जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।

'हर व्यक्ति जन्म से शूद्र ही उत्पन्न होता है। संस्कार से ही वह द्विजाति बनता है।'

छान्दोग्योपनिषद् (४। ४) में इस सम्बन्ध में एक कथा आती है कि सत्य काम आचार्य हारिद्रूमत के पास दीक्षा लेने के लिए गये थे। आचार्य ने बालक का गोत्र पूछा। बालक ने स्पष्ट उत्तर दिया कि में अपनी माता के नाम से ही अभिहित किया जाता हूँ। मैं अपने पिता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं रखता क्योंकि जब मैं गर्भ में था तो मेरी माता अतिथियों की सेवा का काम करती थी अतः मैं जाबाला का पुत्र सत्यकार्य ही हूँ। आचार्य ने मत दिया कि ऐसा स्पष्ट उत्तर देने वाला ब्राह्मण का पुत्र ही हो सकता है। उन्होंने सत्य काम को अपना शिष्य वरण कर लिया।

सदाचारी ही मानवता और मन्त्र सिद्धि का अधिकारी है

इसीलिए महाभारत, वन पर्व (३१३। १०८) में कहा गया है-

न योनिः नापि संस्कारों न श्रुत न च सन्ततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत मेत्र तु कारणम् ।।

"ब्राह्मणत्व का आधार न तो जन्म है, न संस्कार, न वेदाध्ययन और न कुल । उसका आधार तो केवल सदाचार ही माना जाता है।

तभी रामायण, बाल काण्ड (५७।६५) में कहा है—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ।

"आचार से च्युत व्यक्ति को वेद भी शुद्ध नहीं करते ।"

यही कारण है कि मंत्र भी अपना प्रभाव तभी पूर्ण करके दिखाते हैं जब व्यत्ति शुद्ध आचार वाला होता है । आचार हीन व्यक्ति मंत्र का अनुग्रह व आशीर्वाद प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता ।

सदाचार ही मानवता का सम्बल हैं । इसी के सहारे वह ससार में चलता है । इस से च्युत व्यक्ति तो लड़खड़ाता हुआ किसी तरह जीवन के दिन बिताता है दुराचारी व्यक्ति दूसरों को तो हानि पहुँचाता ही है, वह अपना भी कुछ भला नहीं कर सकता । वह अपने हजारों जन्मों की कमाई मनुष्यत्व की प्राप्ति पर कुठाराघात करता हैं । वह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कितने लम्वे समय के परिश्रम से वह मानव जीवन प्राप्त हुआ है, इसे यूं ही नष्ट करने में कौन-कौन सी बुद्धिमानी है ? बाप की कमाई की तरह बात अविवेकी पुत्र अन्धा धुन्ध फूंकता हैं । दुराचारी व्यक्ति अपने हजारों जन्मों की कमाई को स्वाहा करने का प्रयत्न करता है क्योंकि जिस व्यक्ति में मानवता के लक्षण आचार, परिलक्षित नहीं होते उसे मानव का चोला ग्रहण किए रहने का कोई अधिकार नहीं है मानव जीवन को सुरक्षित रखने के आधार भी यह अचार ही हैं । जो व्यक्ति मानवता के अधिकार को ही नष्ट करने का स्वयं प्रयत्न कर रहा है, उसे मंत्र साधना से क्या लाभ हो सकता है । मंत्र सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधक सदाचार की शक्ति से सम्पन्न होना चाहिए तभी वह शक्ति विकास के पथ पर आरूढ़ हो सकता है ।

कठोपनिषद् (१।२।२४) में कहा गया है कि—

"सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा भी उस परमात्मा को वह मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता जो बुरे आचरणों से निवृत्त नहीं हुआ है।" मणकोपनिषद् (४१) में भी यही बात कही गई है "सच्चाई, तप, सत्य, ज्ञान, ब्रह्मचर्य से आत्मा सत्य पाया जाता है जो शरीर के अन्दर शुद्ध ज्योतिमय है। उसको वह यदि देखते हैं जिसके दोष क्षींण हो गए हैं।" महाभारत के अनुसार सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, दया और सबलता यह सब तीर्थ हैं अर्थात् संसार सागर से पार करने वाले हैं।" एक और स्थान पर कहा गया है "दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, किसी से बैर न करना, निरभिमानता, बुरे कार्यों से बचना, सहनशीलता, शम—यह ब्रह्म प्राप्ति के उपाय हैं।" स्कन्द पुराण में भागवतोतम उसे कहा है जिनमें सद्‌गुण होते हैं या जो इनकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं।

सदाचार विज्ञान

सदाचार का अभिप्राय है मानव मात्र के हित की भावना रखना और निरन्तर उस प्रवृत्ति का विकास करना सब के हित में अपने हित को समझना और उसी पवित्र भावना के अनुसार ही आचरण करना ही वास्तव में सदाचार कहलाता है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हम नित्य प्रार्थना करते हैं —

सर्वेऽप सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत ।।

'सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी आत्म विकास के पथ पर आरूढ़ हो किसी को कोई दुःख न हो।" इन शुभ कामनाओं से मानवता का परिष्कार होता है। सभी प्राणियों के प्रति सद् भावना रखना व उनका विकास करना ही सदाचार है। इसी श्रेणी का साधक ईश्वर से प्रार्थना करता है—

द्वते दहमा मित्रस्य मा चक्षुसा सर्वाणि भूतानि-समीक्षन्ताम।

मित्रस्याह चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुसा समीक्षामहे ।।

"हे ईश्वर ! सभी प्राणियों में हमें अपनी ही आत्मा व्याप्त दिखाई दे । हमारा किसी से द्वेष नहीं । जिस तरह से मित्र परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हैं । वैसे ही हम भी सभी का आदर करें ।"

महाभारत शान्ति पर्व (८६) में लौकिक आचार का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है —

यदन्यैः विहित नेच्छेत् आत्मनः कर्म पुरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन् अप्रियम् आत्मनः ।
यद् यद् आत्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ।।

व्यक्ति को जो काम अपने को अप्रिय लगता है और वह दूसरों से किया जाना पसन्द नहीं करता, उस तरह का व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए क्योंकि उन्हें भी वह अप्रिय लगेगा । जो काम मनुष्य अपने लिए चाहता हो, वही दूसरों के लिए भी सोचे ।

यह सदाचार विज्ञान का मूल सिद्धान्त है । इसे निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए ।

मनुस्मृति (६।४८) में कहा है—

क्रुध्यन्त न प्रति क्रुध्येद् आक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।

"जो क्रोध करता है, उसके बदले में उस पर क्रोध न करे । जो कठोर वचन बोलता है, उसके साथ कोमल वचन बोले ।"

सामवेद में इसकी पुष्टि करते हुए कहा है—

सेतून तर दुस्तरान् अक्रोधेन क्रोधं सत्येनअनृतम् ।

"मनुष्य दुस्तर सेतुओं को पार करे । परन्तु इस प्रक्रिया में क्रोध को शान्ति से जीते । असत्य को सत्य से जीते ।"

भगवान बुद्ध का भी यह परम उपदेश है—

"द्वेष से द्वेष की शान्ति नहीं होती । प्रेम से ही द्वेष की शान्ति सम्भव है ।"

सदाचार का व्यवहारिक पक्ष

कुछ लोगों में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि सदाचार का पालन करने वाला कलियुग में लौकिक दृष्टि से घाटे में रहेगा। वास्तविकता यह है कि सभी लोग सहयोग, सहानुभूति, स्नेह, आत्मीयता तथा मैत्री का हाथ बढ़ाते हैं और उसे हर प्रकार से पुष्ट करते हैं। सदाचारी व्यक्ति की आत्मा बलवान होती है, उसे किसी का भय नहीं होता, उसकी शक्तियों को निरन्तर वृद्धि होती रहती है। इसलिए वह लौकिक व पारलौकिक दोनों दृष्टियों से प्रगति करता रहता है। इसके विपरीत पापी व दुराचारी व्यक्ति की आत्मा अत्यन्त निर्बल होती है, उसके मन में भय रहता है कि उसके कर्म आसुरी शक्तियों के रूप में उसका विरोध करने अथवा उसके कार्यों का फल देने के लिए आ रहे हैं। सहयोगियों की अपेक्षा उसके शत्रु बढ़ते रहते हैं क्योंकि हर काम में उसका उद्देश्य स्वार्थ ही रहता है। स्वार्थ मानव का ऐसा शत्रु है जो किसी को अपना बनाना नहीं जानता। वह हर किसी को पराया समझता है। पराये से सहयोग की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। जो दूसरों से सहयोग नहीं करता, उसे दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने की भी आशा नहीं करनी चाहिए। अतः सदाचार मानव की उन्नति के द्वार खोलता है और दुराचार-दुर्गति का मार्ग प्रशस्त करता है। इतिहास भी इसका साक्षी है। रावण ने सीता का हरण किया। रावण और उसकी सोने की लङ्का का नाश हुआ और अब लाखों वर्षों से वह भारतीय संस्कृति में दुराचार का प्रतीक बना चला आ रहा है। लोग चारों वेदों के विद्वान पण्डित के निन्दित कर्मों को दुत्कारते हैं। जब तक हिन्दू धर्म जीवित है, रावण को लोग एक अत्यन्त निन्दनीय और क्षुद्र व्यक्ति के रूप में स्मरण करते रहेंगे। यदि वह यह पाप कर्म न करता तो उसकी योग्यताओं व क्षमताओं को देखते हुए वह एक महामानव के रूप में पूजा जाता और लोग उससे प्रेरणाएँ लेते। अतः विद्वता की अपेक्षा आचार का महत्व अधिक है। दुर्योधन ने आचार विहीन होकर महा-

भारत को निमन्त्रण दिया जिससे लाखों व्यक्तियों का नाश हुआ । यदि दुर्योधन पाण्डवों से भ्रातृवत व्यवहार करता तो यह नाश लीला नहीं होती और भारतवर्ष का इतिहास कुछ और ही होता । जिस अपार शक्ति का व्यय आपस में लड़कर हुआ, उसका प्रयोग देश के विकास में होता । छोटा सा अभद्र व्यवहार विशाल रूप ग्रहण कर लेता है और अनहोने परिणाम उपस्थित करता है ।

शक्ति विकास का आधार स्तम्भ सदाचार

व्यक्तिगत रूप से भी दुराचार शक्ति का नाश करता है। विश्वामित्र तपस्वी होते हुए भी काम-वासना के चंगुल में फंस गए । परिणाम स्वरूप उन्हें तप के फल से वंचित होना पड़ा। वाजिस्रवा अपने प्रमाद के कारण पराजित हुआ । वसिष्ठ पुत्र प्रचेता का क्रोध उन्हें ही ले डूबा । दुराचार का परिणाम शुभ हो ही नहीं सकता । यह निश्चित है क्योंकि इससे शक्ति का निरन्तर ह्रास होता रहता है । मन्त्र साधना में शक्ति का सहयोग चाहिए । दुराचारी व्यक्ति की शक्ति का नाश तो उसका दुराचार ही करता रहता है, मन्त्र जप से उनका क्या भला हो सकता है । मन्त्र शक्ति के विकास की आधार भूमि को नष्ट करने वाला उससे लाभान्वित होने की क्या आशा रख सकता है । आचार व मन्त्र साधना दोनों परस्पर सहयोग से फलते-फूलते हैं । जब सहयोग की अपेक्षा विरोध होना आरम्भ होगा । तो तप के अनुकूल परिणाम में सन्देह ही करना चाहिये ।

सिद्धि का आधार तो सदाचार ही होता है । दान, दया, संयम, तप, त्याग, कष्ट सहिष्णुता आदि सब सदाचार के ही विभिन्न रूप है । यही गुण आन्तरिक शक्तियों के जागरण के हेतु बनते हैं । ईश्वर की उपासना न करने पर भी किसी व्यक्ति विशेष में सच्चरित्रता, आत्मीयता परमार्थ, दया, पवित्रता के गुण विद्यमान हैं तो वह उस उपासना करने से कहीं अच्छा है जिसमें इन गुणों का अभाव है । इसका

अर्थ है वह सिद्धि के द्वार की ओर ले जाने वाली शक्तियों का तिरस्कार करता है। इस उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि मन्त्र साधना से जो सिद्धि प्राप्त होनी चाहिए, उसमें भी बिलम्ब होता चलता है। कारण स्पष्ट है—सर्वत्र सहयोग की अपेक्षा विरोध मिलता है। सहयोग प्राप्त करने के लिये सदाचार का पालन आवश्यक है।

सत्यनिष्ठता की महान शक्ति

मनुष्य में सदाचार की प्रवृत्ति का विकास सत्य के आचरण और व्यवहार से ही होता है। किसी अनुभवी व्यक्ति ने हीं कहा है 'सत्य में हजार हाथियों के समान बल होता है। सत्य से इतनी शारीरिक शक्ति उत्पन्न करना तो शायद सम्भव नहीं है. इस उक्ति का सकेत आत्मबल की ओर ही है। इसका अभिप्राय यह है कि सत्यवादी में इतना आत्म-बल विकसित हो जाता है कि वह हजार पाखण्डियों का भली प्रकार विरोध कर सकता है। सत्य शक्ति का ही रूप होता है, अतः अन्त में उसी की विजय होती है। असत्य का शरीर खोखला होता हैं। देखने में भले ही वह हृष्ट-पुष्ट हो परन्तु उसे अपनी शक्तियों पर स्वय ही विश्वास नहीं होता। निराशा और भय निरन्तर उसे घेरे रहते है। सत्य के भय से काँपता है, आशा उससे बंधी रहती है, शक्ति उसकी दासी है और सदैव उसके आदेश की प्रतीक्षा में रहती है। यही कारण है कि सत्यनिष्ठा को हमारे शास्त्रों में एक महानतम उपासना के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सत्यनारायण कथा का घर-घर मे व्यापक प्रचार है। यहाँ सत्य को नारायण—ईश्वर की संज्ञा दी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति सत्य को वरण करता है, वह ईश्वर का सान्नीप्य प्राप्त करता है, ईश्वरीय शक्तियों को प्राप्त करने का श्रेय प्राप्त करता हैं, बह शक्ति का भण्डार ही बन जाता है। तभी कहा जाता है कि जो व्यक्ति सत्य-नारायण कथा का श्रवण करता है सत्यनिष्ठ बन जाता है, स्वर्ग-मुक्ति की सिद्धि उसे ही प्राप्त होती है। यह सत्यनिष्ठता मन्त्र साधक के लिए वरदान सिद्ध होती है।

सत्य पालन का महान गौरव

सत्य का पालन आर्यों का परम धर्म रहा है। तभी हर प्रकार से वह शक्तिशाली हुआ करते थे। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

अभिमन्यु के मृत पुत्र को जिलाते हुए भगवान कृष्ण ने कहा था। मैं कभी झूठ नहीं बोलता। निश्चय ही सभी व्यक्तियो की उपस्थिति में मैं इस बालक को जिला दूँगा। मैं हंसी में भी कभी झूठ नहीं बोला हूँ। इसलिए यह बालक जी जाए। सत्य और धर्म सदा मेरे साथी रहे है। अत: यह बालक जी जाए।

आध्यात्म रामायण के निम्न उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं—

जब निषादराज भगवान राम से कहते हैं 'मैं भी आपके साथ चलूंगा, आप मुझे आज्ञा दीजिये, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगा।' इस पर राम कहते हैं 'मैं चौदह वर्ष--दण्डकाराण्य में रहकर यहां फिर आऊँगा। मैं जो कुछ कहता हूँ सत्य ही कहता हूं, राम की बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती।' जब राम कैकई के पास जाते है तो उन्होंने कैकई की बातें सुनकर कहा 'पिताजी के लिए मैं जीवन दे सकता हूँ, भयङ्कर विष पी सकता हूँ, सीता, कौशल्या तथा राज्य को भी छोड़ सकता हूँ। उन्होंने मेरे लिए जो आज्ञा कीं है, उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा। यह सर्वथा सत्य है। राम दो बात कभी नहीं कहता।' जब महर्षि बाल्मीकि सीताजी को अयोध्या ले गए तो उन्होंने राम से कहा 'इस पतिव्रता, धर्मपरायण, निष्कलंका सीता को तुमने कुछ समय हुआ लोकोपवाद से डरकर भयङ्कर वन में मेरे आश्रम के पास छोड़ दिया था। अब वह अपना विश्वास देना चाहती है। आप उसे आज्ञा दीजिए। यह दोनों सीता के साथ उत्पन्न हुए पुत्र हैं। मैं सत्य कहता हूँ यह दोनों दुर्जन्य वीर आप ही की सन्तान हैं। हे राम ! मै प्रजापति प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ। मैंने कभी मिथ्या भाषण किया हो, ऐसा

मुझे स्मरण नहीं है। वही मैं आपसे कहता हूँ कि यह बालक आप ही के पुत्र हैं।"

महाभारत के निम्न उदाहरण भी उपरोक्त भावों का समर्थन करते हैं—

परीक्षित को शाप देने वाले शृङ्गी ऋषि अपने पिता शमीक से कहते हैं 'पिताजी! मैं आप से सत्य कहता हूँ अब यह शाप टल नहीं सकता। मैं हंसी मजाक में भी झूठ नहीं बोलता। फिर शाप देते समय कैसे झूठी बात कह सकता है।' जरात्कारु मुनि के चले जाने पर उसकी पत्नी जरात्कारु ने अपने भाई नागराज वासुकि से कहा—'राजन्! उन्होंने पहले कभी विनोद में भी झूठी बात कही हो. यह मुझे स्मरण नहीं है।' जरात्कारु मुनि के पुत्र आस्तीक मुनि अपने मामा को ढ ढस बँधाते हुए कहते हैं कि 'मैं जनमेजय के पास जाकर अपनी मङ्गलमयी वाणी से ऐसा सन्तुष्ट करूँगा लिससे राजा का यह यज्ञ बन्द हो जायगा। मैंने कभी हंसी मजाक में भी झूठी बात नहीं कही, फिर इस सङ्कट के समय तो कह ही कैसे सकता हूँ।' भीष्म का कथन है—'मैंने जन्म लेकर अब तक कोई झूठ बात नहीं कही है। जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे, तब तक मैं सन्तान नहीं उत्पन्न करूंगा।' व्यास गन्धारी से कहते से कहते हैं मेंने कभी हास परिहास में भी झूठी बात मुंह से नहीं निकाली हैं फिर वरदान आदि अन्य अवसरों पर कही हुई मेरी बात झूठी कैसे हो सकती है।'

सत्य की शास्त्रीय प्रतिष्ठा

भारतीय शास्त्रों में सत्य का महत्ता की प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

महाभारत शान्ति पर्व में उल्लेख है कि हजार अश्वमेघ और सत्य की तुलना की जाए तो सत्य ही अधिक होगा।

एक और स्थान पर कहा है 'जो लोग इस जगत में स्वार्थ के लिए परा्थ के लिए या मजाक में भीं कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हीं को स्वर्ग

की प्राप्ति होती है ।' भगवान कृष्ण ने भीष्म पितामह को कहा 'चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थान से हट जाए अथवा अग्नि शीतल हो जाए परन्तु हमारा वचन टल नहीं सकता ।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार 'जिनमें तप ब्रह्मचर्य और सत्य प्रतिष्ठित हैं, उन्हीं को यह ब्रह्मलोक मिलता है । मुण्डको उपनिषद के ऋषि ने बड़े साहस के साथ घोषणा की है कि परमविशुद्ध परमात्मा निःसन्देह सत्य भाषण, तप और ब्रह्मचर्य पूर्वक यथार्थ ज्ञान से ही सदा प्राप्त होने वाला है । उपनिषदों ने तो सत्य को ब्रह्म की संज्ञा दी है ।

पुराणों की सत्य सम्बन्धी घोषणाएँ भी महत्व पूर्ण हैं । नारद पुराण में कहा है 'सत्य से बढ़कर कोई तप नहीं है स्कन्द पुराण के अनुसार सत्य तीर्थ है । मार्कण्डेय पुराण में विश्वामित्र का वचन है' सत्य से ही सूर्य तप रहा है । सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई हैं । सत्य भाषण सबसे बड़ा धर्म है । सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित हैं । एक हजार अश्वमेघ और एक सत्य को यदि तराजू पर तोला जाये तो हजार अश्वमेध से सत्य ही भारी सिद्ध होगा ।' सभी पुराणों ने एक स्वर से कहा है कि सत्य ही धर्म, तपस्या, योग है । सत्य ही सनातन ब्रह्म है । सत्य ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है । सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है । सत्य से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है । सत्य की सदैव विजय होती है, झूठ की नहीं । सत्यवादी व्यक्ति संसार के सब कर्म करता हुआ जल में कमल पत्र के समान लिप्त रहता है ।

सत्य मन्त्र सिद्धि के लिए ब्रह्मास्त्र है ।

इस कहावत में बहुत सार है कि सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है । सत्य स्वयं शक्ति का अवतार है, मूर्त रूप है । सत्य को ही भगवान कहा गया है । जो सत्य रूपी ढाल को सदैव साथ रखता है, वह सुरक्षित रहता है, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता. संसार की कोई भी शक्ति उसके दुर्ग को तोड़ नहीं

सकती, उसके निश्चय को मोड़ नहीं सकती, उसके पथ में व्यवधान बनने का साहस नहीं कर सकती । आसुरी शक्तियां के लिए सत्य एक ब्रह्मास्त्र का काम करता है । प्राचीन काल में भारतीय इसका यही प्रयोग करते थे । तभी विजयश्री उनके पैर चूमती थी ।

सत्य को अपना परम धर्म मानने वाला व्यक्ति हीं मन्त्र सिद्ध हो सकता है । संसार की महानतम शक्ति से जो व्यक्ति वंचित है, वह शक्तियों के उपार्जन में कैसे सफल हो सकता है । प्राचीन काल में जीवन के हर क्षेत्र में मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था । गृहस्थ से लेकर रण-क्षेत्र तक में सिद्धि दायक मन्त्रों से सफलता प्राप्त की जाती थी । अस्त्र-शस्त्रों को प्रभाव शाली व शक्तिशाली बनाने के लिए मन्त्र ही प्रमुख साधन माने जाते थे । आधुनिक एटम व हाईड्रोजन बमो के समान विनाशकारी अस्त्रों का संचालन मन्त्रों द्वारा ही होता था । परन्तु उस मन्त्र शक्ति के आधार प्रस्फुटि करने के लिए सत्य को ही बनाया जाता था । सत्य के सहयोग से ही मन्त्र की शक्ति विकसित होती है । जहाँ सत्य का अभाव है वहाँ मन्त्र भी निष्क्रिय बन जाते है और परिश्रम करने पर भी उसके लाभों से वंचित होना पड़ता है । अतः मन्त्र सिद्धि की साधना करने वाले साधक को चाहिए कि वह सत्य की उपेक्षा न करे, उसे अपना जीवन साथी मान कर साथ रखे तभी सिद्धि के द्वार क्रमशः खुलते चले जाएगे ।

तीन देवताओं के पूजन से अपार बल की प्राप्ति

माता पिता और गुरु तीन देवता के रूप में वर्णित किए हैं । इनका आदर, पूजन और आज्ञाओं का पालन करना श्रेष्ठ आचार माना गया है । मनुस्मृति (११ । १२८—२३० । २३२ । २३४ । २३५ । २३६) में कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ।२२७।

तयोः नित्यं प्रियं कुर्यात् आचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ।२२८।
तेषां त्रताणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैः अनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् । २२९।
त एव हि त्रयो लोकाः त एव त्रयः अश्रिमाः ।
त एव हित्रयो वेदाः त एवोक्ताः त्रयोऽग्नयः ।२३०।
त्रिषु अप्रमाद्यन् एतेषु त्रीन् लोकान् विजयेगृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते ।२३२।
सर्वे तस्यादृता धर्ता यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वाः तस्याफलाः क्रियाः ।२३४।
यावत् त्रयस्ते जीवेयुः तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषं कुर्यात् प्रियहितेरतः ।२३५।
त्रिष्वेतेषु इतिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्तते ।
एष धर्मः परः सक्षाद् उपधर्मोऽन्य उच्यते ।२३७।

"माता पिता को पुत्र के जन्म में जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, सौ वर्षों में भी उसका बदला चुकाया जाना सम्भव नहीं है । सदैव वही काम करना चाहिये जो माता-पिता व आचार्य को प्रिय व इष्ट हो। उनके प्रतिकूल कोई कार्य न करे । वह जब सन्तुष्ट हो जाते हैं, तभी तप की पूर्णता मानी जाती है । इन तीनों कीं शुश्रुषा को ही परम तप माना गया है । उनकी स्वींकृति के बिना कोई धर्म न करे । उन्हें ही तीन लोकों, तीन आश्रमों, तीन वेदों ओर तीन अग्नियों की संज्ञा दी गई है । जो गृहस्थ इनके प्रति प्रमाद नहीं करता, वह तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर सकता है । पृथ्वी पर तो वह हर प्रकार से सफल होता ही हैं । स्वर्ग में जाने पर भी देवताओं की तरह प्रकाशित दिखाई देता है अर्थात उसके लोक व परलोक दोनों सुधरते है । इन तीनों का सम्मान समस्त धर्मो का सम्मान माना जाता है । अनादर करने वाले की सभी क्रियाएँ निष्फल होती हैं । उनके जीवित रहने तक केवल

उनकी शुश्रुषा व प्रिय-हित में ही लगा रहे। इन तीनों का आदर पूर्ण कर्तव्य स्वीकार किया गया है। यह निश्चय रूप से परम धर्म है। शेष सभी उपधर्म माने गये हैं।'

माता-पिता से भी अधिक गुरु के सम्मान की आज्ञा शास्त्रों में दीं गई है। मनुस्मृति (२ । १४६) में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है :—

उत्पादकब्रह्मदात्रोः गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्महि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥

'जन्म देने वाले और ब्रह्मज्ञान देने वाले में से ब्रह्मज्ञान प्रदाता गुरु ही अधिक सम्मान योग्य पिता है। चाहे यह लोक हो या परलोक हो, ब्राह्मण के लिए ब्रह्म जन्म ही शाश्वत है।'

कर्तव्य निष्ठा से, गुरु की आज्ञाओं का पालन करने से मानसिक और बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है। उपनिषद् ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। 'जिस व्यक्ति में ईश्वर की तरह गुरु में भी अटूट श्रद्धा और भक्ति है, उसके हृदय में ही शास्त्रों का रहस्यपूर्ण अर्थ प्रकाशित होता है।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । २३)। छान्दोग्योपनिषद् (४ । ४।६) में सत्यकाम जाबाल की कथा इसे पुष्ट करती है। उसका उपनयन होते ही उसके गुरु महर्षि गौतम ने उसे चार सौ निर्बल गायें दे दीं और कहा—कि इन्हें चराने के लिए ले जाओ। जब यह एक हजार हो जायें, तब लौटना। आज का विद्यार्थी इस आज्ञा की अवहेलना ही करता। वह सोचता मैं तो यहाँ विद्या अध्ययन के लिये आया हूँ। और गुरु दे रहे हैं—गाय चराने का कार्य। पर उसने इसी में अपना कल्याण समझा और कर्तव्य पालन में लग गया। जब वह गाएँ एक हजार हो गई तो वह लौटा। उसे ब्रह्म तत्व के पहले पाद की शिक्षा वृषभ ने, दूसरे की अग्नि ने, तीसरे कीं हंस ने और चौथे की जल कुक्कुट ने दी। गुरु आज्ञा का पालन उसके लिए वरदान सिद्ध हुआ।

माता, पिता व गुरु रूपी तीन देवताओं की अनुकूलता, अनुग्रह व आशीर्वाद प्राप्त होने पर जीवन में कल्याण ही होता है। प्रतिकूलता व शाप से हानि व असफलता ही हाथ लगती है।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषुः
प्रतिषेधत्सु चाधर्मात् हितं चोपदिशत्स्वपि ।।
श्रेयःसु गुरुवद् वृत्ति नित्यमेव समाचरेत् ।

मनु जी ने (२।२०६।२०७) यह भी आदेश दिया है कि छोटों का बड़ों के प्रति वही कर्तव्य है जो शिष्य का गुरु के प्रति होता है।

"इस तरह की वृत्ति विद्या गुरुओं, सम्बन्धियों, अधर्म से रोकने वालों और कल्याण कारक उपदेश देने वालों के प्रति होनी अपेक्षित हैं। अपने से बड़ों के प्रति गुरु की तरह ही व्यवहार अभीष्ट है।"

बड़ों के सम्मान का फल भी (२।१२१) में वर्णित किया गया है–

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
धत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम्।

जो व्यक्ति नित्य बड़ों का अभिवादन व सम्मान करता है। उसकी आयु, बुद्धि, यश और बल की वृद्धि होती है।"

बड़ों के प्रति सदाचार की प्रवृत्ति सदैव से भारतीयों में रही है। उसके पालन से शक्ति मिलती है। वृद्ध जनों के आदर और सम्मान से जो उनका आशीर्वाद और स्नेह प्राप्त होता है, उससे शक्ति की विद्युत धारा का प्रवाह चलता है जिससे दोनों में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो शक्तियों के आदान प्रदान में सहायक होता है। व्यवहार में यह देखा भी जाता है कि बड़ों का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त करने वाला व्यक्ति हर क्षेत्र में सफल होता है। मन्त्र साधक को भी इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए। इसमें उसका अहित ही होगा।

शिष्टाचार के मूल सिद्धान्त

शिष्टाचार से ही मानवता की पहिचान होती है। मानव की शोभा इसी में है कि वह दूसरों से शिष्ट व्यवहार करे। यदि मानव अपने में शील स्वभाव ढालने में सफल नहीं होता तो वह मानव कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। उसे मानव शरीर प्राप्त एक पशु ही कहा जायगा। पशु में विवेक बुद्धि का अभाव रहता है। मानव में भी यही स्थिति रहे तो उसकी संज्ञा पशु ही रहेगी।

अशिष्ट व्यक्ति मर्यादाओं का उल्लघंन करता है, सामाजिक नियमों का पालन नहीं करना चाहता, अनाधिकार चेष्टाएं करके गर्व की अनुभूति करता है। वह कठोर और तीखे वचन बोलने में कोई बुराई नहीं मानता। दुराग्रह करना, दूसरों को कष्ट देकर प्रसन्न होना, उपहास करना, दूसरों को अपने से छोटा समझकर हीन भावना से देखना तत्वत व्यवहार करना ही कुछ अशिष्टता के लक्षण है।

शिष्टाचार की कोई दुरुह परिभाषा नहीं हैं आदर, स्नेह और मधुर व्यवहार ही शिष्टाचार की सीमा में आते हैं। विनम्रता और सौहार्द भी इसके अंग हैं। सार यह है कि जो व्यवहार दूसरों को शीतल, संतुष्ट और सुखी करता है, वही शिष्टाचार है। जिस व्यवहार से दूसरे व्यक्ति खिन्न, असन्तुष्ट व दुःखी होते हैं, वह अशिष्टाचार है। एक उत्तम नागरिक बनने के लिए शिष्टाचार का आचरण आवश्यक है। अरस्तु ने अपने अनुभव से लिखा है "नागरिकता के नियमों और सामाजिक न्याय के अभाव में मनुष्य अन्य सभी जीवों से अधिक भयङ्कर है।" क्योंकि परिवेश में वह पशुवत व्यवहार करने लगता है।

शिष्टाचार पर विचार करते हुए निम्न तथ्यों पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए जो इसके मूल सिद्धान्त माने जाते हैं—

१—अहङ्कार अशिष्टता का प्रमुख लक्षण है। इसका परित्याग करना चाहिए। धन, सम्पत्ति व पद पाकर व्यक्ति शील सौजन्य को भूल

जाता है और दूसरों को तिरस्कार करना है। अहकार से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है । क्रोध अविवेक को जन्म देता है । बुद्धि में अधिवेक का नियन्त्रण होता है तो मनुष्य अभद्र व्यवहार करने में संकोच नहीं करता। अशिष्टता उसके स्वभाव का एक अंग बन जाती हैं जिसे सैंकड़ो उपदेश भी नहीं कर सकते ।

शिष्ट वह है जो धन और पद पाकर दूसरों से नम्रता का व्यबहार करता है। भौतिक ऐश्वर्यो के मद में आकर दूसरों का अनादर करता मानवता का ही अनादर करना है। अतः शिष्ट बनने के लिए निरन्तकारी व प्रेम बनना होगा ।

२—शिष्टाचार के पालन के लिए आत्मशासन की अपेक्षा रहती हैं। जो व्यक्ति जितेन्द्रिय और कर्तव्य परायण होता हैं। वहीं नम्र और सुशील हो सकता हैं। महात्मा गांधी के अनुसार मन में आए आवेशों के अनुसार व्यवहार करना अशिष्टता है। उसे तो विवेक की तराजू पर तौलना आवश्यक है। मनको सयमित रखने से वह मर्यादा का पाठ सीखता है। भगवान राम ने इन्द्रिय निग्रह की विनय को संज्ञा दी है। इसी को आत्म शासन कहते हैं जिसका पालन आवश्यक है।

३—शिष्टाचार में व्यवहारकि सरलता को नहीं भूलाया जा सकता। इसका अभिप्राय यह है कि वह किसी से कटु व्यबहार न करे। कर्कश शब्दों के प्रयोग से अशिष्टता टपकती है। महाभारतकार ने मर्मभेदी शब्दों को मन की वृद्धावस्था माना है। उत्तेजित होने पर गर्व की अनुभूति करना मूर्खता है। सौम्यता ही बुद्धिमान और गम्भीर व्यक्ति की पहिचान है। जो केवक अपनी प्रशंसा चाहता हैं और दूसरों की निन्दा करने में प्रसन्न होता है वह निश्चय रूप से अशिष्ट है, वाणी की कटुता मित्रों और सम्बन्धियों को भी शत्रु बना देती है। मधुरता शत्रुता को मित्रता में बदल देती है। सरलता से मानवता का विकाश भी होता है और यह हर प्रकार से लाभ दायक भी है।

४—जब कोई व्यक्ति तीखे वचन बोल रहा हो तो उसी क्षण उत्तेजित होकर उसका प्रतिकार करने के लिए तैयार न होकर उसे धैर्य और शान्ति से सुने और उसके शान्त होने पर विवेक बुद्धि से तौल कर यथोचित उत्तर दें। अशिष्ट के साथ उसी स्तर की भाषा का प्रयोग करना मानसिक दुर्बलता का चिन्ह है। मानसिक सबलता का प्रमाण तो धैर्य और शान्ति रखना है। यही शिष्ट व्यवहार है।

५—उदार होना भी शिष्टाचार का एक अंग है। यह सज्जनता का एक लक्षण है। जो शक्तियाँ अपने पास हैं, उनको अपने लाभ तक ही सीमित न रखकर दूसरों के हित के लिए प्रयुक्त करना उदार भावना का द्योतक हैं। संकुचित व्यवहार से शक्तियों का भी संकोचन होता है। विशाल हृदयता से शक्ति विकास की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। दूसरों के प्रति उदार भावना का अभिप्राय है—उन्हें आत्मवी समझना। यह उच्चकोटि कीं शिष्टता हैं।

६—किसी ने हमारे साथ कभी उपकार किया है तो उसे सदा स्मरण रखना और सहायता करने वाले का उपकार मानना ही कृतज्ञता कहलाती है जो भारतीय संस्कृति का प्रमुख गुण है। शास्त्रों में कृतघ्न व्यक्ति की घोर निन्दा की गई है, उसे तुच्छ और शूद्र कहा गया है। यहाँ तक कहा है कि ऐसे व्यक्ति का माँस कुत्ते भी नहीं खाते क्योंकि उसमें क्षुद्रता के अवगुण समाहित होते हैं। समाज में हर व्यक्ति का उत्थान एक दूसरे के सहयोग से ही होता है। यदि मानव अपने उत्थान का श्रेय केवल अपने बुद्धि कौशल को ही देता है तो वह भूल करता है। कृतज्ञता के आदेश भगवान राम हैं रामाराग में राम के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनके प्रति किए गए सैकड़ों अपराधों तो तो वह सहज में भूल जाते हैं परन्तु उनके साथ किये छोटे से छोटे उपकार को वह कभी नहीं भूलते। उसका नित्य स्मरण रखते हैं। ज्ञतज्ञता से की शिष्टता के विकास की झलक मिलती है।

शिष्ट आचार ही मन्त्रसिद्धि के द्वार खोलता है।

सदाचार व शिष्टाचार के जिन मूल भूत नियमों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनका पालन प्रत्येक उत्तम नागरिक के लिए परम कर्त्तव्य माना गया है। मानवीय गुणों की सुरक्षा व विकास के लिए इनका ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्रों ने बार-बार कहा है कि आचार हीन व्यक्ति लोक व परलोक में कहीं भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जब उसे लोक में ही सम्मान नहीं मिलता, हर व्यक्ति उसे सन्देह असम्मान और घृणा की दृष्टि से देखता है तो परलोक में कल्याण की आशा कैसे कर सकता है। कठोपनिषद् से तो स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि किसी व्यक्तिका बौद्धिक विकास कितना भी हो चुका है, वह परमात्म प्राप्ति, मानसिक सुख शान्ति के पथ पर कदापि नहीं चल सकता जब तक उसने बुरे आचरणों को छोड़ा नहीं है। स्पष्ट है कि बुरे आचरणों से व्यक्ति अपनी भौतिक व आध्यात्मिक, लौकिक व पारलौकिक शक्तियों को क्षीण करता रहता है। शक्तिहीन व्यक्ति को कभी सिद्धि के दर्शन नहीं होते। सिद्धि प्राप्त करने के लिए शक्ति नाश के सभी मार्ग होने चाहिये, शक्ति की सुरक्षा होनी चाहिए। मन्त्र साधना शक्ति विकास की साधना है। जो विषय वासनाओं में रहा है। वह मन्त्र साधना में रुचि ही नहीं ले सकता। यदि किसी स्वार्थवश वह अपनाता भी है तो इसमें सफल मनोरथ नहीं होता क्योंकि सिद्धि के मूलभूत कारणों की ओर तो उसका ध्यान नहीं जाता। जब तक कुप्रवृत्तियों का वह त्याग नहीं करता स्वप्न में भी मन्त्र सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। मन्त्र सिद्धि का अधिकारी तो सदाचार सम्पन्न साधक ही है जो मानवीय गुणों व विभूतियों से ओत प्रोत होता है। अतः सिद्धि साधना मे सलग्न साधक को चाहिये कि साधना के साथ-साथ सदाचार की ओर भी विशेष ध्यान दे।

—:—

धारणा

"चित्त की वृत्ति मात्र से किसी एक देश में ठहराने को (बाहर या शरीर के अन्दर कहीं भी) धारणा कहते हैं" (योगदर्शन ३।१) । चित्त की चंचलता को दूर करने के लिए उसे एक स्थान विशेष पर ठहराने का अभ्यास करना आवश्यक है । इस अभ्यास को ही धारणा कहते हैं । इस अभ्यास के लिए भ्रकुटी, नासिका का अग्रभाग, हृदय कमल, नाभिचक्र या सूर्य, चन्द्र व ध्रुव आदि में या अपने इष्ट देवता की मूर्ति पर अथवा किसी भी अन्य प्रिय और सुन्दर लगने वाले पदार्थ को चुना जा सकता है । धारणा से चित्त को ऐसा बाँधा जाता है कि वह उसी स्थान पर स्थिर हो जाता है, इधर-उधर नहीं भाग सकता ।

चित्तवृत्ति निरोध का विज्ञान

चित्त का काम स्मृति तथा संस्कारों को ग्रहण करना और उन्हें बनाए रखना है । जिस तरह साधारण सी धातुओं को विधिवत् संस्कारित करने पर चमत्कारिक और शक्ति सम्पन्न, प्रभावोत्पादक भस्में तैयार हो जाती है, उसी तरह मानवीय चित्त को आध्यात्मिक उपचारों द्वारा सुसंस्कृत करने पर वह उसी प्रकार शुद्ध व पवित्र हो जाता हैजिस तरह सोने को अग्नि पर तपाने से वह असाधारण रूप से चमकने लगता है । जब चित्त में शुभ व शिव संस्कार रहते हैं, उसे शुद्ध चित्त की संज्ञा दी जाती है । इसके विपरीत जब अशुद्ध व मलीन संस्कारों का निवास हो तो उसे अशुद्ध माना जाया है ।

साधक को जानना चाहिये कि स्मृतियों का सद् और संस्कारों के शुद्ध होने पर उनका चिन्तन और आचरण कल्याणकारी दिशा में

अग्रसर होता है। उसे ऐसी मनोभूमि तैयार करनी होगी जिस पर सद् स्मृतियों और संस्कारों का निवास सहज में हो सके और उनका स्थायित्व बना रहे। योग की भाषा में इस आध्यात्मिक उपचार प्रणाली को चित्त वृत्ति निरोध की संज्ञा दी गई है। शास्त्रों ने इस रुचि को अत्यन्त दुस्तर बताया है। गीता (६।३४) में अर्जुन जैसे उच्चकोटि से साधक को भी यह स्वीकार करना पड़ा है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

अर्जुन ने अपनी मनोव्यथा का वर्णन करते हुए कहा कि मन बहुत शक्तिशाली है। इसको नियन्त्रित करने से प्रयत्न में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। इसकी चंचलता तो लोकप्रसिद्ध है। जब असावधान रहा जाए तो यह मस्तिष्क को मथ डालता है। इसका वशीकरण अत्यन्त कठिन है। योगियों ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि चित्त पर पिछले अनेकों जन्मों के पापों और वासनाओं के संस्कार पर्तों के रूप में जमे होते हैं, उनकी निवृत्ति सहज में ही नहीं हो जाती है। जब चित्त को शुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है तो यह कुवासनायें अनुकूलता प्राप्त करके उत्तेजित हो उठती है और वर्षों का अभ्यास धूमिल हो जाता है असस्कृत चित्त के दो रूप सामने आते हैं। एक लुभावना और दूसरा भयभीत करने वाला। यह दोनों रूप आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होते हैं। इसलिए जिसका मन निर्बल होता है और बुद्धि परिपक्व नहीं होती है, वह इस साधना में स्थिर नहीं रह सकते हैं।

योग में सफलता प्राप्त करने के लिए अभ्यास एक श्रेष्ठ आलम्बन है। कठिन से कठिन साधनायें भी अभ्यास द्वारा सम्पन्न की जा सकती हैं। मन की चंचलता और चित्त की अस्थिरता इससे निवृत्त हो सकती है।

योगाचार्यों ने चित्त वृत्ति निरोध के लिए दो अनुभव सिद्ध उपायों

का निर्देश किया है। (योग दर्शन १।१२) में प्रथम उपाय की ओर संकेत करते हुए कहा है:—

अभ्यास और वैराग्य से उसका निरोध होता है

चित्त की जो वृत्तियाँ तमोगुण के संसर्ग से निद्रा आलस्य, निरुत्साह पैदा करती हैं, वह अभ्यास से निरुद्ध हो जाती है। रजोगुण की बाहुल्यता से चित्त में राग, द्वेष, चंचलता, सांसारिक विषयों में कामना आदि की वृत्तियाँ, वैराग्य से उन विषयों में घृणा उत्पन्न होकर, वैसे ही अन्तर्मुख में लीन हो जाती है जैसे ईंधन के जल जाने पर अग्नि अपने आप शांत हो जाती है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों से ही चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार केवल अभ्यास के द्वारा या केवल वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरुद्ध होना असम्भव है। गीता में श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा है, "अस्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यत।" हे अर्जुन मन को अभ्यास द्वारा और वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। इस चित्त विषयक पर किसी महात्मा ने उदाहरण दिया है —

"चित्त एक नदी के समान है जिसमें वृत्तियों का बहाव ही जल है। इसकी दो धारायें, एक संसार-सागर में मिलती है, दूसरी कल्याण रूपी सागर में गिरती है। जिन मनुष्यों के संस्कार सांसारिक विषयों के भोग भोगने के लिए हैं, उनकी वृत्तियों की धारा उन सस्कारों के कारण दुःख-सुख रूपी विषम मार्ग से संसार सागर में जा मिलती है और जिन्होंने कैवल्यार्थ काम किये हैं, उनकी मनोवृत्तियाँ संस्कारों द्वारा विवेक मार्ग से बहती हुई कल्याण सागर में आ गिरती है। विषयासक्त मनुष्यों की पहिली धारा जन्म से ही खुली रहती है किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र एवं सन्तों के वचन खोलते हैं। पहिली धारा रोकने को वैराग्य का बाँध लगाया जाता है तथा अभ्यास द्वारा दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों का प्रवाह विवेक स्रोत में डाल दिया जाता

है, तब प्रबल वेग से सारा बहाव कल्याण सागर में लीन हो जाता है। जैसे किसी नदी के बाँध से दो नहर निकलती हैं, पहिली नहर में तख्ता डालकर उसके जल मार्ग को रोक कर दूसरी नहर में जल छोड़ देते हैं, तो पहिली नहर सूख जाती है, इसी तरह अभ्यास और वैराग्य से दुःख-दायी चित्त वृत्तियों को सांसारिक विषयों से मोड़कर कल्याण कार्य में ले जाते हैं।

अभ्यास की परिभाषा करते हुसे योग दर्शन (१।१३) में कहा है –

तत्र स्थिनौ यत्नोऽभ्यासः ।

चित्त की स्थिरता के लिए प्रयत्न करना अभ्यास है । राजस, तामस वृत्तियों की चञ्चलता से रहित होकर चित्त का शान्तिपूर्वक आत्म-दिशा में चलना स्थिति कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए शक्ति उत्साह के साथ प्रयत्न करना अभ्यास है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह योग के आठ अङ्ग अभ्यास का स्वरूप हैं। संसार के बड़ें से बड़े कठिन असम्भव कार्य भी अभ्यास से पूर्ण हो जाते हैं। अभ्यास से मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी आश्चर्यजनक, प्रकृति विरुद्ध काम करते हैं। यद्यपि चिरसंचति बहिर्मुखी संस्कार इस कार्य में बाधक होते हैं फिर भी दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते वेहने से वह भी शमन हो जाते हैं और समाधि सिद्ध होती है।

अभ्यास की दृढ़ता के साधन की ओर निर्देश देते हुए योग दर्शन (१।१४) में कहा है —

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्य सत्कारसेवितो दृढ़ भूमिः ।।

वह अभ्यास बहुत काल तक लगातार सत्कार में ठीक-ठीक किया जाने पर दृढ़ अवस्था वाला होता है। चित्त प्रचण्ड पवन के समान है। जिस प्रकार पवन फूलों के संसर्ग से सुगन्धित एवम् सड़े पदार्थों के संसर्ग से दुर्गन्धित होता है, उसी प्रकार चित्त राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ,

मोह, भय आदि प्रपचों में पड़कर बदलता रहता है और इन्द्रियों द्वारा ब ह्य विषयों से आकर्षित होकर उन जैसे आकार में बदलता रहता है। वह सब चित्त की वृत्तियाँ कहलाती हैं और हर समय पैदा होती रहती हैं, उनके अनादि जन्मों के संस्कार बीज रूप से चित्त में पड़े चले आ रहे हैं। उनको थोड़े समय में निरुद्ध करना कठिन है क्योंकि थोड़ी सी लापरवाही आने पर विषय वासना पुनः मनुष्य को अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिए पातंजलि ने सूत्र में तीन विशेषणों का दीर्घ-काल 'नैरन्तर्य' 'सत्कारासेवित' प्रयोग किया है, अर्थात् बहुत काल तक चित्त-वृत्तियों को अभ्यास द्वारा निरोध कर दृढ़े करना चाहिए। यह भी न होना चाहिए कि कभी अभ्यास कर लिया, कभी कार्यवश छोड़ दिया। इस तरह अभ्यास करने से दृढ़ नहीं होता है। पुनः वह अभ्यास श्रद्धा भक्ति, अत्यन्त लगन और उत्साह के साथ करने से वह दृढ़ अवस्था वाला होता है। जिनके पूर्व संस्कार, लगन, वैराग्य तीव्र हैं, उनको ज्यादा समय की आवश्यकता नहीं है फिर भी अभ्यासी जनों को घब-राना नहीं चाहिए। अभ्यास दृढ़ होने पर बहिमुखी वृत्तियों का अव-सर नहीं होता।

दूसरा उपाय योग दर्शन (१।२३) में वर्णित किया है—

"ईश्वर प्रणि धानाद्वा।"

इसका भाव यह है कि अपने आपको ईश्वर में लीन करने का अभ्यास करने से मन की वृत्तियाँ ऊर्ध्वगति प्राप्त करती है।

जिस प्रकार बहिमुंखी चित्त वृत्तियों को साँसारिक विषयों से अभ्यास-वैराग्य द्वारा शमन किया जाता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रणि धान' अर्थात् मन वाणी कर्म से भगवान की भक्ति नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन करके सब वृत्तियों को ईश्वर में समर्पण कर देने से, अनासक्त कर्मयोग का मार्ग अपनाने से, वे शुद्ध हो जाती है और चंचलता उत्पन्न नहीं करतीं अर्थात देह इन्द्रियाँ अन्तः करण को एवं उनसे होने वाले कर्मों एवं उनके परिणामों, बाह्य

और अन्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण करने से भी चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध होकर समाधि सिद्ध होती है।

चित्तवृत्ति निरोध के इन दो वैज्ञानिक उपायों का पूर्णतः ध्यान में रखते हुए अभ्यास करते रहने पर इनका निश्चित रूप से निरोध होता है।

धारणा का मन्त्र सिद्धि से घनिष्ट सम्बन्ध हैं। धारणा की सफलता पर मन्त्र की सफलता निर्भर करती है। योग शास्श में भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है—

भक्तिर्जपस्य संसिद्धिराचारः प्राणसंयमः।
साक्षात्कारो देवयाया दिव्य देशेषु नित्यशः॥
देवशक्ति विकाशो वै ऽभीष्टदशनमेव च।
लभ्यन्ते धारणासिद्धया सर्वाणीम विनिश्चपः॥

"धारणा में सफलता प्राप्त करने पर मन्त्र सिद्धि भक्ति, आचार, प्राणसंयम, देवता का साक्षात्कर, दिव्य देश में देवभक्ति, का विकास व अभीष्ट दर्शन की उपलब्धि होती है।

अतः धारणा को मन्त्र योग का एक आवश्यक अङ्ग मानना युक्ति युक्त है।

—:—

दिव्यदेश सेवन

१६ दिव्य देश

योग शास्त्र में वर्णन है :—

यथागवां सर्वशरीरज पयः
पयोधरान्निः सर-ीह केवलम् ।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोतिस दिव्यदेशकैः ।।

"जिस तरह गौ के सारे शरीर में दूध विद्यमान रहता है परन्तु वह केवल स्तनों द्वारा ही निकलता है, उसी प्रकार ईश्वर की शक्ति सर्वत्र-व्यापक है, उसका विकास दिव्य देशों के माध्यम से होता है।"

जिन १६ तरह के स्थानों में पीठ बनाकर उपासना की जाती है, उनको दिव्य देश की संज्ञा दी गई है जैसे मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पत्थर की मूर्तियाँ. स्थण्डिल व यन्त्र आदि । १६ प्रकार के दिव्य देशों का वर्णन योगशास्त्र में आता है—

तन्त्रेषु दिव्यदेशाः शोडश प्रोक्ता यथाऽत्र कथ्यन्ते ।
अग्न्यबुलिङ्गवेद्यो भित्तौरेखा तथा च चित्रं च ।।
मण्डलविशिखौ नित्यं यन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च ।
मूर्त्तिविभूतिनाभी हृदयं मूर्धाच षोडशैते स्युः ।।

अग्नि, पानी, लिङ्ग, यज्ञार्थं, परिष्कृत भूमि, दीवान, वस्त्र, मंडल, विशिख, नित्ययंत्र, भावयन्त्र पीठ, विग्रह विभूति, नाभि, हृदय और मूर्धा यह १६ दिव्य देश हैं।

प्राण प्रतिष्ठा से दिव्य शक्ति का विकास

यह सभी दिव्य देश स्थूल उपासना को प्रदर्शित करते हैं। यह शङ्का हो सकती है कि हिन्दू-धर्म में सब ओर मूर्ति पूजा का ही विस्तार है। वास्तविकता यह है कि पूजा केवल स्थूल पदार्थों की नहीं की जाती वरन् उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करके उनमें ईश्वर की सर्वव्यापी दिव्यशक्ति की ओत-प्रोत किया जाता है। उपासना मूर्ति में शक्ति और भाव की, जाती है। मूर्ति और अन्य स्थूल पदार्थों में किस प्रकार दिव्य शक्ति का विकास होता है. इसका उल्लेख कुलणिव तन्त्र में आया है।

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते॥

"जिस तरह गौ के शरीर में सर्वत्र दूध व्याप्त रहता है परन्तु वह केवल स्तनों के द्वारा ही निकलता है, उसी तरह ईश्वर की शक्ति सर्वत्र व्याप्त है परन्तु मूर्ति के माध्यम से ही वह प्रकट होती है।"

गौ के स्तनों से दूध निकालने की भी एक कला है, उसे हर व्यक्ति नहीं निकाल सकता है। उसी तरह से मूर्ति के माध्यम से शक्ति विकास भी एक कला है, इसके भी कुछ निश्चित उपाय हैं, जिनके अवलम्बन से शक्ति विकास की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। कुलणिव तन्त्र में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया गया है :—

आभिरूप्याच्च विम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः।
साधकस्य च विश्वासद्देवतासन्निधिर्भवेत्॥

मूर्ति का निर्माण उचित भाव व ध्यान से होना चाहिए। उसकी पूजा पूर्ण विधि विधान से होनी चाहिए। मूर्ति में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास हो तभी दिव्य शक्ति का विकास सम्भव है। इस प्रकार को शास्त्र की संज्ञा दी गई है। यह क्रिया वेद द्वारा समर्थित है क्योंकि वेद में भी अनेकों ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये :—

"अयान्तु वः पितरः" "अग्नऽआयाहि"।

इससे देवता, पितरों का आवाहन किया गया है। निम्न मन्त्रों के द्वारा मूर्ति के विभिन्न अङ्गों में प्राज प्रविष्ठा की जाती है—

"वाचेस्वाहा" "प्राणाय स्वाहा"

"चक्षेषु स्वाहा" "श्रोत्राय स्वाहा"

यजुर्वेद में तो स्पष्ट शब्दों में प्राण प्रतिष्ठा के भावों में वर्णन किया गया है—

"या ते धर्म दिव्या शुग्या गायत्र्यां हविर्धाने सा त।

"अ।प्यायतान्निष्ठयया यतान्तस्मै ते स्वाहा" इत्यादि।

"हे धर्ममूर्ते ! समष्टि प्राण व समष्टि शरीर में तेरी दिव्य शक्ति व्याप्त रहती है। वह इस मूर्ति में आकर प्रतिष्ठित हो।"

शारदा तिलक व अन्य तन्त्र ग्रन्थों में विभिन्न इन्द्रियों में प्राण-प्रतिष्ठा की स्थापना के लिये विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का विधान प्राप्त होता है। इससे सिद्ध है कि मूर्ति में ठीक प्रकार से की गई प्राण प्रतिष्ठा से दिव्य शक्ति का विकास होता है।

श्रद्धा-विश्वास से की गई उपासना से भी दिव्यशक्ति का विकास होता है।

आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है। साधक के भक्ति, विश्वास और पूजा की शक्ति को यदि विषमशक्ति मानें और ईश्वर की शक्ति को सम तो निश्चय रूप से साधक की विषमशक्ति परमात्मा की सम शक्ति को मूर्ति के साध्य से आकर्षित कर लेती है। विषम और सम शक्तियों के मिलन से ही विद्युत धारा का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इसी तरह से साधक की अन्तः चेतना भी जगमगा उठती है।

एक उदाहरण और प्रस्तुत करते हैं। साधारण कांच पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो वह सूर्य शक्ति को आकर्षित नहीं कर सकतीं परन्तु वही किरणें जब आतशी काञ्च पर पड़ती हैं तो उसमें सूर्य की शक्ति को आकर्षित करने की सामथ्य हो जाती है और उन किरणों

को किसी वस्त्र पर डाला जाए तो वह वस्त्र जलने लगता है। इसी तरह सामान्य पत्थर की मूर्तियों में दिव्य शक्ति का विकास असम्भव है जब तक कि उसमें भावानुसार मूर्ति का निर्माण होकर, विधि विधान से मन्त्रों द्वारा प्राण प्रतिष्ठा न की जाय। जब श्रद्धा-विश्वास की अग्नि जलाई जाती है तो पत्थर की मूर्ति एक जीवित जाग्रत विग्रह प्रतीत होने लगता है और आतशी काच्च की तरह ईश्वर की सर्वव्यापी शक्ति को आकर्षित किया जा सकता है।

उच्च आदर्शों की स्थापना

मूर्ति से साधक को यह विश्वास हो जाता है कि जिन गुणों से सम्पन्न ईश्वर को मैं पाना चाहता हूँ, अथवा मैं जिन गुणों को अपने में विकसित करना चाहता हूँ, वह मूर्ति रूप में मेरे समक्ष उपस्थित है, इसे मैं अपनी अन्तः चेतना में बिठाकर इससे एक रूप हो जाऊँगा, मैं वही हो जाऊँगा जिसका मैं ध्यान कर रहा हूँ। जब उसका ध्यान परिपक्व हो जाता है तो सब ओर उसी की छाया दिखाई देती है, वह अणु-अणु में समाया हुआ मिलता है, उसे अपने उपास्य के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता, उसका आत्मिक स्तर विकसित होने लगता है, वह सब प्राणियों में अपने प्रभु के दर्शन करता है और अपने में सबको पाता है। इस स्थिति तक पहुँचना ही उसका उद्देश्य होता है। यहाँ आकर उसकी प्रारम्भिक मूर्ति उपासना छूट जाती है और वह समस्त चलती फिरती प्रतिमाओं को अपने ईश्वर का रूप मानने लगता है। जब उसका स्तर स्थूल से सूक्ष्म हो जाता है, तब वह निराकार तत्व की उपासना के योग्य होता है क्योंकि स्तर की अनुकूलता में ही शक्ति के विकास का रहस्य निहित है। स्तर की प्रतिकूलता में अच्छे परिणामों की आशा करना असम्भव है। यह ठीक है कि मर्तिपूजा से अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना तो सम्भव नहीं है क्योंकि ईश्वर सूक्ष्म है और सूक्ष्म को प्राप्त करने के लिए, उसमें लीन होने के लिए उससे एकाएक होने के लिए अपनी अन्तः चेतना को उतना ही सूक्ष्म

बनाना होगा जितना कि वह है, अन्यथा अपने लक्ष्य में निराशा ही होगी।

आरम्भिक उपासना के लिए मूर्ति पूजा आवश्यक है।

मूर्ति-पूजा ईश्वर उपासना का आरम्भिक शिक्षा सत्र है। यह चित्त शुद्धि का सरल साधन है। इसमें अपने इष्टदेव का ध्यान सुविधा-जनक होता है। निराकार उपासना कष्टसाध्य है जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता (१२-५, ६) में निर्देश दिया है कि जो सबके मूल में रहने वाले, अचल; अव्यत, सर्वव्यापी, अचिन्त्य प्रत्यक्ष न दिखाई देने वाले और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोककर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे भी मुझे ही पाते हैं। परन्तु उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनको क्लेश अधिक होते हैं क्योंकि अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि साधक सब इन्द्रियों को जीतकर और सभी प्राणियों के प्रति समबुद्धि की व्यावहारिक भावना बनाकर ही उस निराकर उपासना का अधिकारी बनता है। यदि आरम्भिक साधना के लिए सूक्ष्म और असीम की उपासना निर्धारित कर दी जाय तो वह अन्धकार में ही टटोलता रहेगा और भटक जायगा क्योंकि केनोपनिषद् (१/३) के अनुसार वहाँ न तो चक्षु पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है और न ही मन पहुंच सकता है, वह विदित पदार्थों से भिन्न है और न जाने हुए पदार्थों से भी परे है। अतः ऋषियों का यह मत बना कि सीमित बुद्धि वाला साधक सीधे असीम की उपासना नहीं कर सकता, वह सीमित की उपासना करने से ही असीम तक पहुँच जायेगा। इस ध्रुव सत्य की पुष्टि एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने भी की है। अपनी पुस्तक "दि रेलिजन एटीट्यूड" में वुडबर्न ने लिखा है—"मूर्ति का यथार्थ महत्व प्रतीकात्मक होता है और इसका प्रभाव विशेषतः ऐसे व्यक्तियों

की चेतना पर पड़ता है जिन्होंने मानसिक प्रतिमाओं का प्रयोग करना नहीं सीखा है।" अर्थात् जिनका मानसिक स्तर पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नाइट ने भी अपनी पुस्तक "सिम्बालिकल लैंग्युएज आफ एनसेन्ट आर्ट एण्ड माइयालाजी" में लिखा है "मूर्ति पूजकों का यह विश्वास था कि दैवी सत्य प्रतीक में छिपा रहता है, पहेली और कल्पित आख्यायिकाओं में प्रच्छन्न रहता है। यह निर्बल मानवीयता को समयानुकूल रखता है, बनिस्वत कि यह ज्ञान और मूल दर्शन में प्रदर्शित हो। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान भी इस मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि छोटे स्तर वाले व्यक्तियों के लिये प्रार्थना व पूजा के लिए कोई दृश्य-चित्र या मूर्ति की आवश्यकता अनिवाय है।

स्वाभाविक व प्राकृतिक उपासना-पद्धति

जड़ पूजा तो हमारा प्रकृति-दत्त स्वाभाव है। जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा को वेदों ने देवता कहा है क्योंकि वह निरन्तर अपनी शक्तियों से हमें लाभान्वित करते रहते हैं, उनके बिना हमारा जीवन असम्भव है। इसलिए जड़ होते हुए भी हम उनकी पूजा, उपासना करते हैं। इन जड़ पदार्थों में स्वयमेव कोई शक्ति नहीं है। उस आद्य शक्ति के कारण ही इन प्राणप्रद गुणों का समावेश हो पाया है। जल के अभाव में हमारे प्राण छटपटाते है। सूर्य न हो तो समस्त प्राणियों का जीवन पृथ्वी पर दूभर हो जाये। वायु के बिना तो एक क्षण भी जीवित रहना असम्भव है। क्या यह अद्भुत शक्तियाँ इन जड़ पदार्थों की हैं या इनमें जो चैतन्य शक्ति काम कर रही हैं, उनकी हैं? इस देवता के रूप में इन जड़ पदार्थों की पूजा नहीं करते। हम आत्मानुभूति करना चाहते हैं, तो इस पञ्चभौतिक जड़ शरीर के द्वारा ही यह सम्भव है। हम किसी महान आत्मा की, उसकी त्यागमय सेवाओं के उपलक्ष में सम्मान-पूजा करना चाहते हैं तो उनके चित्र, मूर्ति या साक्षात् उनके शरीर द्वारा ही सम्भव है। उनके सम्बन्ध में पत्र-पत्रि-

काओं में लेख लिखें या उनका जीवन-चरित्र प्रकाशित करें, तो यह भी जड़ के द्वारा उनकी पूजा हुई। हम उनकी आत्मा को किस प्रकार से श्रद्धांजलियाँ अर्पित करें ? केवल यही स्थूल मार्ग हमारे लिए खुले हैं। ईश्वर निराकार है। वह स्थूल नेत्रों से दिखाई नहीं देता। इसलिये उसके उपकारों के भार से दबे हुए भी उसको कैसे श्रद्धा के सुमन चढ़ायें ? उसके अनेकों गुण हैं और गुणानुरूप अनेकों शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों के अनुसार आचार्यों ने उसे साकार रूप में ढाल लिया है। मूर्ति पर फूल चढ़ाते हुए हम यह नहीं सोचते कि हम पत्थर की पूजा कर रहे हैं वरन् वह भाव रहता है कि इसमें व्याप्त जो चैतन्य शक्ति है, वह ही हमारी श्रद्धा की पात्र हैं। मूर्ति की उपासना करने वाला जानता है कि वह उस सर्वव्यापी ईश्वर की ही उपासना कर रहा है। पवित्र श्रद्धा भावना से उसकी आत्मा का सम्बन्ध उस चैतन्य सत्ता से हो जाता है जो अणु-अणु में व्याप्त है, उसका कोई विशेष स्थान नहीं है, वह सर्वव्यापी है। मूर्ति-साधक के विश्वास को बढ़ाती है कि यही ईश्वर है। विश्वास की पूर्णता ही इसे आदि विद्युत-धारा से मिला देती है। इस मिलन से जो उसे अपार आनन्द की अनुभूति होती है, वही ईश्वर-प्राप्ति की ओर बढ़ने का चिन्ह माना जाता है। यदि वह ऐसा न करे तो वह सर्वव्यापी की किस प्रकार उपासना करे ? एकदेशी सर्वदेशी को एक बना कर ही उसकी उपासना कर सकता है क्योंकि स्थूल का स्थूल से और सूक्ष्म का सूक्ष्म से मिलन सम्भव है। सूक्ष्म तक स्थूल की सीधी पहुंच नहीं है। स्थूल को तो स्थूल का अवलम्बन ग्रहण करना ही पड़ेगा। हम मन को एकाग्र करके ज्योति या 'ॐ' का ध्यान करते हैं। हम सोचते हैं हम निराकार की उपासना कर रहे हैं। इनका भी तो आकार है। इनका ध्यान भी मूर्ति-उपासना के अन्तर्गत आएगा। अतः मूर्ति-उपासना स्वाभाविक व प्राकृतिक है।

वेद की साक्षी

अग्नि-उपासना को सभी वैदिक अनुयायी स्वीकार करते हैं।

वेदों में उसकी महिमा से सम्बन्धित सैकड़ों मन्त्र उपलब्ध हैं। अग्नि से परमात्मा की प्रसन्नता मानी गई है। (ऋग्वेद १।१४।४) अग्नि उपासना के बिना मुक्ति न मिलने की घोषणा की गयी है (ऋग्वेद ४।४५।१) अग्नि उपासक के हृदय में परमात्मा का तेज प्रकाशित होता है (अथर्व ६।६५)। अग्नि को शास्त्रों में ब्रह्मरूप कहा गया है परन्तु अग्नि तो जड़ है। उसके माध्यम से कैसे चैतन्य की प्रसन्नता प्राप्त करने में साधक सफल हो सकता है। अग्नि स्थूल पदार्थों को सूक्ष्म बनाकर देवताओं को अर्पण करती हैं। मूर्ति साधक की पवित्र भावनाओं को तत्तद्देव तक पहुँचाती है। इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि अग्नि-उपासना वैदिक है तो मूर्ति-पूजा भी वैदिक माँननी पड़ेगी। वेद तो स्वयं मूर्ति-पूजा का प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि उन्हें स्वयं ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान माना जाता है। मन्त्र और शब्द दोनों स्थूल हैं। अतः वेद स्वयं स्थूल उपासना का प्रतिपादन करते हैं। अनेकों वेद-मन्त्र इसकी साक्षी भी देते हैं।

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मती प्रजां रायस्पोषेण स सृज .।
(अथर्व ३।१०।३)

अर्थ—"हे रात्रे! संवत्सर की प्रतिमा! हम तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम हमारे पुत्र-पौत्रादि को चिर-आयुष्य बनाओ और सभी पशुओं से हमको सम्पन्न करो।" अथर्व (२।१३।४) में प्रार्थना है—"हे भगवान्! आओ और इस पत्थर की बनी मूर्ति में अधिष्ठित होओ, तुम्हारा यह शरीर पत्थर की बनी मूर्ति हो जाये।"

प्रतिमा में शक्ति का अधिष्ठान किया जाता है, प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। सामवेद के ३६ वें ब्राह्मण में लिखा है—

वेदातायतनानि कम्पन्ते दैवप्रतिमा हसन्ति।
रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति॥

अर्थात् देवस्थान काँपते हैं, देवमूर्ति हँसती, रोती और नृत्य करती हैं, किसी अङ्ग में स्फुटित हो जाती हैं, वह पसीजती हैं, अपनी आँखों को खोलती और बन्द भी करती हैं ।

मनोविज्ञान का समर्थन

आधुनिक मनोविज्ञान भी मूर्ति की आवश्यकता को अनुभव करता है और यह समझता है कि वह असीम ही सीमित होकर प्रदर्शित होता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कारलाइल के अनुसार "वास्तविक प्रतीक में जिसे ऐसा सम्बोधन किया जाता है, सदैव स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से असीम का रहस्योद्घाटन होता है । इसमें निराकार का संयोजन साकार में होता है जिससे वह दृष्टिगत हो सके और यह प्राप्य-सा हो ।" अर्बन ने अपनी पुस्तक "लेंग्युएज एण्ड रियीलटी" में प्रतिमा उपासना के लाभों का विवेचन करते हुए लिखा है—"धार्मिक प्रतीक या प्रतिमाएँ सीमित और अन्तरदृष्ट्यात्मक सम्बन्धों से उद्धृत की गई हैं और इनसे ऐसे तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है जो अधिक सार्वभौम और आदर्श सम्बन्धों के लिए है, जिनकी अभिव्यक्ति विस्तार अधिक होने से और आदर्शवादिता के कारण सीधे नहीं की जा सकती।" एक और मनोवैज्ञानिक ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है—"भारतीय मन्दिरों में शिव, विष्णु, बुद्ध, महावीर आदि मूर्तियाँ आदर्श को स्थूल रूप देने के उद्देश्य से स्थापित की गई हैं । सूक्ष्म रूप में बिना दृश्य वस्तु के, जो इनका प्रतिरूप है, कल्पना करने पर आदर्श अस्पष्ट रह जाता है । दृष्टान्त के लिए जैन धर्म मे २४ तीर्थङ्कारों का पूजन मूर्ति रूप मे इस कारण प्रचलित नहीं है कि यह मूर्तियाँ ईश्वर के रूप हैं क्योंकि जैन धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया है, वस्तुतः ये आदर्श के प्रतीक हैं जहाँ पहुंचना व्यक्ति का लक्ष्य होता है । स्थूल प्रतीक की यही महत्ता होती है ।

मनोवैज्ञानिकों का यह दृढ़ मत है कि मूर्ति-पूजन की प्रथा इसलिए चली कि इससे प्रेरणा मिलती है और उस प्रेरणा के साथ शक्ति और

विश्वास छिपा रहता है। जिस महापुरुष या अवतार की साधक पूजा करता है, उसके साथ उसके जीवन की महानताएं या तत्सम्बन्धी कथायें अवश्य जुड़ी रहती हैं। प्रतिमा के सामने आते ही वह सभी दृश्य नेत्रों के सामने तैरने लगते हैं और साधक उस महान विभूति से अपने को सम्बन्धित करके उसकी महानताओं और विशेषताओं से अपने मन-मंदिर को जगमगाया-सा अनुभव करता है। वह ऐसा अनुभव करता है कि उसे अपने मनमें बिठाकर, ध्यान में लाकर, उसकी आत्मा से अपनी अन्तरात्मा को मिलाकर, एकाकार करके मैं भी वही बन रहा हूँ। साधक का तत्वरूप बनना भावना पर निर्भर करता है। इस तरह से मूर्तिपूजा से जीवन निर्माण की सूक्ष्म प्रक्रिया आरम्भ होती है और साधक को उच्च कक्षा में ले जाती हैं।

अतः साधारण व्यक्तियों के लिये ईश्वर की पूजा उपासनार्थ मूर्ति या चित्र का होना आवश्यक व लाभदायक है। यह ठोस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका विरोध आवांछनीय है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूर्ति के माध्यम से शक्ति का विकास किया जा सकता है। सभी दिव्यदेशों का मूर्तरूप निर्धारित करके वहाँ पीठ वनाकर उपासना कीं जा सकती है। अपने साधना गुरु स्तर के अनुकूल निर्देश देते हैं। अतः उनके आदेश पर ही वह उपासना के प्रकार का चुनाव करे। दिव्यदेशों का मन्त्र साधना से घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सफलता के लिए यह माध्यम स्वीकार करना ही होगा।

———

प्राण क्रिया

प्राण क्या है ।

विज्ञान विशारद शरीर को मशीन मानते हैं, जो कार्बोहाइड्रेट, चर्बी प्रोटीन, गन्धक, लौह, अमोनिया फास्फोरस, कैलशियम, अभ्रक, जल लवण आदि से मिलकर बना है । मशीन के संचालन के लिए जिस प्रकार कोंयले और पानी की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार शरीर के परिपोषण और व्यापार संचालन के लिए, वायु, जल और भोजन की आवश्यकता होती है । वैज्ञानिकों का विचार है कि आक्सीजन वायु ही प्राण है । प्राणायाम के जो विपुल लाभ है उनकी दृष्टि में वे आक्सीजन जनित ही है ।

वैज्ञानिकों की शोधों के अनुसार हमारा शरीर छोटे २ असंख्य कोषों से बना है । हम शारीरिक, मानसिक जो भी क्रिया कलाप करते हैं उनसे यह कोष छीजते रहते है । अधिक मात्रा में कोष छीजन से अङ्ग प्रत्यङ्ग में अवसाद आ जाता है, इसी को आम भाषा में थकान कहते हैं । यदि कोषों का द्रुतगति से निर्माण न हो और छीजे हुए नष्ट हुए कोषों का शरीर के बाहर उत्सजन न हो, तो प्राणी शीघ्र मृत्यु का ग्रास हो जाता है । कोषों के निर्माण के लिए वायु, जल और भोजन की आवश्यकता होती है । इनमें भी भोजन की अपेक्षा जल तथा जल की अपेक्षा वायु अधिक आवश्यक है । भोजन के बिना व्यक्ति महीने-दो महीने जीवित रह सकता है, किन्तु पानी के बिना तीन-चार दिन जीना भी संभव नहीं है । वायु तो इन दोनों से अधिक जरूरी है । उसके विना मनुष्य कुछ मिनटों से अधिक जीवित नही रह सकता है । इसीलिए

हमारे दैनिक आहार में सबसे अधिक मात्रा हवा की रहती है। दिन भर में साधारण आदमी लगभग सेर सवा सेर ठोस पदार्थ खाता है। उसके पाचन और शरीर पोषण के लिए दुगनी तिगुनी मात्रा में जल अपेक्षित है। वायु की मात्रा इन दोनों से अधिक होती है जिसकी पूर्ति हम नाक मुंह द्वारा और रोम छिद्रों द्वारा श्वाँस लेकर करते हैं। इस दृष्टि से आक्सीजन युक्त स्वच्छ वायु जीवन के लिए अनिवार्य है। जिस समय व्यक्ति मरमासन्न होता है, उसे विशेष यन्त्र द्वारा आक्सीजन देकर जीवन दान दिया जाता है। इससे भी यह स्पष्ट हैं कि आक्सीजन ही मुख्य तत्व है, प्राण है। सामान्यतः हम श्वास द्वारा जो वायु ग्रहण करते हैं उनमें ७६ प्रतिशत नाइट्रोजन २०·९८ प्रतिशत आक्सीजन और ०·४ प्रतिशत कार्बन डाई आक्साइड होती है। श्वास द्वारा आया हुआ नाइट्रोजन निःश्वास द्वारा तुरन्त बाहर निकल जाता है। साधारण स्थिति में आक्सीजन का कुल ४·५ प्रतिशत भाग ही शरीर ले पाता है। लम्बी और गहरी श्वास १३·५ प्रतिशत तक आक्सीजन को शरीर अवशोषित कर सकता है। अतः वैज्ञानिकों के अनुसार प्राणायाम गहरी और लम्बी श्वास का व्यायाम है। उसके द्वारा विपुल आक्सीजन शोषित की जाती है। इसी में प्राणायाम की उपयोगिता सम्मिलित है।

न्यूगिनी के लोग हृष्ट-पुष्ट और दीर्घायु होते है। डा० हिस्पले ने उनकी परीक्षा की। उन्होंने देखा कि उनका आहार बड़ा सादा और सामान्य कोटि का है फिर भी उत्साह, स्फूर्ति और कार्य क्षमता के वे पुतले बने दीखते है! डा० हिस्पले ने अनुभव किया कि वे वायु तत्व द्वारा कार्य करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। वे लिखते हैं कि न्यूगिनी के आदिवासी लम्बी श्वास का एक व्यायाम नियमित रूप से करते हैं। लम्बी श्वास की क्रिया द्वारा ही वे वायु तत्व से विपुल शक्ति ग्रहण करते हैं, उनके अनुसार वायु में ऐसे २ सूक्ष्मतम जीवाणु जो लम्बी श्वास खीचने से समय शरीर में रह जाते है और हवा से नाइट्रोजन खींचकर उसे शरीर के अन्दर प्रोटीन में बदल देते हैं। इस तरह वे वायु के

स्वस्थ वातावरण में छाये हुये स्वास्थ्यकर जीवाणु समुदाय को ही प्राण मानते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों की मान्यता है कि वायु में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कैल्शियम, फास्फोरस, पोटेशियम, सल्फर, सोडियम, मैगनींशियम, लोहा, आयोडीन, क्लोरीन तथा सिलिकन के सूक्ष्म परमाणु है। हम श्वास द्वारा केवल हवा या जीवाणु विशेष ही ग्रहण नहीं करते वरन् हम इन शरीर उपयोगी खनिजों और रसायनों की तन्मात्राओं को भीं ग्रहण करते हैं, जो शरीर का तोषण-पोषण करते है।

वैज्ञानिकों का एक वर्ग नलिका विहीन अन्तःग्रन्थियों के हारमोन को ही जीवन शक्ति या प्राण मानता है। इस तरह हमने देखा कि 'प्राण' क्या है, इस विषय में वैज्ञानिक एक मत नहीं है। कोई उसे आक्सीजन बताता हैं, तो कोई स्वास्थ्य जीवाणु, किसी की धारणा है कि वायु में व्याप्त रसायनिक परमाणु ही प्राण हैं, तो कोई उन्हें अन्तस्रावी ग्रन्थियों के अन्तःस्राव से उद्भूत शक्ति विशेष मानता है।

प्राण क्या है, इस विषय में हमारे शास्त्रों का दृष्टिकोण अतीन्द्रिय-अनुभूतियों पर आधारित है। जिस प्रकार वे मनुष्य को भौतिक रासायनिक तत्वों का पुतला भर नहीं मानते हैं, उसे मन-बुद्धि चेतना युक्त पञ्चभूतों का सघात कहते है, वैसे ही वे प्राण को आक्सीजन जीवाणु रसायन या रस-क्रिया नहीं कहते हैं। वे उसे विश्वव्यापी चेतन शक्ति विशेष मानते हैं। उनकी मान्यता की सष्यता उनके परामनोवैज्ञानिक प्रयोगों (Experiments pertaining to para psychology) से सिद्ध होती है।

अप्रैल १९६७ की तीसरी तारीख को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री विश्वनाथ दास तथा अन्य उच्चाधिकारियों और सम्भ्रान्त नागरिकों के समक्ष विठूर के लवकुश आश्रम के प्राङ्गण में स्वामी श्री सत्यमूर्ति ने एक गड्ठे में बैठकर प्राणायाम द्वारा समाधि ली। गर्त मिट्टी से पाट दिया गया। वायु प्रवेश का कोई छिद्र शेष नहीं रहा। सप्ताह भर बाद

नियत तिथि पर नियत समय पर ऊार भीड़ के सामने वे उसी आसन गत मुद्रा में बाहर निकाले गये। डाक्टरों ने परीक्षा की। शरीर ठन्डा था। नाड़ी लुप्त थी। थोड़ी देर में वह शनैः शनैः चलती नजर आयी और वे श्वास-प्रश्वास लेने लगे। हँसने और बोलने लगे। उन्होंने अपने प्रवचन में बताया कि वे १४२ बार इसी प्रकार समाधि ग्रहण कर चुके हैं।

ऐसी ही एक घटना का बिवरण डा० मैक्रगीगर लिखित "सिक्खों के इतिहास" नामक ग्रन्थ में हैं। सन् १८३९ की बात है। उन दिनों महाराज रणजीतसिंह पँजाब की गद्दी पर विराजमान थे। स्वामी हरिदास ने चालीस दिन की समाधि ली थी। उन्हें एक बक्से में बन्द कर दिया था। चालीस दिन बीतने पर वैद्यों, डाक्टरों, सरदारों, अग्रेजों के रेजीडेन्ट तथा अन्य अंग्रेजों के सामने मिट्टी खुदवाकर बक्सा निकाला गया। ताला खोला गया। थोड़ी में स्वामीजी हँसते हुए बक्से से बाहर निकले और सब उन्हें विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखते रह गये।

मैंने स्वयं १९४१-४२ में हरदोई में एक महात्मा द्वारा लगाई "भूमि समाधि" देखी है। इन प्रयोगों से यह स्पष्ट हैं कि 'प्राण शक्ति' आक्सीजन जीवाणु, खनिज रसायन ओर अन्तः ग्रन्थियों के हारमोन्स मिश्रित प्रतिक्रिया नहीं है। गड्डे के अन्दर इतने दिनों तक इनके न मिलने पर भी व्यक्ति का जीवित रहना, स्वस्थ और प्रफुल्लित रहना यहो सिद्ध करता है कि प्राण अतीन्द्रिय-शक्ति विशेष है।

हमारे शास्त्रों में इस प्राण शक्ति का विस्तृत उल्लेख मिलता है। नीचे हम उन्हीं के आधार पर प्राणशक्ति और उसके स्वास्थ्य का परिचय दे रहे हैं:—

अथर्व वेद में प्राण को मूल चेतना कहा गया है:—

प्राणो विराट् प्राणो देस्ट्री
प्राणं सर्वं उपासते ।

प्राणोह सूर्य चन्द्रमा
प्राणमाहु प्रजापतिम् ।।

अर्थात् प्राण ही विराट है। वही सबका प्रेरक है। इसीलिए सभी उसकी प्राणायाम के द्वारा उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य है, चन्द्रमा है, प्रजापति है, वही समस्त भौतिक शक्तियों का संचालक है।

एक अन्व मन्त्र में प्राण को वीर्य, बल, उत्साह, प्रतिभा, तेज सद्‌-गुण और आयु बताया गया है।

तेजोऽसि, सहोऽसि, वलमिसि भ्रातोऽसि
देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः।

हे प्राण! तुम वीर्य, तेज हो, तुम उत्साह हो। तम बल हो। तुम दीप्ति (Hallo) हो, तुम दिव्य गुणों के धाम हो, तुम चराचर विश्व हो तुम ही विश्व के जीवन (आयु) हो।

शतपथ ब्राह्मण में सूर्य को ही प्राण कहा गया है। प्राणों वै अर्कः प्राण सूर्य ही है।

सहस्र रश्मि शतधा वर्तमानः।
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।।

सहस्र रश्मि वाला सैकड़ों प्रकार के जीवों को उत्पन्न करने वाला सूर्य ही प्राण है।

अन्तरिक्ष विज्ञान विशारदों का कहना है कि सूर्य से पृथक सुई गैस समूह ही घनीभूत होकर पृथ्वी बनी। इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि आज पृथ्वी पर कुछ भी अदृश्य है तथा अदृश्य, विद्युत चुम्बक ध्वनि, धातु उपधातु वनस्पषि नदी पहाड़ तथा इच्छा अनुभूति मन व्यापार हैं। वे अपने मलरूप में जाज्वल्यमान तरल गैस ही है। पृथ्वी का गुरुत्वकर्षण, चुम्बक, विद्युत, प्रकाश, ध्वनि, ऊर्जा सब सूर्योद्भूत हैं। सूर्य शक्ति का ही रूपान्तर है। इसी दृष्टि से सूर्य को जगदात्मा कहा गया गया है, इसी दृष्टि से उसे महाप्राण की संज्ञा दी जाती है।

वृहदारण्यक उपषिद में 'प्राण' की व्याख्या निम्न शब्दों में की गई हैं—

प्राणो वै बलम् । प्राणो वै अमृतम् । आयुर्नः प्राणः । राजा वै प्राणः ।

अर्थात प्राण ही बल है । प्राण ही अमृत है । प्राण ही आयु है, जीवन है । महा विराट प्राण समस्त संसार का सम्राट है । सर्व शिरोमणि है ।

वृहारण्यक उपनिषद के प्रणेता ऋषि के अनुसार प्राण ही शरीर बल, मनोबल, धुद्धिबल, और आत्मबल हैं । आधि व्याधि, चिन्ता निराशा और विकारों से संतृप्त प्रिय माणों (मुद्रादिलों) के लिए प्राण आशा, उत्साह, स्वास्थ्य, स्फूर्ति, प्रफूल्ला और जीवन देने वाला अमृत है । अमृत का कार्य मरणासन्नों को उज्जीबित करना होता है, सो प्राण भी मुर्दा दिलों में, पार-ताप से सतप्तों में नब शक्ति का संचार करता है । अमृत रूप होने के नाते वह उनका कायाकल्प करता है, मनोकल्प और बुद्धि कल्प करता है । वह उन्हें तेजस्वी बनाता है । यशस्वी बनाता है । यशः काम से अमर बनाता है ।

प्राण को आयु कहने का अभिप्राय यह में कि प्राणायाम आदि साधनों द्वारा अधिकाधिक प्राण का संचय करने वाला न केवल दीर्घायु होता है प्रत्युत इच्छा-मृत्यु वाला भी होता है । महात्मा भीष्म से बड़े प्राण धनी हैं । तभी तो वे सूर्य के उत्तरायण होने तक विषैले घातक प्रहारों से आहत होकर भी शर शय्या पर पड़े रहकर अपने को (अन्तरात्मा को) मर्म पीड़ित जीर्ण-शीर्ण शरीर में रोके रख सके थे । इसलिए कौषीतिक में कहा गया है—"यावद्धयास्मिन शरीर प्राणो वसति तावदायुः" जब तक इस शरीर में प्राण है, तभी तक आयु हैं ।

इसी सन्दर्भ में तैत्तरीय उपनिषद् का एक मन्त्र द्रष्टव्य है—

प्राणात्दयु व खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
प्राणानि जातानि जीवन्ति ।

प्राणं प्रयात्यभि संविशन्तीति ।।

"प्राण शक्ति से ही समस्त प्राणी पैदा होते हैं। पैदा होने पर प्राण से ही जीते हैं। अन्ततः प्राण में ही प्रवेश कर जाते हैं।"

छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी भाव की पुष्टि करता है—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवा।

मिशं विशन्ति प्राणमभ्युज्जि हते ।।

"यह सब प्राणी प्राण में से प्राण में ही उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।"

एतरेय ब्राह्मण प्राणिमात्र को ही नहीं, समस्त ब्रह्माण्ड को प्राण से ही उत्पन्न और पोषित मानता है—

सोऽयमाकाशः प्रागेन वृहत्याविस्ठच्यः

तद्ययाऽयमाकाशः प्राणेन वृहत्ता विस्ठब्ध

एवं सर्वाणि भूतानि अपि पिपीतिकाभ्यः प्राणिते

वृहत्या विस्ठव्यानीत्वेवं विधात् ।।

अर्थात् "यह आकाश प्राणमय है। प्राण से ही विश्व को धारणा करता है। प्राण की शक्ति से ही यह ब्रह्माण्ड में वृहदाकाश में अव-स्थित है। चींटी से लेकर हाथी तक सब प्राणी इस प्राण के ही आश्रित है।"

यहाँ ऋषि ने प्राण को आकाश व्यापी तथा आकाश सदृश्य बड़े विस्तार वाला सर्वग्रासी बताया है। हमारा यह वायुमण्डल तो बहुत सीमित है। वायु का घेरा पृथ्वी से ऊपर कुछ मीलों तक ही है। आगे वायु की तन्मात्रा का घेरा है, उसके भी आगे वात शून्य आकाश है। इससे आकाश की, प्राण तत्व की विपुलता, विशालता का कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

वात शून्य आकाश भी शून्य या पोला नहीं है। यह तो आज के वैज्ञानिक भी मानते हैं। उसमें भी विविध तारों की—हमारे सूर्य सेदेभ कई गुने बिराट सूर्यो की, तेजमयी रश्मियाँ हैं, ऊर्ध्व स्तरीय ग्लैक्सी

की चुम्बकीय तरंगें हैं, विद्युतीय धारायें हैं, इन्ही के साथ उसमें शुद्ध महाप्राण या प्राण भी प्रवाहमान है।

एक तत्वदर्शी के अनुसार प्राण या जीवन शक्ति एक सनातन तत्व है जो विविध धाराओं की रश्मियों, चुम्बक तरङ्गों, विद्युत लहरों, गुरुतर आकर्षणों-विकर्षणों के कारण ब्रह्माण्ड के किसी केन्द्र पिण्ड से उत्पन्न हो रहा है। वहीं से बहता हुआ वह सारे विश्व में नाना प्रकार की रचनाओं के रूप में व्यक्त हो रहा है।

जो ऊर्ध्व आदित्यों (ग्लैक्सी या तारा समूहों) से पोषित-प्रेषित सूर्य के प्रकाश कण को ही जीवन का आधार मानते हैं, उनका विश्वास है कि मनुष्य शरीर में पाये जाने वाला होमोग्लोबिन नामक तत्व ही प्राण है, जो सूर्य से निःसृत होता है और अन्न द्वारा, जल द्वारा, वायु द्वारा तथा इच्छित शक्ति द्वारा हमारे शरीर में पहुँचता रहता है। कुछ ज्योतिर्विद-आकाशचारी आश्नो-स्फोटिक प्लाज्मा को ही जीवनी शक्ति या प्राण की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार हमारी आकाश गङ्गा में अनुमानतः दस खरब तारे हैं। इनके प्रकाश कणों का आकाश गङ्गा के केन्द्रीय क्षेत्र (Centre) में तेजी से संघर्ष और विस्फोट होता है। जिससे एक विशेष प्रकार का प्लाज्मा पोले दीखने वाले आकाश में अनेक धाराओं के रूप में अनेक प्रकार के क्षेत्र बनाते हुए फैल जाता है। विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और गुरुत्वाकर्षण जैसी महत्वपूर्ण क्रियायें उसी से निष्पन्न होती है।

सूर्य की गर्मी और रोशनी हर किसी को दीखती है। यह उसकी स्थूल शक्ति है प्रकट रूप है। इसके भीतर उसकी एक और सूक्ष्म सत्ता विद्यमान है, जो अव्यक्त है। हमें दीखती नही। सूर्य के माध्यम से निरन्तर निर्झर के समान झरने वाले इसी अदृश्य धारा प्रवाह को महाप्राण कहते हैं। यह महाप्राण जब शरीर क्षेत्र में अवतीर्ण होता है तो आरोग्य, आयुष्य, बल, वीर्य, तेज और उत्साह स्फूर्ति के रूप में खा जाता है। जब वह मनः क्षेत्र में अवतरित होता है, तो स्मृति

सद्‌भावना, एकाग्रता स्थिरता, धैर्य और मनः शान्ति के रूप में दृष्टि-गोचर होता है। जब उसका अवतरण बुद्धि क्षेत्र में होता है, तो श्रद्धा, विश्वास, विवेक, सूझ बूझ, सूक्ष्म दर्शिता, आत्मीयता, प्रेम, करुणा, दया के भावों से परिप्लावित हो उठता है। आत्मिक क्षेत्र में इसके अवतरित होने पर अद्‌भुद्‌ कार्य व्यापार करने की क्षमता उसमें आ जातीं है। सिद्धों की जीवन गाथाओं में जो चमत्कार पूर्ण घटनाओं का विवरण हम पाते हैं, वे आत्सिक क्षेत्र में सचित प्रबल प्राण के द्वारा हो समन्न्न होते हैं।

यह आइनो स्फेटिक प्लाज्मा ही व्यक्ति चर-अचर प्राणि जगत का प्राण तत्व है। चुम्बक, प्रकाश, उष्मा, विधुत आदि इसी के विभिन्न रूप हैं। यह दिव्य ऊर्जा सूर्य के माध्यम से ही प्राप्त होती है।

यह सूर्य सरित महाप्राण कोरी कल्पना नहीं है, विधुत, चुम्बक के समान अदृश्य अगोचर होकर भी सुस्पष्ट है। वैदिक काल से आज तक के सिद्ध साधकों ने आध्यात्मिक ध्यान के प्रयोग (Experiment on deep meditation) द्वारा इसे प्रत्यक्ष देखा है, अनुभव किया है। ऐतरेय ब्राह्मण का यह मन्त्र इस सत्यता को प्रतिपादित करता है—

अपश्यं गोपाद्यमनिपद्यमानभा
च परा च पथिमिश्चरन्तम्
स सध्रीचीः स विषूचीवंसा न्
आनरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

अर्थात मैंने प्राण को स्वयं देखा है—प्रत्यक्ष देखा हैं। यह प्राण समस्त इन्द्रियों का पोशक है। यह कभी नष्ट नहीं होता है, अविनाशी है। भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा, नाड़ियों द्वारा शरीर में यह दौड़ता रहता है मुख और नासिका द्वारा यह शरीर में आता है और फिर बाहर निकल जाता है। शरीर में यह गैस रूप है, सूक्ष्म-वायु रूप है। ब्रह्माण्ड में यही सूर्य रूप है। यह विश्वव्यापी सूक्ष्म तरल या गैंतीय शक्ति, जहाँ जितनी अधिक मात्रा में एकत्र हो जाती है, वहाँ उतनी ही अधिक

चैतन्यता सजीवता और तेजस्विता दिखाई देने लगती है। 'मनुष्य' में इस प्राण तत्व का वाहुल्य है। यही कारण है कि वह संसार का सिर-मौर है। वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विचारवान, अधिक सूझ वूझ वाला, अधिक गुणवान और सामर्थ्यवान है। वस्तुतः यह प्राण ही कामधेनु है। हमारी समस्त कामनाओं की तुष्टि पुष्टि का साधन है। इसका ध्यान स्पर्श भी बड़ा पावन है। अतः इसे पारस कहा गया है।

अब तक हमने देखा कि प्राण को चाहे होमोग्लोबिन कहो, आइनों स्फेटिक प्लाज्मा कहो, सूक्ष्मतम गैसीय तरल या जीवनी शक्ति कहो, यह एक प्रकार की चेतन ऊर्जा है, प्राणी के अन्तर में निरन्तर बहने वाली सूक्ष्म भावना अनुभूति, उसी की अनुभूति है। प्राण शक्ति (Vital force की स्फुरणा (discharge) का नाम ही विचार है। जो सफल विश्व की गतिविधि का मूल कारण है, हमारी प्राण शक्ति जितनी कम या अधिक बलयुक्त गति (Velocity of Vital force) से स्फुटित होती है, उसी अनुपात से विचारों की सत्ता कम या अधिक शक्तिशाली रूप में प्रकाश में आती है।

प्राणशक्ति भावातीत विचार है। वह शब्दात्मक या चित्रात्मक न होकर प्रकाशात्मक है। प्राणशक्ति इतना सूक्ष्म किन्तु तीव्र विचार है कि उसे किसी रेडियो या मशीन से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। वह इतना कम्पनशील विचार है, कि स्थूल इन्द्रियों की पकड़ में भी नहीं आ सकता। वह परा बेंगनी किरण (Ultra Violet Rays) से कहीं अधिक तेज और सूक्ष्म है, वह मन जैसा हरदम स्पन्दमान है, महाभाव है, इन्द्रियातीत होते हुए भी तन (भावना) द्वारा ग्राह्य है, महाभाव को लेकर भी वह भाव द्वारा पकड़ा जा सकता है।

तीव्रता (Velocity या intensity) के आधार पर इस प्राण को महर्षि अरविन्द ने चार भागों में विभक्त सिया है—निम्नतर प्राण, निम्न प्राण, उच्च प्राण, उच्चतर प्राण।

एक अन्य योगिराज ने प्राण को तीन प्रकार का बताया है —मन्द, माध्यम और गहन। मन्द प्राण वाले व्यक्ति के विचार टूटे-टूटे से अस्पष्ट होते हैं। वे उलझे हुए, अनियमित और विश्रृंखल होते है, मन्द गति वाले होते हैं। ऐसा प्राण किसी को भी प्रभावित नहीं कर सकता है, क्योंकि वे मन्द बल से स्फुरित (discharged) होते हैं।

जन साधारण माध्यम बल के प्राण वाले होते हैं। उनके विचार निम्न प्राण वालों की अपेक्षा अधिक उज्वल, अधिक स्पष्ट होते हैं। यहीं कारण है कि अपने व्यवसाय में, व्याहार और शिक्षा में यथेष्ठ सफलता प्राप्त करते हैं। महत्वाकाँक्षी होते हुए भी इनमें अपनी इच्छाओं के नियन्त्रण करने की पर्याप्त शक्ति नहीं होती। वे मोह, विभ्रम, अधैर्य' अस्थिरता और अन्तर्द्वन्द के शिकार होते रहते हैं। दुविधा और विक्षेप-भाव उनकी एकाग्रता को बहुधा तोड़ता-जोड़ता चलता है। किन्तु यदि ये प्राणाराधन व्यायाम द्वारा किसी एक ओर विचार और इच्छाओं को केन्द्रित करने का अभ्यास करें, यवि एक प्रकार के विचार और एक जैसी इच्छायें अपने मस्तिक में काफी समय तक रोके रहें तो उनके सस्कार घने होकर, एकत्र होकर एक महती शक्ति बन जाते हैं। गहनता के साथ सोचने और उस इच्छित लक्ष्य के लिए अपनी सम्पूर्ण ध्यान शक्ति समर्पित कर देने से व्यक्ति शक्तिशाली विचार वाला, प्रबल प्राण वाला बन जाता हैं। गहन विचार या प्रबल प्राण लाला व्यक्ति महान धैर्यवान होता है, वह बड़ी सूझ वाला' स्थिर मति का प्राणी होता है। वह बड़ा प्रभावान और प्रभावी होता है।

अब पाठक समझ गए होंगे कि प्राण एक दिव्य ऊर्जा है। यह द्यौऊर्जा हैं जो सूर्य के माध्यम से हमको प्राप्त होती है। यह ताप प्रकाश, विद्युत, चुम्बक गुरुत्व और ध्वनि तरंगों में अधिक तीव्र है। अथवा यही चेतन शक्ति विविध भौतिक उर्जाओं में रूपान्तरित हुआ करती है। चेतन प्राणी में यही विचार के रूप में अभिव्यक्त होती है। हमारे विचार, हमारी श्रद्धा, हमारा धैर्य, हमारी काय शक्ति हमारे संचित अर्जित प्राण के प्रतिरूप ही हैं। शक्ति, सिद्धि सफलता, यश,

आरोग्य और सम्पन्नता को कामना रखने वाले प्रत्येक प्राणी को अधिकाधिक मात्रा में प्राणों का संग्रह करना चाहिए प्राणार्जन ही सभी उन्नतियों का आधार है। प्राणायाम साधन है, 'प्राण' ही साध्य है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्राण अत्यन्त सूक्ष्म तत्व है। उसे विद्युत-प्रवाह, ऊर्जा-प्रवाह, वाह्य प्रवाह और कुण्डलिनी शक्ति भी कहते हैं। यह संसार प्राण का ही पसारा है। 'प्राणो वै ब्रह्म'—परमात्मा ही महाप्राण है। वही सृष्टि का, व्यक्तित्व निर्माण का मूल हेतु है। प्राणों की प्रखरता और मन्दता के अनुक्रम में ही हम श्रेष्ठ या पतित होते हैं।

प्राण से शरीर ही हृष्टता पुष्टता का अधिक सम्बन्ध नहीं है। ऐसे व्यक्ति भी निकम्मे, आलसी, अशिक्षित, निराश, उदास, चिंतित, अधीर, संतप्त और सत्रस्त देखे गये हैं। इसके विपरीत दुबले-पतले व्यक्तियों में विद्युत सरीखी सक्रियता' स्फूर्ति' उमङ्ग, आशा, विश्वास, उत्साह, साहस, सूझ-बूझ और प्रसन्नता देखी गयीहै। प्राण की मात्रा का प्रमाण प्राणी की भावोत्कृष्टता, कार्य कुशलता और कार्य क्षमता को देखकर आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। प्राणवान व्यक्तियों में अद्भुत तेजस्विता, कार्य के प्रति अत्यधिक तत्परता और मनस्विता होती है। ऐसा प्रतीत होता है, उनका प्राण उसके अङ्ग-अङ्ग से उनकी बात-बात से, उनके हाव-भाव और व्यवहार से उमड़-उमड़ कर झलकता है। प्राणहीन व्यक्ति निराशा और अकर्मण्यता, कुण्ठा और विमति (उल्टी बुद्धि) से स्वयं हरदम दुःखी रहता है, गिड़गिड़ाता रहता है। उसकी वाणी और व्यवहार में कोई तेज या प्रभावात्मकता नहीं दृष्टिगोचर होती है।

प्राणवान व्यक्ति ही आत्म-विश्वासी, दृढ़ निश्चयी, अच्छी आदतों वाला, हंसमुख, सद्गुणी और सच्चा आस्तिक होता है। इसीलिए शास्त्र कहता है—

प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामह।
प्राणेन धार्यते लोकः, सर्वं प्राणमयं जगत॥

प्राण ही शिव, विष्णु और ब्रह्म है। प्राण ही अपने में सारे ससार को धारण किये हैं। अतः यह सारा संसार ही प्राणमय है।

शास्त्रों में प्राणायाम महिमा

शास्त्रों में प्राणायाम द्वारा प्रात होने वाले लाभों की काफी चर्चा है। मनुस्मृति ६।७१।७२ में लिखा है 'जैसे धातुओं का अग्नि में तपाने से उनके मल जल जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के सब दोष (पाप) भस्म हो जाते हैं। प्राणायाम द्वारा समस्त दोषों को जलाना चाहिए।' वृहद्योगियाज्ञावल्क्य स्मृति (८-४०) में घोषणा हैं 'जो व्यक्ति नित्यप्रति सूर्योदय के समय सौ प्राणायाम करता है, वह निर्मल होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है।' योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठजी भगवान राम को उपदेश देते हैं 'अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और केवल निर्वाण ही शेष रह जाता है (५।८७।४६) जैसे पंखा बन्द कर देने से हवा की गति रुक जाती है, वैसे ही प्राण के निरोध से निश्चित ही मन शान्त हो जाता है (६६।६।४१)। हें राम! प्राण-शक्ति का निरोध होने से मन का निरोध हो जाता है। जैसे अन्य पदार्थों की अपनी छाया होती है, वैसे ही प्राण की छाया मन है। (५ । १३ ८२)। हे राम ! प्राणों को वश में कर लेने से मनुष्य राज्य प्राति से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की समस्त सिद्धि सम्पदाऐं प्राप्त कर सकता हैं (६ । ८० । ३५)।'

उपनिषदों में प्राणायाम का विशेष वर्णन है। यथा 'प्राणायाम पाप रूपी ईंधन के लिए अग्नि स्वरूप हैं और संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान हैं। प्राणायाम का अभ्यास होने से सब रोग दूर हो जाते हैं। हिचकी, खाँसी, श्वांस, सिर, कान और आँख की पीड़ा आदि विविध प्रकार के रोगों का कारण वायु का विकार ही होता है। जिस तरह सिंह, हाथी, व्याघ्र आदि को धीरे-धीरे वश में

किया जाता है, उसी प्रकार वायु को भी क्रमशः वश में करना चाहिये (योग चूड़ामणि उपनिषद)।' 'जिस साधक का प्राण इस मण्डल को पार करके मस्तक में पहुँच जाता हैं, उसकी कहीं भी मृत्यु नहीं होती और वह पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता।' (अमृतनादोपनिषद्)। उज्जायी प्राणायाम से मस्तक की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक रोग दूर होते। देह की अग्नि की वृझि होती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोधर और धातु सम्बन्धी रोग भी दूर हो जाते है। शीतली प्राणायाम से गुल्म, प्लीहा, पित्त ज्वर, तृषा आदि दूर होते हैं। भूस्त्रिका प्राणायाम से कण्ठ की जलन मिटती है, शरीर की अग्नि बढ़ती है, कुण्डलिनी जागती है और पुण्यप्रद, पाप नाशक, शुभ तथा सुखदायक है।' (योग कुडल्युपनिषद)। 'तीन तक प्राणायाम करने वाला योग सिद्ध हो जाता है। वह योगी वायु को जीतने वाला, जितेन्द्रिय, अल्पाहार, स्वल्प निद्रा वाला, तेजस्वी तथा बलवान होता है, अकाल मृत्यु का भय मिटकर दीर्घ आयु प्राप्त होती है। सामान्य प्राणायाम से व्याधि और पापों का नाश होता है। विशेष से महा व्याधियाँ तथा पाप रोग मिटते हैं। उत्कृष्ट से अल्प-मूत्र, अल्प-मल, शरीर की लघुता होती हैं। इन्द्रियाँ और बुद्धि तीव्र हो जाती है और तीनों काल का ज्ञान हो जाता है। नाभि केन्द्र में प्राण धारण करने से कुक्षि रोग नष्ट होती हैं। नासाग्र में धारण करने दीर्घायु और शरीर की लाघवता प्राप्त होती हैं। ब्रह्ममुहूर्त में जिह्वा से वायु को खींच कर पीने से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। शरीर का जो अङ्ग रोग पीड़ित हो, उसमें वायु को धारण करने से वह निरोग हो जाता है। जिसका प्राण वायु क्रम से चलता है, वह प्राणजित हो जाता है। फिर वह दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन आदि के काल भेद को अन्तर्मुख होकर जानने लगता है।' (त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद)। इस तरह से प्राणायाम द्वारा सूक्ष्म ग्रन्थियों और षट्चक्रों का जागरण होता है और अनेकों प्रकार की ऋद्धि सिद्धियाँ प्राप्त होने

लगती हैं जिससे साधक का अपने उत्थान का पथ तो प्रशस्त होता ही है वह दूसरों के रोग शोक को भी दूर करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है जिससे जनता जनार्दन की सेवा का भी उसे भरपूर अवसर प्राप्त होता है ।

पुराणों में भी प्राणायाम पर यत्र-तत्र अच्छा प्रकाश डाला गया है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते है—

मार्कण्डेय पुराण में दत्तात्रेय ने योगध्याय में प्राणायाम का उपदेश ते हुए कहा है—

'प्राणायाम से दोषो को, धारणा से पापों को, प्रत्याहार से विषयों की ओर ध्यान से अनीश्वर गुणो को भस्म करे । जैस अग्नि में पड़ कर सब धातु दोष रहित हो जाती है, वैसे हीं प्राण वायु के निग्रह से इन्द्रियाँ के सब दोष नष्ट हो जाते हैं । योग ज्ञाता प्रथम प्राणापान के निरोध को प्राणायान कहते हैं । प्राणायाम के तीन प्रकार है लघु, मध्यम और उत्तरीय । लघु प्राणायाम द्वादश मात्रा वाला, मध्यम प्राणायाम उससे दुगुना और उत्तरीय उससे तिगुनी मात्रा में कहा गया हूँ । निमेष और उन्मेष का समय ही मात्रा है । ऐसी बारह मात्रा होने पर लघु प्राणायाम होता हैं । पहले प्राणायाम से स्वेद, दूसरे से कम्प और तीसरे से विषादादि दोषों को जीते । जैसे सेवा के द्वारा सिंह, व्याघ्र और हाथी भी कोमल स्वभाव हो जाते है वैसे ही प्राण को वश में करने की सामर्थ्य प्राप्त होती हैं । जैसे हाथी का स्वामी मत्त हाथी को वश में करके इच्छानुसार चलाता है, वैसे ही योगीजन प्राण के द्वारा ही इच्छानुसार कार्य करने में समर्थ होते है । जैसे पाला हुआ सिंह मृगों व मनुष्यादि की हिंसा नही करता वैसे ही साधित प्राणवायु के द्वारा पाप नष्ट होते है इसलिए योगियों को प्राणायाम परायण होना चाहिए ।'

विष्णु पुराण (६ । ७ । ४०—४५) में कहा हैं—

'अभ्यास द्वारा प्राण वायु का वश से किया जाना प्राणायाम है ।

उसके सबीज और निर्बीज—यह दो प्रकार हैं। प्राण और अपान के द्वारा निरोध करने से दो प्राणायाम होते हैं तथा इन दोनों को एक ही समय रोकने से तीसरा कुम्भक प्राणायाम होता है। सबीज प्राणायाम के अभ्यासी का आलम्बन अनन्त भगवान् का स्थूलरूप होता है। फिर वह प्रत्याहार के अभ्यास पूर्वक अपनी विषयासक्त इन्द्रियों को संयमित करके अपने चित्त के अनुसार चलने वाली बना लेता है। इससे चंचल इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं, जिनको वशीभूत किये बिना योग-साधन सम्भव नहीं होता। इस प्रकार प्राणायाम से वायु को और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करके चित्त को शुभाश्रय में स्थित करना चाहिए।"

वायु-पुराण में प्राणायाम से दोषों के नाश का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

"प्राणायाम से युक्त नियत-आत्मा वाले विप्र के समस्त दोष नष्ट हो जाया करते हैं और फिर वह केवल सत्वगुण में ही निर्भर रहा करता है। जो भी तपस्यायें तपी जाती हैं, व्रत लिये जाते हैं और नियम ग्रहण किये जाते हैं तथा समस्त यज्ञों के करने का जो भी कुछ फल होता है, वह सब प्राणायाम के समान होता है। जो कोई मास-मास में कुशा के अग्र भाग से जल के बिन्दु को ग्रहण ग्रहण करता है और सौ वर्ष तक करता रहता है, यह सब प्राणायाम के तुल्य ही होता है। प्राणायामों के द्वारा मनुष्य अपने समस्त दोषों को दग्ध कर दिया करता है, धारणाओं के द्वारा किल्बिष का नाश कर देता है, प्रत्याहार से विषयों का संहार कर देता है और ध्यान के द्वारा अनीश्वर गुणों का क्षय करता है। इसलिए योगी को सर्वदा युक्त होकर प्राणायाम में परायण होना चाहिए। वह फिर समस्त पापों से विशुद्ध आत्मा वाला होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लिया करता है।"

अग्नि-पुराण में प्राणायाम के विभिन्न लाभों की ओर संकेत करते हुए कहा गया है :—

"प्राण के जित होने पर हिक्का श्वास आदि और स्वल्प दोष विण्मूत्र आदि होते है। प्राणायाम का फल आरोग', शीघ्रगामी होना, उत्साह, स्वर का सौष्ठव, बल, वर्ण, प्रसाद और समस्त दोषों का क्षय होता है।"

गरुड़ पुराण में प्राणायाम की परिभाषा व भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"वायु पर जय प्राप्त कर लेना ही प्राणायाम होता है। मंत्र के ध्यान से जो युक्त होता है, वह अगर्भक कहा जाता है। इस प्रकार से वह दो एवं तीन प्रकार का है। पूरण करने से वह पूरक होता है। निश्चल होने से कुम्भक और रेचन से रेचक कहा जाता है। बारह मात्राओं वाला लघु प्राणायाम होता है और चौबीस भुजाओं वाला पर होता है तथा छत्तीस मात्राओं से युक्त हरम श्रेष्ठ होता है।"

गीता (४। २६) में प्राणायाम को यज्ञ की संज्ञा देते हुए कहा है— "प्राणायाम में संलग्न योगी प्राण और अपान की गति का निरोध करके अपान में प्राण का यज्ञ किया करते हैं और प्राण में अपान का यज्ञ करते हैं।" ऐसे यज्ञ को गीता (४। ३०। ३१) में परमात्मा प्राप्ति का साधन बताया गया है—"नियमित आहार-बिहार का पालन करने वाले योगी प्राणों का ही प्राणों में यज्ञ करते हैं। इस तरह से यज्ञों द्वारा जिनके पाप निवृत्त हो जाते हैं, वे सब यज्ञ द्वारा प्राप्त ज्ञानामृत का सेवन करने वाले सभी योगी ईश्वर को प्राप्त करते हैं। यज्ञ न करने वाले को न इस लोक में सुख मिलता है, न परलोक में।" इस तरह से गीता में प्राणायाम को मोक्ष प्राप्ति का एक श्रेष्ठ साधन बताया है।

महर्षि पतञ्जलि ने तो प्राणायाम की स्वास्थ्य सुधार व रोग निवारण की अपेक्षा सर्वोच्च आत्मज्ञान की प्राप्ति का एक साधन माना है। योग-दर्शन (२। ५२) में कहा है—"प्राणायाम से ज्ञान का

आवरण नष्ट होता है।" सञ्चित् कर्मों के संस्कार, अविद्या जनित क्लेश ज्ञान के आवरण माने जाते हैं। प्राणायाम से इन्द्रियों के मल नष्ट होते हैं और विवेक की जागृति होती है। अगले सूत्र (२।५३) में स्पष्ट किया है कि प्राणायाम से मन की चंचलता नष्ट होती है और उसमें धारण की योग्यता आ जाती है।

श्रौत सूत्रों, धर्म सूत्रों व गृह्य सूत्रों में भी मन्त्र जप व अन्य धार्मिक क्रियाओं के साथ प्राणायाम की प्रेरणा दी गई है। आपस्तम्ब सूत्र में कहा गया है कि मन्त्र जप करते हुए प्राण वायु को भीतर रोकना चाहिए। कुम्भक में विभिन्न विधियों का भी उल्लेख किया गया है। बोधायन सूत्र में ओंकार, गायत्री की साधना के साथ कुम्भक करने का विधान वर्णित किया है। अन्य सूत्र ग्रन्थों में इनसे मिलते-जुलते वाक्य मिलते हैं जिनमें प्राणायाम का महत्व प्रदर्शित किया गया है।

इस तरह से हमारे शास्त्रों ने प्राणायाम के लाभों की पुष्टि करते हुए इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और इसे ईश्वर प्राप्ति का उत्कृष्ट साधन घोषित किया है।

प्राणायाम—एक सरल, व्यवहारिक व सर्वोपयोगी योग साधना

प्राणायाम अध्यात्म-प्रधान भारतीय व्यायाम है। तत्ववेत्ता ऋषियों ने इसका आविष्कार करके लोक का बड़ा उपकार किया है। योग ग्रन्थों में इसका विषद वर्णन है। वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराणों में स्थान-स्थान पर प्राणायाम की महिमा गायी गई है। प्राग्वैदिक काल से भारतीय योगी किसी न किसी रूप में इसे करते आये हैं। जैन और बौद्ध-धर्म की साधनाओं में भी इसको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सुमात्रा, जावा, इन्डोनेशिया, चीन, रूस, अमेरिका, जर्मन आदि देशों के इतिहासकारों और विद्वानों ने इसके चमत्कारों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आज भी कितने ही विदेशी साधक इसको करते हैं। प्रबुद्ध धार्मिक

जगत में ही इसका विशेष प्रचलन होने के कारण यह 'यौगिक-क्रिया' कही जाती है।

निश्चय ही प्राणायाम एक योग-अभ्यास है। भारत और भारतेतर योगियों ने ही इसको विशेष रूप से अपनाया है, अत: यह केवल योगियों के काम की चीज है, ऐसा मानना भूल है। यह सर्व साधारण के लाभ की वस्तु है। प्राचीन काल के ऋषि-मुनि प्राय: गृहस्थ हुआ करते थे। वे गौयें पालते थे, गुरुकुल और आश्रम चलाते थे। राजा-महाराजाओं के शासन कार्यों में पूरी दिलचस्पी लेते थे। राज-दरबार में बैठते थे। न्याय-व्यवस्था, सन्धि, युद्ध और गृह नीति-निर्धारण के कार्यों में महत्वपूर्ण योग देते थे। वे और उनके आश्रमवासी शिष्यगण नित्य प्राणायाम करते थे। अपने सम्पर्क में आने वाले गृहीजनों को भी वे प्राणायाम करने की शिक्षा देते थे। क्या इससे यह स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि प्राणायाम सर्वोपयोगी है। बालक, वृद्ध, स्त्री पुरुष सभी इसे आसानी से कर सकते हैं। इससे लाभ उठा सकते हैं।

फिर प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का व्यायाम ही तो है। हर कोई रात-दिन सांस लेता-छोड़ता रहता है। विशेष ढङ्ग से साँस लेना और छोड़ना ही प्राणायाम है। नित्य प्रति के कार्य-कलापों में सभी को चलना-फिरना, उठना-बैठना, उछलना-कूदना और दौड़ना-भागना पड़ता है। कुछ मिनटों तक कलात्मक ढङ्ग से यदि इन्हें किया जावे, तो उसे 'व्यायाम' कहा जाता है। ठीक उसी प्रकार कुछ मिनटों तक कलात्मक ढङ्ग से श्वास-क्रिया करना प्राणायाम है। जैसे उछलने-कूदने, दौड़ने-भागने के नैत्यिक कार्यों के करते हुए भी स्वास्थ्य-रक्षा और बल-वृद्धि के लिये 'व्यायाम' की अपनी आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार रात-दिन श्वास-प्रश्वास लेते रहने पर भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए प्राणायाम की अपनी उपयोगिता है।

प्राणायाम हर किसी के लिए लाभकारी है। दण्ड, बंठक और

आसनों की अपेक्षा ये अधिक सरल भी हैं । इनमें कम समय लगता है, और उनकी अपेक्षा लाभ भी अधिक मिलता है, फिर अति निर्बल व्यक्ति क्षयग्रस्त, हृदय रोग से पीड़ित, मिर्गी और आँत-उतरने वाले रोगियों के लिए व्यायाम वर्जित है । जिनकी हड्डी टूटी है, जिसको पीलिया या शोध रोग है, जो पक्षाघात से आक्रान्त है, शय्यागत है, अपङ्ग है, जीर्ण रोग से संत्रस्त है, उसे भी व्यायाप का निषेध है । बारह वर्ष से कम आयु वाले बालक बालिकाओं को व्यायाम मना है, परन्तु प्राणायाम सभी कर सकते हैं । यह बल की वृद्धि तो करता ही है, रोग का शमन भी करता है, आरोग्य-लाभ की दिशा में इससे त्वरिता आती है ।

दण्ड-बैठक और आसनों का अपना महत्त्व है । वे पेशियों को गठोला शरीर को सुडौल और बलवान बनाते हैं । किन्तु ये कष्ट-साध्य हैं इनके करने में विशेप्र बल लगाना पड़ता है । अधिक बल लगाने से शरीर के कोष अधिक छीजते हैं, थकान आती है, शरीर में खुश्कीबढ़ती है । तृषा का रोग हो जाता है, क्षय, श्वास, रक्तपित्त, ग्लानि, खाँसी, श्यामता (चपड़ी का रङ्ग काला पड़ता) आदि उपद्रव खड़े हो जाते इसके विपरीत प्राणायाम सुखसाध्य है । उसे आराम से लेटे-लेटे भी किया जा सकता है । इसके करने में अधिक बल भी लगाना नहीं पड़ना । फिर, यह रक्त के परिभ्रमण को गतिशील बनाता है । अन्तर-अवयवों को सक्रिय करता है । अङ्ग-प्रत्यङ्ग में 'अतिरिक्त' आक्सीजन भरता है, थकान और शिथिलता को दूर करता है । मानसिक अवसाद नष्ट करता है । निश्चय ही यह मनुष्य को अन्य व्यायामों की भाँति पहलवान नहीं बनाता, किन्तु उसे उनकी अपेक्षा अधिक शक्तिवान्, स्फूर्तिवान्, प्राण-वान् और तेजस्वी बनाता है ।

प्रायः व्यायाम व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता को कम करते हैं । पहल-वानों में बुद्धि-मन्दता विशेष रूप से देखी जाती है । परन्तु प्राणायाम मेधा-शक्ति को बढ़ाता है । बुद्धि को पैना करता है । उसकी सूक्ष्मग्राहिता

विवर्धित करता है। वह प्रत्युत्पन्न मूर्ति को चेतन्य बनाता है। सूझ-बूझ (इनटयूशन) को जगाता है। वाणी को ओजस्वी और व्यक्तित्व को प्रभावी बनाता है।

आसनों के साथ सूर्य नमस्कार प्रभृति व्यायामों के साथ श्वास-प्रश्वास के नियमन पर जो विशेष बल दिया जाता है, उससे भी प्राणायाम की वरीयता सिद्ध होती है, प्राणायाम की श्रेष्ठता प्रमाथित होती है।

इस तरह हमने देखा कि प्राणायाम सर्वोपयोगी व्यायाम हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। कुछ विशिष्ट प्राणायामों को छोड़कर, जो उच्च-कोटि के साधकों और योगियों के लिए ही हैं, शेष को सभी कर सकते हैं। ये सरल और सुखसाध्य भी हैं। अपेक्षाकृत कम समय में किये जा सकते हैं।

प्राणायाम के एकाकी प्रयोग से शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य, संयमशक्ति, सत्वर-बुद्धि, प्रतिभा और उत्कृष्ट प्राप्त होती है। रोग और दुर्व्यसनों के दूरीकरण में ये बड़े सहायक हैं। प्राणायाम की साधना से ही इच्छाशक्ति और आत्मबल बढ़ता है। समोहिनी शक्ति (हिप्नोटिक पावर) और दूराभास सहज-गत होता है। इस दृष्टि से भी प्राणायाम की गरिमा निर्विवाद है।

वकील, बैरिस्टर, कवि, लेखक, अध्यापक और प्रोफेसर बुद्धि-जीवियों की श्रेणी में आते हैं। अपनी बुद्धि को सूक्ष्म-ग्राही बनाने, उसकी संधारण शक्ति को प्रखर करने के लिए उन्हें प्राणायाम करना ही चाहिए। प्राणायाम करने से उनकी वाणी और लेखनी में प्राणों का विपुल संचार होगा, जिससे उन्हें मुकदमे को सही ढङ्ग से पकड़ने में, प्रतिपाद्य विषय को सही ढङ्ग से प्रस्तुत और मौलिक रचना करने में अपूर्व सहायता मिलेगी। मानसिक श्रम से आने वाली थकान को दूर करने और पञ्च-प्राणों के शोधन के लिए भी प्राणायाम आवश्यक है।

इसी प्रकार ज्योतिषियों के लिए भी प्राणायाम का अभ्यास बड़ा जरूरी है। यदि ज्योतिषी प्राणायाम का अभ्यासी है, तो उसकी सूझ-बुझ, उसक दूराभास, उसकी पकड़ अपेक्षाकृत अधिक प्रखर, अधिक स्पष्ठ होगी।

संसार में सैकड़ों ही नहीं हजारों औषधियाँ वैद्य-डाक्टरों की जानकारी में होती हैं। एक-रोग की कितनी ही औषधियां उनकी अलमारियों में रक्खी होती हैं, किन्तु वही चिकित्सक संसार में सफल होता है, जिसका निदान और औषधि-चयन ठीक होता है। जिसकी बुद्धि पैनी, औषधियों का चुनाव युक्तिपूर्ण और व्यक्ति विशेष के वय, प्रकृति, ऋतु, और रासायनिक-गठन के अनुकूल होती है, इनके लिए पुस्तकों का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही बुद्धि को दैनिक उलझनों के क्षोभों से मुक्त करना भी जरूरी है। यह काम प्राणायाम के द्वारा सहज सम्भाव्य है। अत: चिकित्सकों को चिकित्सा-क्षेत्र के सफलता प्राप्त करने के लिए, अर्थ के साथ-साथ प्रसिद्धि लाभ के लिए, लाभ के लिए, औषधि-चिकित्सा और शल्य कर्म को सूझ-बूझ युक्त प्र ण- वान बनाने के यिए भी प्राणायाम करना चाहिए।

मनो चिकित्सक में मनो विश्लेषण की क्षमता का होना आवश्यक है। उसे विक्षिप्त या व्यक्तित्व छिन्न रोगी की अचेतनगत सर्वथा अदृश्य अव्यक्त भावना ग्रन्थियों के उन्मूलन का कठिनतर कार्य करना होता है। रोगी के मनस्तल के परिष्करण के लिए जहाँ पैनी दृष्टि की अपेक्षा है, वहाँ आत्म-विश्वास, धैर्य, सहिष्णुता, आत्म-संयम, संमोहन शक्ति और विशिष्ट प्राण भी आवश्यक हैं। ये सभी गुण प्राणायाम की साधना से आसानी से अपने में अर्जित किये जा सकते हैं। अतः मनो चिकित्सक को प्राणायाम के द्वारा अपने में अधिकाधिक प्राण संचय करना चाहिए।

यूँ तो कुछ श्रम करके पढ़ लिखकर नोट्स बनाकर सभी भाषण दे सकते हैं। सुरीले कंठ वाले अच्छे से अच्छा गा सकते हैं, परन्तु स्थाई प्रभाव डालने वाले भाषण, कविता-पाठ या सङ्गीत साधना वही कर पाते हैं, जिनमें अधिक प्राणशक्ति होती है। अधिक प्राणशक्ति की प्राप्ति

का प्राणायाम सा सरल, श्रेष्ठ और निरापद दूसरा साधन नहीं है। अतः समाज सुधारकों के लिए, सामाजिक कार्य करने वालों के लिए नायकों और गायकों के लिए, लेखकों और कवियों के लिए और तो और अभिनेताओं के लिए भी प्राणायाम के द्वारा यथेष्ट प्राणशक्ति का सचयन करना चाहिए।

बड़े-बड़े उद्योग और व्यवसाय चलाने वाले बड़े प्रतिभावान् होते हैं। यह प्रतिभा कुछ लोगों को पूर्वजन्म के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप जन्म से ही प्राप्त होती है, कुछ उसे अध्यवसाय, लगन और तत्परता से प्राप्त करते हैं। ग्राहकों को आकर्षित करने, ग्राहकों पर मोहनी डालने वाली यह प्रतिभा या व्यवहारिक बुद्धि ही व्यवसाय की जान है। यह वह प्राणशक्ति है, जिससे व्यवसाय-व्यापार दिन दिन उन्नत करता जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से इसे साधा जा सकता है।

ब्लडप्रेशर और स्नायु रोग से पीड़ितों में चिन्ता का अतिरेक पाया जाता है, वे जरा जरा सी बात के लिए इतने अधिक संवेदन शील हो जाते हैं कि उन्हें घंटों नींद नहीं आती है। किन्हीं किन्हीं को तो अनिद्रा रोग लग जाता है। कुछ को उभरी उभरी बेचैनी भरी हल्की नींद आती हैं। भयानक स्वप्न दीखते रहते हैं। वे स्वप्न में चोंक पड़ते हैं अथवा सोते सोते बर्राने लगते हैं। कितने ही सोते सोते सिसकियों के साथ रोते देखे गये हैं। ये सभी लक्षण सूक्ष्म शरीर की रुग्णता के द्योतक हैं प्राणायाम के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर छाये विजातीय संस्कारों का नाश होता है, वह सुस्पष्ट और सबल बनता है। इसलिए तुनुकमिजाज वालों के लिए, भयातुरों के, चिन्तातुरों तथा निद्रारोगियों के लिए निद्राकाल में यत्र तत्र विचरण करने अथवा अचेतन क्रियायें करने वालों के लिए प्राणायाम की साधना बड़ी हितकारी है।

जिन स्त्रियों के पति जुआरी, शराबी तथा व्यभिचारी हैं, दुर्व्यसनी हैं, वे प्राणायाम की साधना के द्वारा पतियों को सन्मार्ग पर प्रवृत्त कर सकती हैं। माता पिता अपने बालक की उदण्डता, उच्छृंखलता, दुरभ्यास और विपथ-गमन को प्राणायाम के द्वारा दूर कर सकते हैं।

गर्भवती स्त्रियों को प्राणायाम से बड़ा लाभ होता है । प्राणाकर्षण व्यायाम (अर्थात् प्राणायाम) के द्वारा गर्भस्थ भ्रूण का सम्यक् पोषण तो होता ही है, गर्भकाल में प्रायः उठने वाले अनेक प्रकार के शारीरिक-मानसिक कष्टों का भी सहजतया निराकरण होता है। गर्भस्थ शिशु पर अच्छे संस्कार पड़ते हैं और सुख के साथ प्रसव होता है।

वृद्धावस्था में अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले पड़ जाते हैं। शरीर पर झुर्रियाँ आ जाती हैं। इन्द्रियाँ जवाब देने लगती हैं। शारीरिक मानसिक कार्य करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणामतः ऊबन और खीजन बढ़ जाती है। स्नायुदौर्बल्य, संत्रास और दूसरे रोग आ दबाते हैं । ऐसी स्थिति में प्राणायाम बड़ा सहायक है। वह नस नस में नवस्फूर्ति का संचार करता है। निराशा, खिन्नता, आत्म ग्लानि और अवसाद को दूर करके उन्ने सर्वप्रिय बनाता है।

किशोरावस्था में जननेन्द्रियाँ विकसित हो चुकती हैं । उनसे एक उन्मादी अन्तःस्राव (हारमोन) झरने लगता है। इस अन्तःस्राव के कारण किशोर-किशोरियों की वाणी में, चाल ढाल में, रुचि प्रकृति में बुद्धि के सोचने-समझने की शैली में झटकों के साथ वेगपूर्ण परिवर्तन आता है। माता-पिता इस आकस्मिक परिवर्तन के मूल कारण को नहीं समझ पाते हैं। वे इन ओर उचित ध्यान नहीं देते, फलतः उनकी अपेक्षा, सिनेमा, दूषित वातावरण और दुस्सङ्ग का दुष्प्रभाव किशोर-किशोरियों को यदि उन्मार्गी बना दे, तो उसमें अस्वाभाविक बात क्या है ? प्रजनन ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों से झरने वाली 'अतिरिक्त ऊर्जा' (सर प्लस इनर्जी) के नियमन में प्राणायाम बड़ा सहायक है। वह ऊर्ध्वस्वी बनाता है।उसकी तेजी को सीमित करता हुआ उसे पुष्टिकर कार्यों में लगाता है। अतः प्रत्येक समझदार माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वह किशोर-किशोरियों को प्राणायाम की शिक्षा दे। इससे हस्तमैथुन, यौन-घर्षण जैसे दुर्व्यसन भी दूर किये जा सकते हैं। बालक-बालिकाओं आशा-आकांक्षा के परिशोधन और उदात्तीकरण के लिए प्राणायाम की साधना बड़ी सार्थक है।

इस तरह हमने देखा कि प्राणायाम हर वर्ग के व्यक्ति के लिए, बाल, वृद्ध, गृहस्थ और सन्यासी के लिए बड़ा उपयोगी है । आध्यात्मिक साधना करने वालों के लिए तो वह अनिवार्य ही है, भले ही साधक किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का मानने वाला क्यों न हो ? प्राणायाम के साथ किया जाने वाला भजन, जप, ध्यान, पूजा-प्रार्थना सत्वर फल प्रस्तुत करता है । वह साधक की इच्छाशक्ति को बलवान् बनाता है, जिससे सांसारिक उलझनों के बीच धैर्य, उत्साह, उमंग और उल्लास के साथ अबोध गति से अपनी साधना साधने में उसे बड़ी मदद मिलती है । सच बात तो यह है कि प्राणायाम ही आराधना-उपासना को भावपूर्ण बनाता है । मन की चंचलता, विक्षेप व अन्यमनस्कता को दूर करता है । जन्म-जन्मान्तरों से जन्मे दुसंस्कारों को मिटाता है । अन्तःकरण को निर्मल बनाता है । सत्संस्कारों की, सद्भावों की पुष्टि करता है, आत्म विश्वास, आत्म-बल और आत्म तेज को बढ़ाता है । रुचियों को परिमार्जित करता है । विविध प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये सूझ-बूझ देता है, ईश्वरानुभूति कराता है । आत्मचेतना को पराचेतना से मिलाता है । साधक को जीवनमुक्त आ अलमस्त बनाता है ।

अनेकों वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया का परीक्षण किया है और इसे श्रेष्ठ भी पाया है । जर्मन विद्वान् इमैनुएल काण्ट ने लिखा है कि 'प्राणायाम से कठिन रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है ।" क्षय रोग विशेषज्ञ डाक्टर मुथू अपने चिकित्सालय में आये रोगियों को औषधि के साथ-साथ प्राणायाम के अभ्यास को अनिवार्य रूप से बताते थे । डा. जोजावुज आटेंब को पाँच वर्ष की आयु में क्षय रोग होने का सन्देह डाक्टरों ने बताया था । जब उनका स्वास्थ्य किसी भी रोग से ठीक न हुआ तो प्राणायाम करना आरम्भ किया । उनका कहना है कि 'एक वर्ष में ही छाती का घेरा ४ इंच बढ़ गया और इतनी ही ऊँचाई भी बढ़ी । दो वर्षों में २२ पौंड वजन बढ़ गया । जब डाक्टरी परीक्षा कराई तो रोग का कोई भी चिन्ह नहीं था । तब से मैं प्राणायाम का

भक्त बन गया हूँ। मेरी सुदृढ़ धारणा है कि प्राणायाम से छाती की चौड़ाई बढ़ती है, फेफड़े सुदृढ़ होते हैं, वजन बढ़ता है, हृदय सशक्त होता है, रक्त संचार की क्रिया में चैतन्यता आती है। मैं उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्त करने के लिए इसे एक संजीवनी विद्या मानता हूँ।" अमेरिका के योगी रामाचारक ने 'श्वाँसविज्ञान' पर एक पुस्तक लिखकर विदेशी जनता का ध्यान इस विज्ञान की ओर खींचा है।

इङ्गलैण्ड के श्री जे० पी० मूलर ने "माई ब्रीटिंग सिस्टम" नामक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि शिक्षण संस्थाओं में प्राणायाम की सरल विधियों का अभ्यास कराया जाना चाहिये। उन्होंने स्वीकार किया है कि वहाँ के अधिकाँश अध्यापक प्राणायाम के सम्बन्ध में कुछ जानकारी नहीं रखते जिसके लिए उन्होंने खेद व्यक्त किया है।

अमेरिका के ख्याति प्राप्त प्राकृतिक चिकित्सक डा० बर्नर मैकफेडन ने प्राणायाम की महत्ता को स्वीकार किया है। वह तो इसे स्वास्थ्य रक्षा व विकास का मूल साधन मानते हैं। और उसके दैनिक अभ्यास पर बल देते हैं।

विदेशी वैज्ञानिकों की साक्षी से पूर्व वर्णित लाभों की पुष्टि ही होती और और प्राणायाम का अनिवचनीय महत्व सिद्ध होता है।

प्राणायाम की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ

दोषों और दुर्गुणों का निवारण

प्राणायाम शुद्ध सात्विक यौगिक क्रिया है। इसके द्वारा शुद्धसात्विक जीवन यापन की दिशा में बड़ी सहायता मिलती है। दुसस्कारों की प्रखरता के कारण प्रायः देखा जाता है कि इच्छा रहते हुए भी साधक निर्धारित नियमों का दीर्घकाल तक निर्बाध रूप से पालन नहीं कर

पाता है । प्रायः तीन चार दिन अथवा दो चार सप्ताह से अधिक वह इच्छित साधना नहीं चला पाता । कभी-कभी वह बार-बार की अपनी असफलता को देखकर दोषों-दुर्गुणों की प्रबलता को देखकर इतना घबड़ा जाता है कि चाहते हुए भी वह उस ओर कोई प्रयास करने से डरने लगता है । हमने कितनों को ही देखा है, जो सिगरेट बीड़ी, शराब,मांस आदि छोड़ना चाहते हैं, किन्तु कुण्ठा के कारण कुछ करते डरते हैं । यही बात क्रोध, कामुकता, लोलुपता, वैमनस्य, चिन्ता, भय आदि मनोविकारों के विनाश के सम्बन्ध में देखी गई है । दुस्सङ्ग, जुआ, वेश्या गमन को लोग बुरा समझते हैं, किन्तु उसे छोड़ नहीं पाते हैं । ऐसी दयनीय स्थिति का उपचार यौगिक प्राणायाम की सहायता से सुविधा-पूर्वक किया जा सकता है । एकाग्रता, समयपरायणता, स्वच्छता प्रभृति सद्गुणों के विकास में भी वह सहायक है । अतः संक्षेप में हम उसे नीचे दे रहे हैं ।

कामवासना के क्षय के लिए

मान लीजिये, आप काम-वासना के नियन्त्रण में अपने को अशक्त पा रहे हैं । ब्रह्मचर्य व्रत संधारण के लिए अपेक्षित इच्छाशक्ति या आत्मबल की आप में कमी है, तो आत्मबल की वृद्धि और वीर्य-रक्षण के लिए आपको यह प्राणायाम इस प्रकार करना चाहिए ।

सर्व प्रथम पीठ के बल लेट जाइये । सिर, गरदन, छाती सब एक सीध में हों । शरीर को बिल्कुल ढ़ीला कर दीजिए । सब ओर से मन को हटा लीजिए । अब मुँह को बन्द करके साँस खींचिये । सरलतापूर्वक जितनी साँस अन्दर भरी जा सके, भरिये । योग की भाषा में इसे पूरक (हवा अन्दर भरना) कहते हैं ।

अब अन्दर खींची हुई साँस को जितनी देर तक आसानी से रोक सकते हों उतनी देर तक उसे रोकिये । फिर धीरे-धीरे रुके हुए साँस को बाहर निकालना चाहिए । साँस रोकने की क्रिया को कुम्भक

और निकालने की क्रिया को रेचक कहते हैं। नियमानुसार जितनी देर में सांस अन्दर खींची जाय, उतनी ही देर उसे बाहर निकालने में लगाना आवश्यक है। किन्तु फुम्फुस के अन्दर सांस रोकने की अवधि सांस भरने की अवधि समय) से आधी होनी चाहिए। यह बात सांस को निकालने के बाद दूसरी बार साँस भरने या छोड़ने में जितना समय लगाया है, उसे आधे समय तक ही साँस रोकनी चाहिए।

साँस अन्दर खींचते समय यह भावना करनी चाहिए कि काम शक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय की ओर से मस्तिष्क की ओर आ रहा है। अपने मानसिक नेत्रों के द्वारा यह देखना चाहिये कि हमारा वीर्य स्पष्ट रूप से वीर्यवाहिनी नाड़ियों द्वारा ऊपर चढ़ रहा है। नीचे की नाड़ियों में शीतलता और शान्ति का प्रसार हो गया है। जब तक सांस रोके रहें, ध्यान में जितनी चित्त-यता होगी, उतनी ही तीव्रता वीर्य के ऊर्ध्व-गमन में होगी।

जब सांस को बाहर निकालें, तब यह भावना करनी चाहिए कि निःश्वास के साथ काम विकार बाहर निकलते जा रहे हैं, जननेन्द्रिय स्थान पर हल्कापन आ गया है। सभी क्षोभकारी विकार दूर हो गये हैं। वह निर्मल और पवित्र हो गया।

इस क्रिया को करते समय यदि मूलबन्ध लगाया जावें, तो वीर्य के ऊर्ध्वगमन की गति तीव्र हो जाती है। मूलबन्ध के लिए सांस अन्दर खींचते समय गुदा का अन्दर की ओर दृढ़ता के साथ सङ्कोच करना चाहिए, जिससे अपान वायु का प्रवेश ऊपर की ओर हो और वह वीर्य को तेजी को (अर्थात् वीर्य-निहित प्राण-ऊर्जा को) बलपूर्वक ऊपर जाने के लिए प्रेरित करे।

इस क्रिया का केवल एक ही बार अभ्यास करना पर्याप्त नहीं है। कम से कम १०—१५ बार नित्य इस क्रिया को दोहराना चाहिए। यह क्रिया प्रातःकाल की अपेक्षा शाम को करना अधिक

लाभकर है। दोनों समय की जाय तो सोने में सुहागे जैसा लाभ होगा।

वीर्यदोषों की निवृत्ति के लिये

वीर्य दोषों की निवृत्ति के लिए उज्जायी प्राणायाम करना चाहिये। विधि इस प्रकार है—

सुखासन से बैठें। दोनों नासिकाओं से श्वाँस को धीरे-धीरे भीतर खीचें। यह ध्यान रहे कि यह श्वांस कण्ठ से हृदय तक ही जा पाये। इस क्रिया के साथ जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए। जितना सम्भव हो सके, भीतर खींची हुई वायु को रोकना चाहिए। अब दाँयें नासिका को बन्द करके बांयें नासिका से प्रश्वांस को बाहर निकालें। श्वांस रोकते समय यह सावधानी बरतनी चाहिये कि श्वांस हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिये वरन् क्रम से उसे हृदय से गले में और गले से मुँह में लावें और शनै-शनैः प्रश्वांस को बाहर निकालना चाहिये। आरम्भ में ३ प्राणायाम से अधिक नहीं करना चाहिए। अभ्यास बढ़ने पर ही इनकी संख्या बढ़ानी चाहिए।

हठयोग के ग्रन्थों में इसके अन्य लाभ भी बताये गये हैं। यथा—

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सवकार्याणि साधयेत्।
न भवेत्कफरोग च क्रूखायुरजीर्णकम्॥

उज्जायी कुम्भक की क्रिया से सब कार्यों का साधन करना चाहिये। जो साधक इसे करता रहता है, उसे कफ रोग, वायु दोष व अजीर्ण प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

पूर्ण इन्द्रिय संयम के लिए

श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—यह पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। यह दस इन्द्रियां मनुष्य के उपयोग के लिए गनी हैं। यह मानव शरीर के आवश्यक अङ्ग हैं। इनमें से किसी एक की कमी हो जाए या उनमें रोग

उत्पन्न हो जाए, तो शरीर के स्वाभाविक कार्यों में बाधा उपस्थित होती हैं परन्तु यदि उन्हें स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और वह अपने-अपने विषयों में विचरती रहें तो वह स्वामी की शत्रु बन कर उसका नाश कर देती हैं। इसीलिए अध्यात्म शास्त्र का आदेश है कि कल्याण की इच्छा वाले साधक को इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

आस्त्रों का आदेश है कि हम हाथों से किसी को कष्ट न दे। चोरी आदि कोई बुरा कार्य न करें, साधु सन्तों व गुरुजनों की सेवा करें, पैर सत्सङ्ग और देव मन्दिर की ओर अग्रसर हों, सेवा कार्यों में प्रवृत्त हो, वाणी से मधुर शब्द ही बोलें, ऐसे वाक्य न कहें जिससे किसी को बुरा लगे, सत्शास्त्रों और उपदेशों का ही श्रवण करें, भगवान के विग्रह और साधुसन्तों के ही दर्शन करें, स्वाद के लिए नहीं, शरीर धारण करने के लिए विवेक पूर्वक खायें।

आज वातावरण बहुत दूषित हो चुका है। उपन्यास, पत्रिकायें, फिल्में, काम वासना को भड़काने का आसुरी काम कर रही हैं। नेत्र स्त्री में पवित्र रूप को नहीं, कामी रूप को ही देखते हैं, उनके अंग प्रत्यंग का निरीक्षण करते हैं। भजन, कथा, कीर्तन सुनना तो पिछड़े युग की बात हो गई है, सिनेमा के गाने ही तथाकथित सभ्ययुग की देन है। बीड़ी, सिगरेट, माँस, शराब आदि तामसिक पदार्थों का सेवन आधुनिक सभ्यता का एक अंग बन गये हैं। यह आहार तमोगुणी प्रवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं। आहार का कामवासना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री विजयकृष्ण गोस्वामी का मत है कि शरीर में प्रधान यन्त्र है—जीभ ! जीभ वश में हो जाने से सब कुछ वश में हो जाता है। गांधीजी का कहना है—"ब्रह्मचर्य के साथ अस्वाद व्रत का बहुत निकट का सम्बन्ध है, मेरे अनुभव के अनुसार इस व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय संयम बिल्कुल सहज हो जाता है। इन इन्द्रियों को काबू में रखना ही शक्ति और सिद्धि का साधन है।

हमारे शास्त्रों ने इन्द्रय निग्रह के लिये उसी उद्देश्य से प्रेरित

किया है। गीता ४।३९ में कहा है "जब श्रद्धावान मनुष्य इन्द्रिय निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है, तब उसे ब्रह्मात्मैक्य रूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है।" बुद्धि की स्थिरता के लिए इन्द्रियों को विषयों से खींचना आवश्यक बताया गया है (२।५८) और कछुए का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस तरह वह अपने हाथ पैर आदि अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी तरह इन्द्रियों के शब्द, स्पर्शादि विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेना चाहिए। गीता २।६०।६१ में इन्द्रियों को बलात्कार से मनमानी और साधक को खीच ले जाने वाली शक्ति कहा गया है। जो उनके प्रवाह में बह जाता है, उसका आत्मिक पतन हो जाता है। जो उन्हे अपनी इच्छानुसार चलाता है, उसका उत्थान होता है। गीता ३।६।७ में इन्द्रियों के प्रति कड़ा रुख अपनाने को अहितकर बताया है। और जो हाथ पैरादि पर रोक लगाकर मन से विषयों का चिंतन करता है, उसे दम्भिक कहा है। भगवान ने परामर्श दिया है कि उसकी योग्यता विशेष है जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अकासक्त बुद्धि ने कर्मयोग का आरम्भ करता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए वशिष्ठ ने इन्द्रिय निग्रह को मानस तीर्थ कहा है। जो इसमें स्नान करता है, वह पवित्र हो जाता है। महाभारत (उद्योग पर्व) में स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों को काबू में रखना ही ज्ञान है और वही मार्ग है जिससे कि बुद्धिमान लोग उस परम पद की ओर बढ़ते है। कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्री हृषीकेश भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता। सन्त तुकाराम ने भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए व्यङ्ग से कहा है "ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठरी नहीं धरी है कि वह किसी के हाथ में दे दे। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।"

मनुस्मृति (६।७१—७२) में प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों के पवित्र व दोष रहित होने का आश्वासन दिया है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूना हि यथा मला ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१
प्राणयामैर्दहुद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्या नेनानीश्वरान्गुशात् ॥७२
(मनु० अ० ६ । ७२ । ७२)

'प्राण निरोध से इन्द्रियों के दोष वैसे ही जलते है जैसे अग्नि में धोंकने से धातुओं के मल नष्ट होते हैं। प्राणायाम साधना से रोगादि दोषों को, धारणा के अभ्यास से पापों को, इन्द्रिय निरोधसे विषय बासनाओं को और ध्यान सिद्धि से मोहादि गुणों को नष्ट कर दे।'

हठयोग प्रदीपिका (२ । ५) में कहा है कि मल शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए—

तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥५

वृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति (८-४०) में घोषणा है 'जो व्यक्ति नित्य प्रति सूर्योदय के समय सौ प्राणायाम करता है, वह निर्मल होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है।' योग वसिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ जी भगवान को उपदेश देते हैं—'अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और केवल निर्माण ही शेष रह जाता है (५।८७।४६)। जैसे पंखा बन्द कर देने से हवा की गति रुक जाती है, वैसे ही प्राण के निरोध से निश्चित ही मन शान्त हो जाता है (६६।६।४१)। हे राम ! प्राणशक्ति का निरोध होने से मन का निरोध हो जाता है। जैसे अन्य पदार्थों की अपनी छाया होती हैं, वैसे ही प्राण की छाया मन है (५।१३।८२)। हे राम ! प्राणों को वश में कर लेने से मनुष्य राज्य प्राप्ति से लेकर, मोक्ष प्राप्ति तक की समस्त सिद्धि सम्पदायें प्राप्त कर सकता है (६।८०। ८५)।' स्नायु चिकित्सा के ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ डा० वाल्गेसी ने अपनी पुस्तक 'A message to the Ne uretic world' (स्नायु रोगों से ग्रस्त लोगों को एक सन्देश) में यह माना है कि प्राणायाम साधना से

मनोविकारों का दमन व मानसिक स्थिरता सफलता पूर्वक प्राप्त की जा सकती है ।

योग दर्शन (२।५२) में भी मलों का नाश होकर ज्ञान के प्रकाश की पुष्टि की है—

ततः क्षीयते प्रकशावरणम् ।

'प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान के आवरण का (विवेक ज्ञान का पर्दा) नाश हो जाता है ।'

प्राणायाम का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे मनुष्य के संचित कर्मों के संस्कार, अविद्या जनित क्लेश जो कि ज्ञान के आवरण रूप हैं, दुर्बल होते जाते हैं । इसी आवरण से ज्ञान ढका रहने के कारण साँसारिक विषय वासनाओं से पीड़ित मनुष्य दुःखों को भोगता रहता है । अतः यह सचित कर्मों का पर्दा प्राणायाम के अभ्यास से शनैः शनैः क्षीण हो जाता है, तब विवेक ज्ञान रूपी प्रकाश का उदय हो जाता है, जैसे तपाये हुये सोने के सभी मल नष्ट हो जाते हैं ।

पञ्च शिखाचार्य ने अपने साँख्य सूत्र में यही बात कही है—

पतो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।१६

'प्राणायाम से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है । इसकी साधना से मलों की शुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश होता है ।'

इन्द्रियों की स्थिरता, पवित्रता व मलों की शुद्धि के लिए उरस्थल-शुद्धि-प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये । विधि इस प्रकार है—

पद्मासन से बैठे । रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें । दोनो नासिकाओं से धीरे-धीरे श्वाँस भीतर खीचे । जब पूरा श्वाँस खिच जाये तो दायें नासिका को बायें हाथ के अंगूठे से बन्द करके प्रश्वाँस को धक्का देकर बायें नासिका से बाहर निकालना चाहिये । फिर दोनों नासिकाओं से श्वांस भीतर खींचकर बायें नासिका को बन्द कर दायें नासिका से

प्रश्वाँस धक्का देकर बाहर निकालें। इसी प्रकार से अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाते रहें।

अन्य दोषों के निवारण के लिए

जिस विकार को दूर करना है, उसके अनुकूल कल्पना करना आवश्यक है। प्राण-प्रवाह को आज्ञा चक्र की ओर बहाने के लिए नासा द्वार से साँस खींचकर वैसा संकेत दें। मानस-चित्र में वैसा ही ध्यान करते रहें। साथ ही यह भावना भी करते रहें कि इस ऊर्ध्वगमन से मेरा आत्मबल बढ़ रहा है। मेरा प्राण प्रबल हो रहा है। मेरी सङ्कल्प शक्ति सबल हो रही है। मुझमें आत्म-विश्वास, निर्भयता, धैर्य और स्थैर्य की भरमार हो रही। मेरी नस-नस उसी से फड़क रही हैं।

साँस छोड़ते समय ऐसा चिन्तन कीजिये कि मनोगत विकार निःश्वास के साथ निकल रहे हैं। मेरा अन्तःकरण अब शुद्ध और सबल हो गया है।

याद रहे, यह आत्म-कथन कोरा शब्दात्मक न होकर 'भाव-प्रवण' होना चाहिए। अनुभूति मय (मानसिक चित्रमय) होना चाहिए। जो शब्द आप मन ही मन कहें, उसी का ध्यान भी करें। उसी के चित्र कल्पना के द्वारा अपने मनस्तल पर अंकित करें। तभी उन संकेतों के द्वारा प्राणशक्ति अभीष्ट दिशा मे प्रवाहित हो सकेगी और आपके मनोरथों को पूर्ण करेगी। भाव, संकेत, कल्पना या चिन्तन के द्वारा प्राणशक्ति का संग्रह-संचन किया जाता हैं।

आत्म संकेतों की प्रबलता से ही प्राण-शक्ति प्रखर होती है। आत्म संकेतों के द्वारा ईथर-व्यापी महाप्राण को आत्मस्थ किया जाना सम्भव है। उसके आभूषण का वही सहज उपाय है।

आत्म-संकेतों के द्वारा ही आत्म-संमोहन होता है और दोषों, दुर्गुणों तथा दुष्प्रवृत्तियों का नाश होकर सद्गुण, सद्भाव और सत्प्रवृत्तियों का विकास होता है। जीवन-प्रवाह निम्न धरातल से ऊपर

उठकर मनोविकास, बुद्धि-विकास के साथ ही साथ जीवन स्तर को भी उच्च-स्तरीय बना देता है। उत्कृष्ट दृष्टिकोण के आने से, रहन-सहन में, आहार-बिहार में, आचार-व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश होने लगता है। मन: शान्ति और अद्‌भुत मस्ती आती हैं। तब हमारा सोचने-समझने और विचार करने का ढङ्ग एकदम बदल जाता है। शक्ति, स्फूर्ति, उत्साह और उज्ज्वलता सभी समस्याओं और अभावों को यथा शीघ्र नष्ट करते है। अतः भाव की प्रगाढ़ता के द्वारा हमें अपने आत्मसंकेतों की प्राणवान् बनाना चाहिये। प्राणवान सकेत ही परिपक्व होकर प्रबल आत्म-विश्वास, प्रखर इच्छा शक्ति और सफल संकल्प बनते हैं। संकेतों की परिपक्वास्था ही मनो-निग्रह है, सहज ध्यान है।

यदि आप अपने में आत्म-बल की न्यूनता (कमी) अनुभव करते हैं, यदि आप जल्दी-जल्दी घबड़ा जाते हैं, भय-कुण्ठा के कारण बेचैन रहते हैं, कुत्सित चित्र, कुत्सित आकृतियाँ आपको हर ओर दिखाई देती हैं, हरदम संत्रस्त करती है, यदि आपको नींद नहीं आती, हर समय अवसाद, थकान और आलस्य लगता रहता है, किसी काम में जी नहीं लगता, हर ओर अपने शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं, तो निश्चय जानिये कि आपका मानसिक संस्थान विकृत है, रोग ग्रस्त है। ऊपर बताई गई बिधि से दो तीन महीने प्राणायाम कीजिये। आप अपने में अनेक आल्हादकारी परिवर्तन पावेंगे। मानसिक वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए, मस्तिष्क को शान्त, शीतस और चैतन्य बनाने के लिए, मानसिक गुणों की अभिवृद्धि के लिये भी भावना पूर्वक उपर्युक्त प्राणायाम करना चाहिए। इसके अद्‌भुत लाभ देखकर विदेशों में भी इसका दिन-दिन प्रचार-प्रसार बढ़ता जा रहा है। अब तो मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों ने भी इसकी श्रेष्ठता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। वे भी अपनी चिकित्सा पद्धति में इस विधि को स्थान देने लगे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मेडीकल ऐसोसियेशन के लों-उर्डस् स्थित अस्पताल में असाध्य

मानसिक शारीरिक विकारों की चिकित्सा में भी इस 'मानसिक साँस' को प्रमुख स्थान दिया गया है।

ज्ञान का विकास और विवेक की जागृति

योग दर्शन (२। ५) में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है–

ततः क्षीयते प्रकाशबरणम्।

'प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान के आवरण का नाश होता हैं अज्ञानान्धकार निवृत्त होकर ज्ञान का विकास होता है और विवेक की जागृति होती है।'

ज्ञान की रूपरेखा शास्त्रों ने इस प्रकार से वर्णित की है—

श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि ने अपनी अनुभूति को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया हैं 'वही अग्नि है, वह वायु है तथा वही चन्द्रमा हैं, वह अन्यान्य प्रकाशयुक्त नक्षत्र आदि है, वह जल है, वह प्रजापति है, वही ब्रह्मा है' (४।२)। 'तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार अथवा कुमारी है, तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे चलता हैं, तथा तू ही विराट रूप में प्रकट होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है' (४।३)। तू ही नीलवर्ण पतङ्ग है, हरे रङ्ग का और लाल आँखों वाला पक्षी एव मेघ बसन्त आदि ऋतुयें तथा सप्त समुद्र रूप है, क्योंकि तुझ से ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुये हैं, तू ही अनादि आकृतियों का स्वामी है और व्यापक रूप से सबमें विद्यमान है।' (४।४)

जो व्यक्ति इस ज्ञान को व्यवहारिक रूप में ग्रहण करता है, उसी का जीवन सफल हो पाता है। गीता में भगवान ने इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। उन्होंने कहा है—'जो आत्मा मुझ में है, वही सब प्राणियों में हैं।' 'मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझ में हैं।' (६।६९) 'जो कुछ है, वह वासुदेव मय है' (१७।१४)। ऐसी बुद्धि रखने वाले को ही भगवान ने पण्डित कहा है—'पण्डितों अर्थात् ज्ञानियों की पुष्टि विद्याविनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी ऐसे ही कुत्ता और चाण्डाल सभी के विषय में समान रहती है' (५।१८)। ऐसे

व्यवहारिक ज्ञान रखने वाले पण्डित और ज्ञानी को ही भगवान अपना परम पद प्रदान करते हैं । गीता में भगवान आश्वासन देते हुये कहते हैं ।

"जिनकी ज्ञान दृष्टि में समस्त प्राणियों की भिन्नता का नाश हो चुका और जिसे वह सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर स्वरूप दीखने लगते हैं वह ब्रह्म में मिल जाता है ।" (१३।३०)

'जो मुझ (परमेश्वर) को सब स्थानों में और सबको मुझमें देखता है, उसका मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझसे कभी दूर होता है" (६।३०)। "जो एकत्व बुद्धि अर्थात सर्व भूतात्मैक्य बुद्धि को मन में रखकर प्राणियों में रहने वाले मुझको (परमेश्वर को) भजता है वह कर्मचारी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझमें रहता है" (६।३१)। "यह अनुभव हो जाने से कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है, ज्ञानवान मुझे पा लेता है ।" (७।१९)

"जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि वह भक्त अर्थात भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव है, उसे सात्विक ज्ञान जानो" (१८।२०) । "जिसे समस्त प्राणीमात्र में समदृष्टि हो, वह मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है" (१८।५४) । कैवल्योपनिषद में भी कहा है "जो आत्मा को सब भूतों में और सब भूतो को आत्मा में देखता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं ।" ईशावास्योपनिषद् का कथन है "बुद्धिमान पुरुष प्राणी-प्राणी में पर ब्रह्म पुरुषोत्तम को समझकर इस लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं ।"

ज्ञान का अभिप्राय शास्त्रों का गहन अध्ययन करना अथवा उनकी अधिक से अधिक जानकारी मात्र बढ़ा लेना नहीं है । प्राणी मात्र में ईश्वर को व्यापक समझ कर उसके अनुरूप उससे व्यवहार करना ही वास्तविक ज्ञान है । जब हर प्राणी में ईश्वर की चलती-फिरती प्रतिमा अनुभव होने लगती है तो वह उसे हानि पहुँचा कर अपना स्वार्थ सिद्ध

करने की कल्पना भी नहीं कर सकता, कोई भी अपना शत्रु प्रतीत नहीं होता, किससे ईर्ष्या द्वेष करे, किस पर क्रोध करे, शिष्ट व्यवहार ही उसके स्वभाव का एक अङ्ग बन जाता है। ज्ञानी साधक घृणा करना भूल जाता है, वह भी प्रेम के अमृत का रसास्वादन करता हैं, किसी से अन्याय व अत्याचार करना वह ईश्वर के साथ ही ऐसा व्यवहार करना मानता है। प्राणीमात्र का स्वार्थ ही अब उसका अपना स्वार्थ हो जाता है तो झूठ, छल, कपट, घूस, स्वार्थ व अविवेक पूर्ण कृत्य उससे कैसे हो सकते हैं। ऐसा साधक ज्ञान व विवेक की साक्षात् प्रतिमा बन जाता है, उसका जीवन धन्य हो जाता है।

योगाचार्य पतंजलि ने अपने अनुभव के आधार पर दृढ़ आश्वासन दिया, है कि प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से अज्ञान दूर होता है और ज्ञान व विवेक का विकास होता है।

मानसिक एकाग्रता

मन का चञ्चल स्वभाव प्रसिद्ध है। उसे नियन्त्रण में रखना अत्यन्त कठिन है। यही शिकायत अर्जुन ने भगवान कृष्ण से की थी—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलबद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

"यह मन अत्यन्त चञ्चल, अस्थिर, शक्तिशाली, मथने वाला व दृढ़ हैं। इसे नियन्त्रण में लाना व स्थिर रखना, उतना ही कठिन है जितना वायु की गति को रोकना।"

मन की गति अत्यन्त तीव्र हैं। वह हजारों मील की यात्रा क्षण भर में तय करता है। क्षण भर में बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, न्यूयार्क आदि में घूमने की क्षमता रखता है। वह अपनी इच्छानुसार शरीर को नचाता है, जहाँ चाहे घुमाता है। इन्द्रियों और विषयों को अपने नियन्त्रण में रखता है।

मनुष्य का सुख-दुःख उन्नति अवनति, और बन्धन मोक्ष इसी पर निर्भर है क्योंकि जैसा मन होता है, वैसे ही कार्यों में मनुष्य प्रवृत्त होता हैं। उपनिषद का कथन है 'मनुष्य के (कर्म से) बन्धन या मोक्ष का मन ही कारण है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निःसङ्ग होने से मोक्ष होता है।' (मंत्रयु ६:३४, अमृत विंदु, ब्रह्म विन्दु २।३)। वेद शास्त्र भी मन की असाधारण शक्ति का समर्थन करते है। यथा —

यजुर्वेद १७।२५ में मनन शक्ति से संसार की उत्पत्ति बताई गयी है। कहा है 'सूर्य उत्पादक सर्वधारक ईश्वर ने मनन शक्ति से निश्चय ही जब जल को तथा इन दोनों से बने हुए द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को उत्पन्न किया, तब ही इन दोनों के अन्तः प्रदेश को भी दृढ़ किया। अनन्तर उत्कृष्ट द्यावा पृथ्वी विस्तार को प्राप्त हुई।' यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के ५४ वें मन्त्र में प्रार्थना हैं कि 'पुनः वह मनन शक्ति हमको सत्कर्म के लिये, बल के लिये एव संजीवन के लिये और चिरकाल पर्यन्त परमात्मा के दर्शन के लिये भली-भाँति प्राप्त हो।' आगे ५५ वें मन्त्र में प्रार्थना है कि 'हे विद्या दान से पालन करने वाले महानुभावो ! आप जो देवत्व गुणयुक्त श्रेष्ठ विद्वान हैं, हमें पुनः मनन शक्ति प्रदान करें जिससे हम सत्य भाषण आदि व्रतों से युक्त जीवन बना सकें।' यदि हम अपनी मनन शक्ति को जीवन में सत्य व्रतों को धारण करने में लगा दें तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, चिंता, कलह, क्लेश, दुःख, द्वेष, राग आदि हमारे शत्रु हमें दिन रात जलाते रहते हैं, अपने प्रतिकूल वातावरण देखकर अनुकूल वातावरण में जाने के लिये उत्सुक रहेंगे और उनके छोड़ने पर हमारे ऊपर निरन्तर सुख शान्ति एवं आनन्द की वर्षा होती रहेगी। यह सुनिश्चित है और वह दिन दूर नहीं जब यह मैला मन धुलने पर ज्योतिमैय प्रभु के दर्शन हों।

गीता १०।२२ में भगवान ने कहा है 'इन्द्रियों में मन मैं हूँ। प्रश्नोपनिषद (२।२) में भी मन को देवता कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में सन-

त्कुचार जी ने नारद जी को उपदेश देते हुए कहा--'मन ही आत्मा हैं, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है। तुम मन की उपासना करो। वह जो कि मन की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता हैं, उसकी जहाँ तक धन की गति है वहाँ तक स्वेच्छागति हो जाती है।' मुक्तिकोपनिषद् में कहा हैं 'सहस्त्रों अंकुर त्वचा, पत्ते, शाखा एवं फल फूल से युक्त इस ससार वृक्ष का यह मन ही मूल है। यह निश्चित हुआ और वह मन सङ्कल्प रूप है। सङ्कल्प को निवृत करके उस मनस्तत्व को सुखा डालो जिससे यह संसार वृक्ष भी निराश होकर सूख जाए।' तैत्तिरीयापनिषद् में भी मन को ब्रह्म कहा है और कहा है कि 'सचमुच मन से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर मन से ही जीते हैं। तथा इस लोक से प्रयाण करते हुए (अन्त में) मन में ही सब प्रकार से प्रविष्ट हो जाते हैं।'

स्वामी बिवेकानन्द का वचन हैं 'मन की दुर्बलता सब प्रकार के बन्धनों की जड़ है। जब तक हमारा मन अशक्त नहीं हुआ है, तब तक दुःखों की क्या मजाल है जो वह हमारी और आँख उठाकर भी देखै। शक्ति ही हमारा जीवन और दुर्बलता ही मृत्यु है। मनोबल ही सुख सर्वस्व, चिरन्तन जीवन और अमृतत्व तथा दुर्बलता ही रोग समूह दुःख और मृत्यु है।'

मैत्रेयी उपनिषद् (५ । ७) में कहा है 'परशाँत मन वाला पुरुष जब आत्मा में स्थिति लाभ करता है, तब उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती हैं।' महोपनिषद् 'अमृत के पान करने से तथा लक्ष्मी के आलिंगन से वैसा सुख,प्राप्त नहीं होता जैसा सुख मनुष्य मन की शान्ति से प्राप्त करता है।' कबीर 'जग में बैरी कोई नहीं जो मन शीतल होय' मनु० (४।१६०) जो दूसरों की '(बाह्य वस्तुओं कीं) अधीनता में है वह सब दुःख हैं और जो अपने (मन के) अधिकार में हैं, वह सुख है। यही सुख दुःख का संक्षित लक्षण है।' महाभारत 'मन से दुःखों

का चिन्तन करना ही दुःख निवारण की अचूक औषधि है।" भृर्तहरि "मन के प्रसन्न होने पर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी दोनों समान हैं।" प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता प्लेटों का कहना है कि "शारीरिक अर्थात् बाह्य आधिभौतिक सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है।

अतः निश्चित हुआ कि मन पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही विश्व विजय का अधिकारी होता है। वह जीवन के हर क्षेत्र में असाधारण विकास व सफलता प्राप्त करता है। आत्मविकास भी बिना मनोजय के हो ही नहीं सकता।

मनोजय के हमारे शास्त्रों में अनेकों उपाय वर्णित किए गए हैं। उनमें एक प्राणशक्ति का उपयोग है। यह प्राण साधारण शक्ति नहीं है। अथर्ववेद के ११ वें काण्ड में उसे विराट प्रेरक, सूर्य, चन्द्रमा प्रजापति की संज्ञाएं दी हैं और यह कहा है कि इसी कारण से सभी लोग इसकी साधना करते हैं।

प्राणो विराट प्राणो देष्ट्रा प्राण सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमा प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

जिस प्राण के वश में सारा संसार है, जो सभी प्राणियों का ईश्वर है, जिसमें सारा संसार प्रतिष्ठित है, उसे साधक नमस्कार करता है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व० कां० ११)

प्राण के आधार पर ही यह ब्रह्मांड स्थित है, जो प्राण को वश में कर लेता है, वह सारे संसार को नियन्त्रण में करने की क्षमता रखता है। वह असाधारण शक्तियों का स्वामी हो जाता है जिसे लोग चमत्कार की संज्ञा देते हैं।

प्राण मन से शक्तिशाली है। अतः इसे नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है। शास्त्र का प्रमाण है।

'धारणासु च योग्यता मनसः।

प्राणायाम के निरन्तर जप से मनी की चंचलता नष्ट हो चाती है है और उसमें धारणा की शक्ति आ जाती है। शङ्कराचार्य की प्रबल स्मरण शक्ति का एक ऐसा ही उदाहरण है। उनके एक शिष्य पद्मपाद ने वेदान्त पर एक भाष्य लिखा था जो आग लगने से भस्म हो गया। इसे एक बार पद्मपाद ने शङ्कराचार्य को सुनाया था। शङ्कर ने शिष्य को निश्चिन्त करते हुए कहा कि तुमने उसे मुझे एक बार सुनाया था। अतः वह मुझे स्मरण है ' मैं बोलता हूं, तुम उसे लिखते जाओ। इस तरह से वह वेदान्त भाष्य तैयार हो गया। स्वामी विवेकानन्द की स्मरण शक्ति का अनुभव जर्मन दार्शनिक पाल ड्यूसन ने देखा था। एक बार स्वामी जी एक कविता की पुस्तक के अध्ययन में इतने लीन होगए कि प्रो० पाब चाय की प्रतीक्षा में काफी देर तक खड़े रहे और उन्हें इसका भान तक न हुआ। फिर वह पहली बार की पढी लम्बी कविता तुरन्त ज्यों की त्यों सुना दी। प्रो० पाल चकित रह गए और इसका कारण पूछा तो स्वामी जी ने बताया कि ब्रह्मचर्य के पालन और प्राणायाम के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने पर यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

मन को एकाग्र करने के लिए प्राणायाम की विभिन्न विधियों का उपयोग किया जाता है जो इस प्रकार है—

(१) भ्रामरी प्राणायाम :

इस प्राणायाम में रेचक की विशेषता है जो भंवरी के शब्दों से ही मिलता जुलता है। इसलिये इसका नाम भ्रामरी हुआ है। पूरक भौंरे की तरह तेजी के साथ किया जाता है।

वीरासन में बैठे, भ्रूमध्य में ध्यान करें, दोनों नासिकाओं से लम्बे स्वर में इस तरह पूरक करें कि ध्वनि भौंरे की तरह हो। कुम्भक जितना सुविधापूर्वक हो सके, करें। तत्पश्चात् रेचक इस प्रकार

करें जिससे भौंरी की तरह मन्द-मन्द ध्वनि सुनाई दे। ध्वनि में मिठास और सुरीलापन हो। इस तरह प्राणायाम में उड्डीयन तथा मूलबन्ध भी लगाने चाहिये। घेरण्ड सहिता में अंगुलियों से कानों को बन्द करके उपरोक्त ध्वनियाँ सुनने का विधान मिलता हैं।

अनुलोम विलोम भ्रामरी प्राणायाम की विधि इस प्रकार से है कि बायें नासिका से श्वास खीचें, यथा शक्ति उसे रोकें, फिर दायें नासिका से निकाल दें। इसके बाद दायें नासिका से श्वास खींचें और यथाशक्ति रोककर बायें से बाहर निकाल दें। यह एक प्राणायाम की विधि हुई। इससे मन की एकाग्रता बढ़ती है।

(२) मूर्च्छा प्राणायाम—

पद्मासन में बैठे दांयें हाथ के अँगूठे से दायें नासिका को दबायें और पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करें। इस क्रिया के साथ जालन्धर बन्ध भी लगाना चाहिये और दृष्टि भ्रूमध्य पर रहे। सुविधानुसार कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालना चाहिए। श्वाँस को रोकने की स्थिति में मन को इस प्रकार विलीन करने की चेष्टा करें जिससे वह मूर्छित सा हुआ प्रतीत हो। यही क्रम दूसरी नासिका से भी करना चाहिए। अभ्यास बढ़ने से मानसिक शान्ति मिलती है, मन की चचलता कम होती है और एकाग्रता की स्थिति आने लगती है।

(३) षष्ठमुखी रेचक प्राणायाम—

इसका पूरक-रेचक भ्रामरी प्राणायाम की तरह ही है। अन्तर यह है कि इसमें दोनों कानों को, दोनों हाथों के अंगूठे से, दोनों नेत्रों को दोनों तर्जनियों से, दोनों नासिकाओं को मध्यमाओं से और मुख को अनामिका व कनिष्ठका से बन्द किया जाता है। इसमें जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए, यथा शक्ति बाह्य कुम्भक करते हुए ध्यान भ्रूमध्य पर जमा रहे। इसके बाद जब पूरक करते की आवश्यकता प्रतीत हो तो

बाँयें हाथ की मध्यमा को उठायें और श्वांस लें। फिर श्वाँस के रोके बिना ही इसी ओर से श्वाँस निकाल दें और श्वाॅस को बाहर रोकने का प्रयत्न करें। इसी तरह दायें-वायें क्रम से करना चाहिए। इससे मन की चपलता समाप्त होने के साथ दिव्य चक्षु खुलने का महान लाभ भी प्राप्त होता है।

(४) सूक्ष्म-श्वास-प्रश्वास प्राणायाम—

इस प्राणायाम में आहार का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। आहार की मात्रा साधारण क्रम से कम हो तो अच्छा है। इसके अभ्यास में श्वांस निकालने की दूरी को क्रमशः कम करना पड़ता है। सुखासन में बैठकर प्रथमतः एक फुट पर तिपाई पर रुई रखें। यह देखना चाहिए कि श्वास छोड़ने पर रुई उड़ती तो नहीं। दूरी उतनी हो जिस पर रुई को उड़ाना नहीं चाहिए, केवल हिलना चाहिए। इस अभ्यास को एक सप्ताह तक करें। अब रुई की दूरी को-दो इन्च कम करें और श्वाँस को इस प्रकार छोड़ें कि अब भी रुई उड़ाने न पावे, केवल हिले। इस स्थिति में भी एक सप्ताह तक अभ्यास करें। धीरे-धीरे अभ्यास को इतना बढ़ा लें कि रुई विलकुल निकट आ जाये परन्तु श्वाॅस छोड़ने पर भी वह न उड़े, न हिले। इसके अभ्यास में मन लगा रहकर एकाग्र स्थिति में आ जाता है।

(५) सप्त व्याहृति-प्राणायाम—

सप्त व्याहृतियाँ है—ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम। प्राणायाम के साथ उसका मानसिक जप सप्त व्याहृति प्राणायाम कहलाता है। वीरासन में बैठना चाहिए। श्वांस खीचने में इतना समय लगाना चाहिये कि एक बार सप्त व्याहृतियों का जप हो जाये। श्वाँस रोकने में चार बार और छोड़ने में दो बार उनका मानसिक जप होना चाहिए। यह एक प्राणायाम हुआ। इसका यथाशक्ति अभ्यास करें। मन की चपलता का अभाव होने से शान्ति और एकाग्रता का अनुभव होता है।

उपरोक्त प्राणायाम में से कोई भी अपनी सुविधानुसार करके अभीष्ट लाभ प्राप्त किया जा सकता है

अमरता की प्राप्ति

इस जगत की तीन स्थितियाँ है—उत्पत्ति, स्थिति व नाश। हर वस्तु यहाँ उत्पन्न होती है उसका पालन-पोषण व विकास होता है और निश्चित अवधि समाप्त होने पर वह नष्ट हो जाती। इसका नियमन एक ऐसी शक्ति करती है जिस पर किसी का अधिकार नही है। यह कार्य अपने स्वभाविक रूप व गति से चलने रहते हैं। प्रथम दो गतियों में तो सभी को सन्तोष व प्रसन्नत: होती है परन्तु तीसरी गति-विनाश की कल्पना से ही भय लगता है। मानव की इच्छा यही रहती है कि उसकी मृत्यु न हो. वह यहां सदैव स्थिर ही रहे। वास्तविकता यह है कि विनाश इसकी स्वाभाविक गति है। इसे नष्ट होकर नवीन उज्ज्वल रूप धारण करना ही है परन्तु अज्ञान के कारण मानव अनिश्चित भविष्य की कल्पना करके भयभीत हो जाता है।

आधुनिक विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है। वैज्ञानिक मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हे। इसके मूल सिद्धान्तों की लम्बे समय से खोज हो रही है। अभी तक पूर्ण रूप से उसमें सफलता नहीं मिल पा रही है।

फ्राँस के डाक्टरों ने कुछ नवीन औषधियों का आविष्कार किया है जिनके सेवन से बाल काले हो रहते हैं सफेद नहीं होते। दाँत सुदृढ़ रहते है गिरते नहीं। नेत्रों की ज्योति अन्त तक पूर्ववत् बनी रहती है। शरीर पर वृद्धावस्था की निशानी—झुरियां नहीं पड़ती। शारीरिक सौन्दर्य युवावस्था की तरह बना रहता है। स्मरण शक्ति क्षीण नहीं होती वरन् वह यौवन की तरह स्थिर रहती है। कहते हैं, उन्होंने इसका अनुभव अनेकों व्यक्तियों पर किया है और वह इसमें सफल हुए हैं।

रूस के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक को चार बार मरने पर बचा लेने कीं घटना इस प्रकार है--

रूस का प्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर सेफ लैंडाओ जिसने १९६२ का नोनल प्राइज प्राप्त किया था चार बार मरा परन्तु चारों बार उसे जीवित कर लिया गया। वह सात सप्ताह तक एक पम्प की सहायता से श्वांस लेता रहा। इसके पश्चात् प्राकृतिक ढङ्ग से उसका श्वाँस चलने लगा।

इस वैज्ञानिक की कार से टक्कर हुई। परिणामस्वरूप उसके सर पर चोट आई। खोपड़ी दब गई। मस्तिष्क पर आघात पहुँचा। उसकी नौ पसलिताँ टूट गई। ब्लैडर फट गया। बाँयी ब्राँह काम करने से रह गई श्वाँस रुक गई। रक्त का चलना बन्द हो गया। रूस के सभी बड़े-वड़े डाक्टरों का सम्मेलन हुआ। एक महान वैज्ञानिक के मूल्यवान शरीर को बचाने का उन्होंने प्रयत्न किया। खोपड़ी का सूजन और दबाब कम करने के लिए उसमें औषधियाँ भर दी गईं और उन्हें बराबर आक्सीजन मिलती रही। बिजली के यन्त्रों द्वारा उसकी बलगम निकालो जाती रही। दूध आदि तरल पदार्थ उन्हें नाक के द्वारा दिये जाते रहे। उनका ताप १०६ डिग्री तक पहुँच गया था। वह ९०४ डिग्री तक आ गया। चार दिनों के पश्चात् उनके दिल की धड़कन बन्द हो गई जिसका स्पष्ट अर्थ था कि उनकी मृत्यु हो गई है। अब उनकी बाँयी बाहु में रक्त दिया और शक्ति वर्द्धक इन्जेक्शन लगाये नए जिससे उनकी दिल की धड़कन पुनः होने लगी। तीन बार उनकी फिर मृत्यु हुई। परन्तु उन्हें ऐसे ही जीवित कर लिया गया। परन्तु उनका शरीर वैसे ही नाकारा बना रहा। अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवी चिकित्सकों को बुलाया गया परन्तु आपरेशन करने की सलाह नहीं दी गई। एक डाक्टर ने उनसे कहा--डाक्टर लैंडाओ! यदि तुम मुझे पहचान रहे हो तो नेत्र बन्द करलो।' डा० लैन्डाओ ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। इस पर उनके मस्तिष्क का आपरेशन नहीं किया गया।

उनकी सोचने की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही हैं। परन्तु स्मरण शक्ति पूरी तरह लौटी नहीं है। चिकित्सकों को आशा है कि वह पहले की तरह स्वस्थ हो जायेंगे।

इस प्रकार के समाचार पहले भी रूसी वैज्ञानिकों द्वारा प्रसारित किये जा चुके हैं कि कुछ समय के लिए अमुक व्यक्ति को बचा लिया गया। जोशीली दवाओं के आधार पर व्यक्ति को कुछ समय के लिए रोका जा सकता है परन्तु मृत्यु को टाला जाना सम्भव नहीं। यदि ऐसा ही है तो वह कम से कम अपने नेताओं को ही कुछ सौ वर्ष तक जीवित रखने का प्रयत्न करें ताकि उन्हें स्वस्थ नेतृत्व प्राप्त होता रहे। वास्तव में यह असम्भव है। उसकी कल्पना करना या इसके लिए प्रयत्न करना अपनी बुद्धि को धोखा देना है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने जीवन को लम्बा या स्थिर रखने के लिए सिद्धान्तों की खोज की है उनका विश्लेषण इस प्रकार है।

हमारा शरीर विभिन्न प्रकार के अणुओं से बना है जिनकी संज्ञा--सैल्स (cells) हैं। जब तक शरीर की स्थिरता बनी रहती है, यह निरन्तर गतिशील रहते हैं। इनका विनाश व निर्माण इतनी तीव्र गति से होता रहता है जिसका आभास किसी भी प्राणी को नहीं हो पाता। जब तक निर्माण अपनी स्वाभाविक गति से होता रहता है, जीवन स्थिर रहता है। जब निर्माण में कमी आने लगती है तो रोग नये-नये रूपों में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन सैल्स के निर्माण का बन्द होना ही प्राणी की मृत्यु कहलाती है। यदि किसी उपाय से इन सैल्स का निर्माण निरन्तर होता रहे तो मानव अमर रह सकता है।

प्रो० केरल ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किये हैं। सैल्क की गतिविधियाँ लम्बे समय तक स्वाभाविक रूप से संचालित होती रहें, उसके लिए उन्होने दो सुझाव दिये हैं। एक तो यह कि उनको आवश्यक आहार प्राप्त होता रहे और उनसे निकलने वाली हानिकर विषाक्त मल एकत्रित न हो सके, उनकी निवृत्ति के उपाय अपनाए

जाते रहें। दूसरा उपाय यह है कि सैल्स की गतिविधियों को एक दम रोक दिया जाय ताकि नव-निर्माण के लिए आहार की आवश्यकता प्रतीत न हो।

प्रो० केरल ने अपने इन सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये कुछ परीक्षण किये हैं जिनसे उनको कुछ आंशिक सफलता भी मिली है। रसायनिक द्रव्यों की सहायता से उन्होंने अपनी मुर्गी के हृदय का एक टुकड़ा वर्षों से जीवित रखा है, इस प्रकार के अनेकों अनुभव उन्होंने किये हैं, परन्तु शरीर को स्थायी रूप से स्थिर रखने में वह अभी सफल नहीं हुए हैं और न होने की सम्भावना है।

प्रो० केरल के सिद्धान्त पाश्चात्यों के लिये नवीन हो सकते हैं परन्तु भारतीयों के लिए कुछ भी नवीनता नहीं है क्योंकि यह खोज और उनका व्यवहार यहाँ लाखों वर्षों पूर्व से होता आ रहा हैं। व्याख्या का नया रूप होने से उसे नवीन खोज की संज्ञा नहीं दी जासकती। महर्षि पत्तजलि के अष्टांग योग की एक क्रिया प्रणायाम है। दूसरी क्रिया पद्धति का यदि नवीन रूप में प्रतिपादन किया जाये तो कहा जा सकता है कि प्राणायाम के सुनियोजित अभ्यास से सैल्स की गतिविधियों को रोक दिया जाता है। प्राचीन काल में तो ऋषि इस अभ्यास को घन्टों, दिनों, महीनों और वर्षों तक समाधि के रूप में बढ़ाने की स्थिति में होते थे। जब सैल्स की गतिविधियाँ रुकी रहती हैं, तब उनके पोषण के लिए आहार की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। प्रो० केरल भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि सैल्स की क्रियाओं की जितने समय के लिए रोका जाना सम्भव हो, समझना चाहिए कि मनुष्य की उतनी आयु बढ़ गई है। प्रो० केरल ने वर्षों के अनवरत परिश्रम से अमर रहने का सिद्धान्त तो खोज निकाला परन्तु उसे क्रियान्वित कैसे किया जाये, उसका कोई समाधान कैसे किया जाए, इसका कोई समाधान वे अभी तक नहीं कर पाये। यह पद्धति तो हमें ऋषि परम्परा से प्राप्त है परन्तु खेद है कि हम इसकी ओर ध्यान नहीं देते। प्राणायाम निश्चित रूप

से वह उपाय है जिसकी सैल्स की गतिविधियों को रोका जाना सम्भव है।

अमर बनने का यह शारीरिक पक्ष है। उसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। भारतीय तत्व-ज्ञान के अनुसार शरीर विनाशशील है और आत्मा अमर है, अविनाशी है। जो व्यक्ति अपने को शरीर मानता है, वह उसके विनाश से दुःखी होता है परन्तु जो साधक शरीर भावना से ऊंचा उठकर आत्म-भावना में स्थित हो जाता है, उसे शरीर के नाश होने पर दुःख, चिन्ता, भय, निराशा का कोई कारण दिखाई नहीं देता। वह भी यह समझता है कि आत्मा समय-समय पर नए-नए शरीर धारण करती रहती है। यह उसका स्वभाव ही है। अभी तक हर व्यक्ति हजारों प्रकार के शरीर धारण कर चुका है। हर बार वह नूतन शक्ति प्राप्त करता है और निरन्तर प्रगति करता हुआ ऊपर उठता रहता है—

भारतीय तत्वज्ञानियों ने अपनी खोजों को यहीं तक सीमित नहीं रखा कि जीवात्मा एक शरीर छोड़कर दूसरा उपयुक्त शरीर धारण कर लेता है, अतः मृत्यु पुराने वस्त्रों को बदल कर नये ग्रहण करने की किया मात्र है। यह उनकी एक असाधारण खोज थी, जिससे मनुष्य निष्कंटक जीवन व्यतीत करता है और उसके जीवन के प्रत्येक कार्य में नया उत्साह, नई स्फूर्ति और नई आशाएँ सदैव ओत-प्रोत रहती हैं और जीवन के संघर्ष में वह बाजी मार ले जाता है।

भारतीय वैज्ञानिक इससे भी आगे बढ़े और साहस के साथ घोषित किया कि "यह शरीर का स्वामी आत्मा नित्य अविनाशी और अचिंत्य है" (गीता २।१८) "यह किसी से मारे जाने वाला नहीं है" (२।१९)। "इसको शास्त्रों से काटा नहीं जा सकता, इसे अग्नि से जलाया नहीं जा सकता, इसे पानी से भिगोया या गलाया नहीं जा सकता और वायु से सुखाया नहीं जा सकता" (२।२३)। इसकी रक्षा ऐसे यन्त्र करते हैं जिन पर इस जगत की किसी वस्तु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह

ऐसा अदृश्य तत्व है जो सदैव एक-सा बना रहता है, जिसकी वृद्धावस्था और नाश कभी नहीं होता, जिसमें किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन नहीं होता। 'इससे सम्बन्धित शरीर का वध भी हो जाय तो यह मारा नहीं जाता' (गीता २।२०)। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।

भारतीयों की इस महान वैज्ञानिक खोज ने मनुष्य के लिए अमर जीवन के द्वार खोल दिये। उसे आश्वासन दिलाया कि 'तुम अमरआत्मा हो, तुम्हारा कभी जन्म नहीं हुआ है। अतः तुम्हारी कभी मृत्यु भी नहीं होगी' (गीता २।२०)। तुम्हारा जीवन स्वतन्त्र और शाश्वत है। तुम्हें केवल अनुभूति मात्र करना है। तुम अज्ञान की जंजीरों से जकड़े हुए हो। केवल इन बन्धनों को खोलना ही है। इन वन्धनों से मुक्त होकर तुभ अपने वास्नविक स्वच्छ और पवित्र रूप को देखोगे। उस रूप के दर्शन होने पर तुम सदैव शाश्वत आनन्द की मस्ती में झूमते रहोगे। अतः अपने को शरीर मानना छोड़ दो। 'शरीर नाशवान और अनित्य है' (गीता २।१८), उसकी प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति और लय ओत-प्रोत है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। यदि उससे घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़े रहोगे तो भय, दुःखों और चिन्ताओं का आना भी निश्चित है। उसे केवल आत्मा का औजार मात्र मानोंगे तो सवैव सुखी रहोगे और इसके वियोग का भय भी नष्ट हो जायगा।

आत्मभावना को जीवित,जाग्रह वस्थिर रखने के अनेकों उपाय भार-तीय शास्त्रो में वर्णित किये गये हैं। उनमें से एक प्रभावशाली साधन प्राणायाम है जिसकी पुष्टि ऋषियों ने अपने अनुभव से की है। योग दर्शन (२।५२) में कहा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

'प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान का अबरण नष्ट होता है।' अपने को शरीर भावना तक सीमित रखना ही अज्ञान है। इसकी सीमा से ऊंचे उठकर आत्मभावना में स्थित होना ही ज्ञान है, विवेक की जागृति है।

पंच शिखाचार्य ने अपने सांख्य सूत्र में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

तपो न परं प्राणायमात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।१९
तमणमात्रमात्मानमनुविद्या स्मीत्येवं तावत् संप्रजानोते ।२०

'प्राणायाम से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। प्राणायाम से आन्तरिक मल शुद्ध व पवित्र होते हैं। मलो की निवृत्ति होने पर अज्ञान नष्ट होता है और ज्ञान का प्रकाश होता है। परिणाम स्वरूप वह अणुमात्र आत्मा को खोजकर भली प्रकार से जान लेता है और उसकी अत्यन्त अनुभूति करता है।"

प्राणायाम से आत्मानुभूति होने की घोषणा की गई है। आत्म विकास आत्मकल्याण व आत्मिक प्रगति ही अमर बनने की अच्छी विद्या है क्योंकि ऐसे साधक का कभी नाश नहीं होता।

पाश्चात्य वैज्ञानिक मानव देह को अमर बनाने के प्रयत्नों में संलग्न है परन्तु भारतीय वैज्ञानिकों ने तो इन खोजों को लाखों वर्ष पूर्व पूर्ण कर लिया था सिजकी पुष्टि उपरोक्त तथ्यों से होती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राणायाम के अभ्यास से दोषों और दुर्गुणों की निवृत्ति होतीं है, मल विक्षेप नष्ट होते हैं, इन्द्रियों का संयम होता है, ज्ञान के जावरण का नाश होता है, अज्ञानान्धकार नष्ट होकर ज्ञान का विकाश होता है। प्राणायाम से मन की चञ्चलता नष्ट होती हैं, उसमें स्थिरता आती है, मनोजय हो जाता है क्योंकि मन प्राण के अधीन है। इसके निरन्तर अभ्यास से धारणा की शक्ति आती है, मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है। मंत्र सिद्धि के लिए इन गुणों की अतीव आवश्यकता है। इसीलिए प्राण क्रिया की मंत्रयोग का एक आवश्यक अंग स्वीकार किया गया है। उसके बिना मत्र साधना असफल रहने का भय रहता है।

———

मुद्रा

तन्त्र शास्त्र भारतवर्ष की बहुत प्राचीन साधन प्रणाली है। इसकी विशेषता यह बतलाई गई है कि इसमें आरम्भ ही से कठिन साधनाओं और कठोर तपस्याओं का विधान नहीं है, वरन् वह मनुष्य के भोग की तरफ झुके हुए मन को उसी मार्ग पर चलाते हुए धीरे-धीरे त्याग की ओर प्रवृत्त करता है। इस दृष्टि से तंत्र को एक ऐसा साधन माना गया कि जिसका आश्रय लेकर साधारण श्रेणी के व्यक्ति भी आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं। यह सत्य है कि बीच के काल में तंत्र का रूप बहुत विकृत हो गया और इसका उपयोग अधिकांश में मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि जैसे जघन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाने लगा, पर तन्त्र का शुद्ध रूप ऐसा नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य एक-एक सीढ़ी पर चढ़कर आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँचना ही है।

तन्त्र-शास्त्र में जो पांच प्रकार की साधना बतलाई गई है, उसमें मुद्रा-साधन बड़े महत्व का और श्रेष्ठ है। मुद्रा में आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि योग की सभी क्रियाओं का समावेश होता है। मुद्रा की साधना द्वारा मनुष्य शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि करके अपने आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है।

परिभाषा

मुद्रा की परिभाषा तन्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार की गई है—

सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेषु बन्धनम् ।
असत्सङ्गमुद्रणं यत् तन्मुद्रा परकीर्तितम् ॥

(विजयतन्त्र)

"सत्संग के प्रभाव से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है और असत्सङ्ग का परिणाम निश्चित रूप से बन्धन होता है असत्संग जब त्याग दिया जाता है और सत्संग ग्रहण किया जाता है तो उस स्थिति का नाम ही मुद्रा है।"

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसहेतः ।
तस्मान्मुद्रेति सा ख्याता सर्वकामार्थ साधिनी ॥

"जिससे देवता प्रसन्न होते हों, समस्त पाप नष्ट होते हों और काम व अर्थ की प्राप्ति होती हो, वही मुद्रा कहलाती है।"

मुद्रा साधना के उच्च माध्यात्मिक परिणामों की ओर संकेत करते हुए "आगमसार" में कहा है—

सहस्रोर महापद्मे कर्णिका मुद्रितां चरेत् ।
आत्मा तत्रैव देवेसि केवलं पारदोपमम् ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशोतलम् ।
अतीव कमनीयञ्च महाकुण्डलिनीयुतम् ।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ।

"सहस्रार महापद्म की कर्णिका में ह-ल-क्ष विभूषित अ-क आदि रेखा रूप त्रिकोण यन्त्र में परम शिव का निवास है। वे पारद की तरह निर्मल व श्वेत वर्णक हैं, हजारों सूर्यों के समान उनकी प्रभा है, हजारों चन्द्रमाओं के समान उनमें शीतलता है, अतीव कमनीय और महाकुण्डलिनी से संयुक्त हैं। जिसे ऐसे शिव का ज्ञान हो गया वही मुद्रासाधक माना जाता है।"

महात्म्य

घेरण्ड संहिता में मुद्राओं के महात्म्य और लाभों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। यथा

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ।
येन विज्ञात मात्रेण सव सिद्धिः प्रजायते ।४।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ।५।

(३।४-५)

"भगवान शिव ने पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहा कि मैंने मुद्राओं के विषय का वर्णन किया जिनका ज्ञान प्राप्त होने पर सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है । यह साधना अत्यन्त गोपनीय हैं । हर एक पर प्रकट नहीं करनी चाहिए । यह मुद्राएं देवताओं के लिए दुर्लभ और योगियों के लिए प्रीति देने वाली हैं ।"

इदं तु मुद्रा पटलं कथितं चण्डकापाले ।
वल्लभं सर्व सिद्धानां जरामरण नाशकम् ॥९४॥
शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ।९५॥
ऋजवेशान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकम् ॥९६॥
मुद्राणां पटलंह्येतत् सर्वव्याधि विनाशकम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्नि विवर्धनम् ॥९७॥
तस्य न जायते मृत्युर्नास्य वार्धक्यमायते ।
न चाग्निजलमयं तस्य वायोरपिकुतोभयम् ॥९८॥
कासः श्वासः प्लीहा श्लेष्मरोगाश्चविंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥९९॥
वहुनाकिमिहोक्तेनसारं वच्मि च चण्डा ते ।
नास्तिमुद्रा समंकिञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ॥१००॥

(३।९४-१००)

ऋषि ने अपने प्रिय शिष्य चण्ड का पाले की मुद्राओं का रहस्य समझाते हुए कहा है कि यह मुद्रा पटल जरामरण को नष्ट करने वाला,

सिद्ध पुरुषों को प्रीति देने वाला तुम्हें वर्णन किया। इसे अधिकारी को ही देना चाहिए। शठ भक्ति हीन जिस किसी को देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अतः इसे गोपनीय रखने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि इसका अनाधिकारी व्यक्ति दुरुपयोग न कर सकें। मुक्ति मुक्ति देने वाले इस योग का अधिकारी सरल व शान्त स्वभाव वाला गुरु भक्त है। मुद्राओं का यह पटल समस्त रोगों को नष्ट करता है। इसका नित्य अभ्यास करने वाले की जठराग्नि बढ़ती है। उसकी वृद्धावस्था नहीं आती और न ही वह मृत्यु को प्राप्त होता हैं। अग्नि, जल के दुष्परिणामों से उसे कुछ भय नहीं होता। वायु से तो भय हो ही नहीं सकता। मुद्रा साधन से २० प्रकार के कास-श्वास प्लीहा श्लेष्म रोग नष्ट हो जाते हैं। हे चाण्डकापाले! मुद्राओं का महात्म्य कहाँ तक वर्णन करें। इन के समान भू मण्डल पर सिद्धि देने वाली कोई साधना नहीं है।"

वास्तव में मुद्राओं का महत्व अकथनीय है। योग शास्त्रों में तो उन्हें प्रणायाम ओर योगासनों से भी अधिक लाभ प्रद माना है। यागासन तो केवल शारीरिक अवयवों की गतिविधियों को व्यवस्थित करने की प्रणाली का अनुकरण करते हैं वरन् मुद्रा साधन की कुण्डलिनी जाग्रत करने के गुप्त रहस्यों में से गिना जाता है। यह भी मान्यता है कि षट् चक्रों में लुप्त सूक्ष्म शक्यियों को विकसित व जाग्रत करने का काम भी मुद्राएँ करतो हैं।

लाभ

मुद्राओं से प्राप्त होने वाले लाभों के दो पक्ष हैं। एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। मुद्राओं से स्थूल शरीर पर ही नहीं, सूक्ष्म शरीर की शक्तिदायक नस नाड़ियों पर भी प्रभाव पड़ता है। योग शास्त्र के अनुसार शरीर में ७६ हजार नाड़ियां है। इन्हीं उाड़ियों के माध्यम से शरीर के हर अङ्ग में शक्ति का प्रवाह चलता है। यीग विज्ञान की

मान्यता है कि शरीर केवल रक्त,मांस, हड्डी, मज्जा आदि से ही निर्मित नहीं हुआ है। इसमें कुछ और सूक्ष्म शक्तियाँ भी रहती हैं जिनके कारण शरीर की महत्ता बनी रहती है और उस व्यक्ति का व्यक्तित्व स्थिर रहता है। शरीर तो जड़, स्थूल व गतिहीन है वह न स्वयं गति कर सकता है और न ही किसी को गति में ला सकता है। सूक्ष्म नाड़ियों में चलने वाला व्यक्ति प्रवाह ही गति लाने की सामर्थ्य रखता है। योग साधनाओं का सम्बन्ध इस शक्ति प्रवाह में ही रहता है। वास्तव में ईश्वर को मनुष्य को महान् शक्तियों से विभूषित किया है। साधारणतः व्यक्ति न पूर्ण रूप से इन शक्तियों से परिचित होता है और न ही उनका प्रयोग कर पाता है। वैज्ञानिकों का मत है कि साधारणतः व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के पांचवें भाग की ही जानकारी रखता है। शेष व्यक्तियों से वह अपरिचित ही रहता है। मुद्राओं के द्वारा इन सुप्त और अपरिचित शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित होता है। मुद्रा साधना से साधक इन शक्तियों का प्रत्यक्ष अनुभूति करने लगता है। यही कारण है कि मुद्राओं को योग में उच्च स्थान प्राप्त है। यह निश्चय ही प्रभावशाली व लाभदायक रहती हैं!

प्रकार

मुद्रायें अनेक है। घरेण्ड संहिता में—

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध,मूलबन्ध महाबन्ध, महावेघ, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोलि, शक्ति चालिनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गिनी, भुजंङ्गिनी, पार्थिवीधारणामुद्रा, आम्भसीधारणा मुद्रा, वैश्वानरी (आग्नेयी) धारणामुद्रा, वायवीधारणामुद्रा और आकाशी धारणा मुद्रा का उल्लेख मिलता है। 'शिवसंहिता' में योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महाबेध,खेचरी, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, विपरीतकरणी,

बज्रोली और शक्तिचालिनी मुद्रा के नाम प्राप्त होते हैं। गोरक्ष-पद्धति' में शक्तिचालिनी,महामुद्रा, खेचरी उड्डीयानबन्ध जालंधरबन्ध और मूलबन्धमुद्रा का वर्णन है। 'हठयोगप्रदीपिका' में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयानबन्ध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकारणी, बज्रोली और शक्तिचालिनी-मुद्रा का वर्णन है।

कहीं-कहीं संक्षोभणी, द्रावणी, आकर्षणी, वशी, उन्माद, महाकुश, मुद्रा की साधना उपलब्ध होती है। खेचरी, भूचरी, अगोचरी, चाचरी और उन्मती मुद्राओं का भी विधान प्राप्त होता है। इनमें से शिख संहिता में वर्णित निम्न १० मुद्राओं को ही प्रमुख माना जाता है—

(१) महामुद्रा (२) महाबन्ध (३) महाबेध (४) खेचरी (९) जालन्धरबन्ध (६) मूलबन्ध (७) विपरीतकरणी (८) उड्डीयान (९) योनि मुद्रा और शक्ति चालिनी।

इन १० मुद्राओं की महत्ता शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित की गई है—

एतत्समुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा॥

"इन दस मुद्राओं को श्रेष्ठ माना जाता है। इनकी समता कोई साधना नहीं कर सकती। इनमें से एकाएक का भी अभ्यास किया जाय तो सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इनके अभाव में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। यह निश्चय रूप से सत्य है।"

'मुद्राणां दशकं ह्येत्तद्व्याधिमृत्युविनाशकम्।
देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्॥
बल्लभं योगिनामेतद्दुर्लभं महतामपि।
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्॥

"भाव यह है कि यह दस मुद्रायें व्याधि रोगों को नष्ट करती है, मृत्यु से बचाती हैं। हे देवी ! यह दिव्य आठ प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। यह योगियों व देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं। रत्नों की तिजोरी की तरह इन्हें गोपनीय रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

स्पष्टीकरण

दस मुद्राओं का वर्णन इस प्रकार है—

(१) महामुद्रा:—

गुरु के उपदेशानुसार बाँये टखने (पैर की पिंडली और पंजे के बीच की दोनों तरफ उठी हुई मोटी हड्डी) से योनि मण्डल (गुदा और लिंगेन्द्रिय के बीच का स्थान) को दबाकर दाहिने पैर को फैलाकर दोनों हाथों से पकड़ ले और शरीर के नवों द्वारों को संयत करके छाती के ऊपरी भाग पर ठुड्डी को लगादे। चित्त को चैतन्य रूप परमात्मा की तरफ प्रेरित करके कुम्भक प्राणायाम द्वारा वायु को धारण करे। इस मुद्रा का पहले बाँये अङ्ग में अभ्यास करके फिर दाँये अंग में करे और अभ्यास करते समय मन एकाग्र करके उसी नियम से प्राणायाम करता रहे।

इस मुद्रा से देह की सारी नाड़ियां चलने लगती हैं। जीवनी शक्ति स्वरूप शुक्र स्तम्भित हो जाता है, सारे रोग मिट जाते है, शरीर पर निर्मल लावण्य छा जाता है, बुढ़ापा और अकाल मृत्यु का आक्रमण नहीं होने पाता और मनुष्य जितेन्द्रिय होकर भवसागर से पार हो जाता है।

(२) महाबन्ध:—

इसे सब मुद्राओं में श्रेष्ठ माना जाता है। यह जरा-मृत्यु को नष्ट करती है। इसकी साधना से सभी मनोरथों की सिद्धि होती है। इसकी विधि इस प्रकार है—

बाँयो ऐडी से गुदा मूल का निरोध करना जाहिए। फिर दाँये पैर से बाँयीं ऐड़ी को यत्न से दबाएं और शनै. शनैः गुह्य देश को चलावें और सिकोड़ें। जालन्धर-बन्ध से प्राणवायु को धारण करना चाहिए। इसे ही महाबन्ध कहते है।

(३) महावेद :—

जो साधक नित्यप्रति महावेध के साथ मूलबन्ध व महाबन्ध का अभ्यास करते हैं, वे श्रेष्ठ योगी सिद्ध होते हैं। मृत्यु व वृद्धावस्था से वह बचे रहते हैं। महावेध की साधना आयन्त आवश्यक मानी जाती है। इसके अभाव में मूलबन्ध और महाबन्ध भी पूर्ण रूप से लाभदायक सिद्ध नहीं होती।

सबसे पहले महाबन्ध का अभ्यास करना चाहिये फिर उड्डीयान-बन्ध करके कुम्भक से वायु को रोकना चाहिए। यही महावेध मुद्रा है।

(४) खेचरी :—

इसके योगी पर मूर्छा, भूख, प्यास का प्रभाव नहीं पड़ता। रोग, मृत्यु और वृद्धावस्था से वह निर्भय हो जाता है। उसे अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता और न सर्प काट सकता है शरीर में अद्‌भुत कान्ति झलकती है। समाधि की उच्चयोगा-वस्था तक वह पहुँच जाता है। उसकी जिव्हा से अमृत रस प्रवाहित होता है, आनन्द का स्रोत खुल जाता है। यह लाभ घेरण्ड संहिता में वर्णित किये गए हैं।

इस मुद्रा से प्राणायाम को सिद्ध करने और समाधि लगाने में विशेष सहायता मिलती है। इसके लिये जिह्वा और तालू को जोड़ने वाले मांस-तन्तु को धीरे-धीरे काटा जाता है, अर्थात् एक दिन जौं भर काट कर छोड़ दिया जाता हे, फिर तीन चार दिन बाद थोड़ा सा और काट दिया जाता है। इस प्रकार थोड़ा काटने से उस स्थान की रक्त वाहिनी

शिरायें अपना स्थान भीतर की तरफ बनाती जाती है और किसी भय की सम्भावना नहीं रहती है। जीभ के काटने के साथ ही प्रतिदिन धीरे-धीरे बाहर की तरफ खींचने का अभ्यास करता जाय। इस अभ्यास के करने से कुछ महीनो में जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि यदि उसे ऊपर की तरफ लौटा जाय तो वह श्वास जाने वाले छेदों कों भीतर से बन्द कर देती है। इससे समाधि के समय श्वाँस का आना जाना पूर्णतः रोक दिया जाता है।

(५) जालन्धर बन्धः—

गले को संकुचित करके ठोड़ी को दृढ़ता से हृदय पर रखना चाहिए। यही जालन्धर बन्ध है। इसके अभ्यास से शरीर में निवास करने वाला अमृत सदैव भरा पूरा रहता है। इसके अभ्यासी को अमृत पान का सौभाग्य प्राप्त होता है। इससे छः मास में सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

(६) मूलबन्ध:—

गुदा को एड़ी से दबाते हुए अच्छी तरह से बांधे और अपान वायु को बल पूर्वक शनैः शनैः ऊपर को खींचना चाहिए। यही मूलबन्ध मुद्रा है। इससे वृद्धावस्था और मृत्यु की निवृत्ति होती है। इससे अभ्यास से आकाश में उड़ने की भी क्षमता प्राप्त कर लेता है। घेरण्ड संहिता के अनुसार संसार सागर से तरने की इच्छा वाले को मौन रहकर वन में अभ्यास करना चाहिए।

(७) विपरीत करणी :-

योगियों ने मनुष्य के शरीर में दो मुख्य नाड़ियाँ बतलाई हैं—एक सूर्य नाड़ी और दूसरी चन्द्रनाड़ी। सूर्यनाड़ी नाभि के पास है और चन्द्रनाड़ी तालू के मध्य में है। मस्तक में रहने वाले सहस्र-दल-कमल से जो अमृत झरता है, वह सूर्यनाड़ी के मुख में जाता है। इसी से अन्त में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यदि यही अमृत चन्द्रनाड़ी के

मुख में गिरने लगे तो मनुष्य निरोगी, बलवान और दीर्घजीवी हो सकता है। इसके लिये तन्त्र शास्त्र में साधक को आदेश दिया गया है कि सूर्य नाड़ी को ऊपर और चन्द्रनाड़ी को नीचे ले आवे। इसके लिए जो मुद्रा बतलाई गई है, उसकी विधि शीर्षासन की है, अर्थात् मस्तक को जमीन पर टिका कर दोनों पैरों को सीधे ऊपर की तरफ तान दें और दोनों हाथ की हथेलियों को मस्तक के नीचे लगादें। तब कुम्भक प्राणायाम करे।

(८) उड्डीयान बन्ध :—

इससे शारीरिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। चित्त वृत्तियाँ अधोमुख से उर्ध्वमुख हो जाती हैं। यह पेट की शिथिलता को नष्ट करता है और यकृत, आमाशय, छोटी व बड़ी आतों में क्रियाशीलता उत्पन्न करता है क्योंकि इसके प्रभाव से पेट की हर नस की मालिश होती रहती है जिससे वह स्वस्थ व बलिष्ठ होती रहती हैं। पेट के विकारों से ही सभी रोग उत्पन्न होते है। इन विकारों की जब शान्ति होती है तो स्वास्थ्य सुधरने लगता है। इससे पुराना कब्ज और अपच दूर हो जाते हैं। इससे कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।

आरम्भ में इसका एक बार ही अभ्यास करना पर्याप्त होगा। छः मास के अभ्यास के बाद ही सात तक किया जा सकता है। इसे खड़े होकर भी किया जा सकता है और पद्मासन में स्थित होकर भी। विधि इस प्रकार है :—

खड़े हो जायें। दोनों की दूरी लगभग डेढ़ फुट की हो। दोनों हाथों को रानों पर रखकर थोड़े आगे को झुक जायें। इस स्थिति में कन्धों और गर्दन का भार हाथों पर ही आ जाए। अब फेफड़ों को वायु रहित करने के उद्देश्य से श्वाँस बाहर फेंकना चाहिये। प्रयत्न यह रहे कि वायु भीतर न जा सके। जिस तरह से श्वाँस खींचा जाता है, उस

तरह की क्रिया करनी चाहिए परन्तु श्वांस न खीचें। इससे डायाफ्राम ऊपर उठता है और पेट में गड्ढा हो जाता है।

सरल विधि तो यह है कि यथासम्भव वायु का नियंत्रण करना चाहिए। जब फेफड़ों में वायु प्रविष्ठ होने लगे ता गर्दन व कन्धों को शिथिल कर दें। उड्डियाम बन्धन का यह एक अभ्यास है। हृदय रोग, यक्ष्मा और रक्तचाप से पीड़ित व्यक्ति इसका अभ्यास न करें। उन्हें हानि होगी।

(९) योनि मुद्रा :—

इसके लिये सिद्धासन पर बैठकर दोनों अगूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनी उङ्गलियों से दोनों मध्यमा (बीच की उङ्गली) से दोनों नाक के छेद और दोनों अनामिका से मुंह बन्द करना चाहिए। फिर काफी मुद्रा (कौवे की चोच के समान होठों को आगे बढ़ाकर साँस खींचना) से प्राण वायु को भीतर खीचकर अपान वायु से मिला देना चाहिए। शरीर में स्थित छहों चक्रों का ध्यान करके 'हूं' और 'हंस' इन दो मन्त्रों द्वारा सोयी हुई कुण्डलिनी को जगाना चाहिए। जीवात्मा के साथ कुण्डलिनी को युक्त करके सहस्त्र-दल कमल पर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना कि मैं स्वयं शक्तिमय होकर शिव के साथ नाना प्रकार का बिहार कर रहा हूँ। फिर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'शिव-शक्ति के सयोग से आनन्द स्वरूप होकर मैं ही ब्रह्म रूप में स्थित हूं।' यह योनि मुद्रा बहुत शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाली है और साधक इसके द्वारा अनायास ही समाधिस्थ हो सकता है।

(१०) शक्ति चालिनी मुद्रा :—

इसे सर्व श्रेष्ठ मुद्रा की संज्ञा दी गई है। यह जरा मरण को नष्ट करने व सिद्धि प्रदान करने वाली है। साहसी साधक ही इसका अभ्यास कर सकता है। जो इसका सफल साधक करता है। वह निर्बीज समाधि तक पहुँच कर ब्रह्म साक्षात्कार तक कर लेता है।

घेरण्ड संहिता में इसकी विधि इस प्रकार वर्णित की गई है;—

कुण्डलिनी तीन लपेट लेकर सर्पिणी की तरह मूलाधार में सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र के खुलने का सौभाग्य प्राप्त होता है। चार अंगुल लम्बा और बालिश्त चौड़ा सफ़ेद कपड़ा लें। इसे नाभि पर रखकर कटिसूत्र से बाँध देना चाहिये सिद्धासन से बैठें, शरीर में भस्म लगा लें। प्राणों को खींचकर अपान से युक्त कर लेना चाहिए। सुषुम्ना द्वार से वायु गमन की प्रतीक्षा करें। जब तक यह प्रकाशित न हो, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुदा का संकोचन चलता रहना चाहिए। इस तरह से श्वास रोकने की कुम्भक क्रिया अपना प्रभाव दिखाती है और मूलाधार में सुप्तावस्था में पड़ी कुण्डलिनी शक्ति को जगाती है। कुण्डलिनी जागकर उठ खड़ी होती है अर्थात् सहस्रार में ईश्वर के साथ इसका ऐक्य हो जाता है। यह शक्ति चालिनी मुद्रा का ही चमत्कार है।

उपरोक्त सभी मुद्रायें सिद्धि दायक है। मन्त्र साधक को इनका अभ्यास करना चाहिए। मन्त्र योग की पूर्णता के लिए इन्हें आवश्यक बताया गया है। यह यौगिक मुद्राएँ हैं, शारीरिक व आत्मिक शक्तियों का विकास करती हैं। मन्त्र साधना से शक्ति व सिद्धि प्राप्त करने के लिए इनका सहयोग श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि मुद्राओं का अभ्यास किसी भी दिशा में किसी से सुनकर या पढ़कर नहीं करना चाहिए वरन् योग्य गुरु से सीख कर ही इसका अभ्यास करना अनिवार्य है।

जप से पूर्व की २४ मुद्राएँ

यह मुद्रायें मंत्र साधना के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। इनके प्रदर्शन का निधान शास्त्रों में मिलता है। मुद्रा का अभिप्राय हाथ की

विशेष आकृति से मोड़ना है। हाथों को विभिन्न प्रकार से मोड़ते पर अलग-अलग मुद्रायें बनती हैं। मुद्राओं का प्रदर्शन अपने इष्ट देवता की मूर्ति, चित्र या यन्त्र के समक्ष एकान्त स्थान में किया जाता है। किसी दूसरे व्यक्ति के उपस्थित रहने पर इनका प्रदर्शन वर्जित है। जप के पूर्व की २४ मुद्राएँ के नाम व विवरण इस प्रकार है —

१. सुमुप्वम्—इसमें दोनों हाथों की उंगलियों की एक दूसरे के साथ मिलाना होता है।

२. सम्पुटम्—इसमें दोनों हाथों को फुलाकर मिलाना होता है।

३. विततम्—दोनों हाथों की हथेलियों को सामने की ओर रखें।

४. विस्तृतम्—दोनों हाथ कुछ दूरी पर रहें और उंगलियाँ भी खुली रहें।

५. द्विमुखम्—दोनों हाथों की कनिष्ठिका से कनिष्ठिका और अनामिका से अनामिका को मिलाना चाहिये।

६. त्रिमुखम्—द्विमुखम् में दोनों मध्यमाओं को भी मिला देना चाहिये।

७. चतुर्मुखम्—त्रिमुखम् में दोनों तर्जनियों को भी मिला देना चाहिए।

८. पञ्चमुखम्— चनुर्मुखम् में दोनों अंगूठे भी मिला देने चाहिए।

९. षण्मुखम्—पञ्चमुखश्र की आकृति में कनिष्ठिकाओं को खोल दें।

१०. अधोमुखम्—हाथों को उल्टे करके उनकी अंगुलियों को मोड़ें और उन्हें मिलाकर नीचे की तरफ कर दें।

११. व्यापकाञ्जलिकम्–इस तरफ से मिले हुए हाथों को शरीर की ओर से घुमाकर सीधा कर दें।

१२. शकटम्—दोनों हाथों को उल्टा करें, एक हाथ का अंगूठा दूसरे हाथ के अंगूठे से मिला दें। तर्जनियां सीधी रखें मुट्ठी बांध दें ।

१३. यमपाशम्—तर्जनी से तर्जनी बांधें और दोनों मुट्ठी बाँध दें।

१४. ग्रन्थितम्—दोनों हाथों की अंगुलियों की एक दूसरे के साथ ग्रन्थित करना चाहिए।

१५. सन्मुखोन्मुखम्—दोनों की पाँचों अंगुलियों को मिलावें । पहले बांयें पर दाहिना हाथ रखें, फिर दांयें पर बांया हाथ रखना चाहिए

१६. प्रलम्बम्—दोनों हाथों की अंगुलियों को कुछ मोड़ें, फिर उन्हें उलटा करके नीचे की ओर कर दें।

१७. मुष्टिकम्—दोनों हाथों की मुट्ठियां बांधकर मिला दें। दोनों अंगूठे ऊपर की ओर ही रहें।

१८. मत्स्य—दोनों हाथों को पूरा खोल दें। दांयें हाथ को पीठ पर बाँया हाथ उल्टा करके रख दें। दोनों अंगूठे अलग अलग रहें ।

१९. कूर्म—सीधे बायें हाथ की मध्यशा, अनामिका और कनिष्ठिका को मोड़ें, उलटे दाहिने हाथ को मध्यमा-अनामिकाओं को उन तीनों अंगुलियों के नीचे दें, बायीं तर्जनी पर दायीं कनिष्ठिका व बांयें अंगूठे पर दांयी तर्जनी रखनी चाहिए।

२०. वराहकम्—दांयें हाथ की तर्जनी अंगुलि को बांयें अंगूठे से मिलावें और दोनों हाथों की अंगुलियों की एक दूसरे से बांधें।

२१. सिंहाक्रान्तम्—दोनों हाथों को कानों के निकट लावें । हाथ खुले रहें और हथेलियाँ सामने रहें।

२२. महाक्रान्तम्—दोनों हाथों की अंगुलियाँ कानों के निकट रहें।

२३. मुदगरम्—दाँयें हाथ की मुट्टी बांधें। बांयें हाथ की हथेली पर दायीं कोहनी रक्खें।

२४. पल्वलम्–दाँयें हाथ की अँगुलियों को मुँह के सामने हिलाना चाहिये।

इन मुद्राओं के चित्र अगले पृष्ठ पर दिये जा रहे हैं जिससे उनकी आकृतियाँ स्पष्ट हो जायेंगीं।
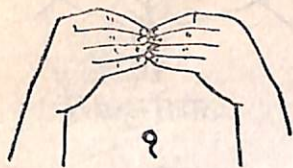
—:—

१
सुमुखम्
३
विततम्
५
द्विमुखम्
७
चतुर्मुखम्

२
सम्पुटम्
४
विस्तृत्तम्
६
त्रिमुखम्
८
पञ्चमुखम्

षण्मुखम्

१०

अधोमुखम्

व्यापकाञ्जलिकम्
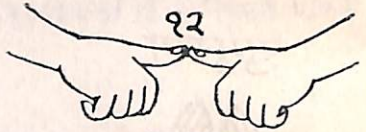
शकटम्

१३

यमपाशम्

१४

ग्रन्थितम्

१५

उन्मुखोन्मुखम्

१६

प्रलम्बम्

१७
मुष्टिकम्
१६
कूर्मः
२१ सिंहाक्रान्तम्
२३
मुदगरम्

१८
मत्स्यः
२०
वराहकम्
२२ महाक्रान्तम्
२४
पल्लवम्

जप के बाद की ८ मुद्रायें

सुरभिर्ज्ञानवैराग्येयोनिः शंखोंऽथ पङ्कजम् ।
लिंग निर्वाणमुद्राख्यै जाता च प्रदर्शयेत् ।।

जप के बाद की ८ मुद्रायें करने की विधि

अन्योन्याभिमुखी श्लिष्टा कनिष्ठानामिका पुनः ।
तथैव तर्जनीमध्या धेनुमुन्द्रा समीरि ।१।
तर्जन्यद्रगुष्ठकौ सांकाबग्रतो हृदि विन्यसेतू ।
वामहस्ताम्बुजं वामे जानमूर्द्धनि निन्युसेत् ।।
ज्ञानमद्रा भवेदेषा । रामचन्द्रस्य प्रेयसी ।२।
शातर्जन्यङ्गष्ठकौ सक्तौ जान्वन्ते च विनिर्दिशेत् ।
वैराग्या ह्यस्ति मुद्रा च मुक्ति साधन कारिका ।३।
मिथः कनिष्ठिके वद्ध्वा तर्जनीभ्यामनामिके ।
अनामिकोद्धर्वसंश्लिष्टै दीर्घमध्यमयोरथ ।
अङ्गुष्ठाग्राद्वये न्यस्य योनिमुद्रेयमीरिता ।४।
वामाङ्गुश्वन्तु संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना ।
कृत्वोत्तानां ततो मुष्टिमङ्गुष्ठन्तु प्रसारयेत् ।।
वामाङ्गुल्यस्तथा श्लिष्टा संयुक्तास्युः प्रसारिताः ।
दक्षिणांगुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रैषा शखमुद्रिका ।५।
हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संहतप्रोन्नतांगुली ।
तलान्तमिलितांगुष्ठौ कृत्वैषा पद्ममुद्रिका ।।६।।
उच्छ्रितं दक्षिणागुष्ठं वामांगुष्ठेन बन्धयेत् ।

वामांगुलीर्दक्षिणाभिरंगलीभिश्च बन्धयेत ।
लिङ्गमुद्रेयमाख्याता शिव सान्निध्यकारिणी ।७।
अधोमुखं वामकरं तदूर्ध्वं दक्षिणन्तथा ।
उत्तानं स्थापयित्वा च संयुक्तांगुलिकौ तदा ।
हस्तौ तु मुष्टिको कृत्वा श्रोत्रपार्श्वे च कारयेत् ।
तर्जन्यौ दर्शयेदूर्ध्वे मेषा निर्वाण संस्मृता ।८।

धेनु मुद्रा :—इसमें धेनु के चार स्तनों को बनाया जाता है । दोनों हाथों की समस्त अंगुलियों को परस्पर में एक दूसरी से श्लेष्ट कर देवे, फिर एक हाथ की कनिष्ठिका अंगुलि को दूसरे हाथ की अनामिका से सटा देवें और इसी तरह से एक की तर्जनी को दूसरे हाथ की मध्यमा से शिलष्ट कर देवें तो चार स्तन जैसे बन जाते हैं । इसी को धेनु या सुरभि नुद्रा कहा गया है ।

ज्ञान मुद्रा :—तर्जनी अंगुली और दक्षिण हाथ के अंगुष्ठ को आगे हृदय पर विन्यस्त कर देवें और बायें हाथ को वाम जानु मूर्द्धा पर रखें—यह ज्ञान मुद्रा कही जाती है जो कि श्री रामचन्द्र को बहुत प्यारी है ।

वैराग्य मुद्रा :—तर्जनी और अंगुष्ठ दोनों को जानु के अन्त में विनिर्दिष्ट करें—यह युक्ति के साधन करने वाली वैराग्य मुद्रा होती है ।

योनि मुद्रा :—परस्पर में दोनों कनिष्ठका दोनों अनामिका और दोनों मध्यमाओं को बद्ध करके दोनों तर्जनियों को लम्ब मान करके शिलष्ट कर देवें तथा दोनों अंगुष्ठों को बराबर जोड़कर तर्जनियों से सटा देवें तो योनि के आकार वाली मुद्रा बन जाती है ।

शंख मुद्रा :—बाँये अंगुष्ठ को लेकर दक्षिण मुष्टि के बीच में दे

देवें और उसे प्रसृत कर देवें। मुष्टि को उत्तान कर देना चाहिए। वाम हस्त की अँगुलियों को संयुक्त करके श्लिष्ट कर देवें। दक्षिण अँगुष्ट से संस्पर्श करती हुई यह शखा मुद्रा होती है जो एक शंख की आकार वाली होती है।

लिङ्ग मुद्रा :—उच्छ्रित दाहिने अँगूठे को वाम अंगुष्ठ से बद्ध कर देवें और बांये हाथ की अंगुलियों को दाहिने हाथ की अंगुलियों से बाँध देवें—यह लिङ्ग मुद्रा होती है जो भगवान् शिव की सन्निधि करने वाली होती हैं।

पद्म मुद्रा :—दोनों हाथों को संमुख करके दोनों की अँगुलियों संहत और प्रोन्नत कर लेवें तलान्त में दोनों अंगुष्ठों को मिला देवें। यह पद्म मुद्रा बन जाती है।

निर्वाण मुद्रा :—बाँये हाथ की अधोमुख करके उसके ऊपर दाहिने हाथ को उत्तान स्थापित कर देवें। दोनों की अँगुलियाँ संयुक्त रक्खें। दोनों हाथों की मुष्टि बनाकर श्रोत्र के पास में करें और दोनों तर्जनियों को ऊपर की ओर दिखावें तो यह निर्बाण मुद्रा बन जाती है।

(मुद्राओं के चित्र अगले पृष्ठ पर देखें।)

उपरोक्त दोनों प्रकार की मुद्राओं के प्रदर्शन से मन्त्र साधना की सफलता में सहायता मिलती है।
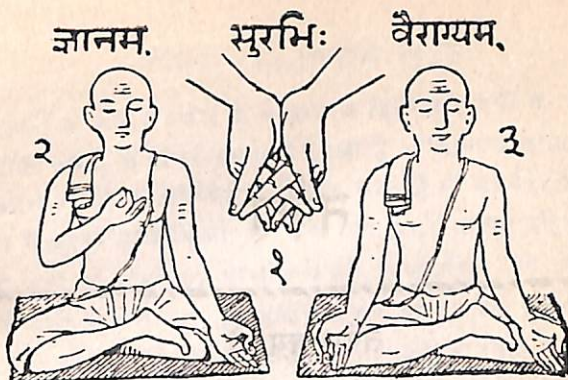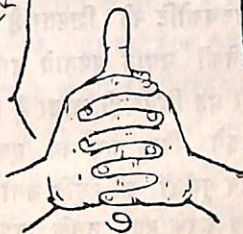
(चित्र : जप के बाद की ८ मुद्रायें)

तर्पण

तर्पण क्या है ?

पितृ यज्ञ को ही मनु ने तर्पण कहा है। पितरों की तृप्ति के लिए मन्त्र के उच्चारण के साथ उन्हें जलादि प्रदान करना ही तर्पण है। इसमें पूर्वजों के प्रति श्रद्धा भावना और आदर सम्मान के पवित्र भाव छिपे हैं। बड़ा का सम्मान करना भारतीय संस्कृति की एक महान् विशेषता है। माता, पिता तथा गुरु को साक्षात् देवता की संज्ञा दी गई है। उन्हें इसी उच्च भावों से पूजने का आदेश है। परन्तु मृतक होने पर भी उस पूज्य भाव को बनाए रखना मानवता का उच्चतम लक्षण है। उपकारी के उपकारों का स्मरण रखना और उस ऋण को उतारने का प्रयत्न करना यही उच्चकोटि की शिष्टता है। पूर्वजों, के प्रति श्रद्धा भाव स्थिर रखने के अनेकों उपाय अपनाये जाते हैं, उनमें एक तर्पण भी है। पितृ पक्ष में तो यह किया ही जाता है। इसकी महान् महत्ता को स्वीकार करते हुए, इसे नित्य कर्म का एक अङ्ग माना गया है ताकि हमारे मन में सदैव पूर्वजों की स्मृति बनी रहे और अपनी भाव भरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके हुए उनके ऋण से उऋण होते रहें। तर्पण क्रिया केवल अपने सम्बन्धियों तक ही सीमित नहीं है परन्तु देवताओं और ऋषियों का भी तर्पण करने का आदेश दिया गया हैं। गङ्गा में तो इसे सदैव समय का उल्लंघन करके भी किया जा सकता है।

पितरों का निवास स्थान

पितरों के निवास स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रों में उल्लेख है। श्रीमद्‌भगवत के पाँचवें स्कन्ध में लिखा है। "अग्निष्वात्ताति पितृ जल जल-मय लोक के उर्ध्वदेश में निवास करते हैं।" अथर्ववेद में इस सम्बन्ध में अनेकों मन्त्र मिलते हैं। यथा 'जो पितर सन्तान रहित होने पर भी पापों को छोड़ते हुए परलोक में गये, वे अन्तरिक्ष को लांघकर स्वर्ग के उर्ध्व भाग में रहते हुए पुण्य का फल प्राप्त करते है" (१८।२।४७) नीचे की ओर द्युलोक उदवन्ती, द्वितीय भाग पीलमती हैं, तृतीया भाग प्रद्यौ है। उसी तीसरे भाग में पितर निवास करते हैं" (१८।२।४८ 'हमारे पिता के जन्मदाता पितर पितामह के जन्मदाता पितर और वे पितर जो विशाल अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, जो पितर स्वर्ग और पृथ्वी पर रहते हैं, इन सब लोकों में वास करने वाले पितरों का नमस्कारों द्वारा हम पूजन करते हैं।' (१७।२।४९)

पितरों के निवास स्थान को पितर लोक कहते हैं। वहाँ से आने जाने के मार्ग को पितृयान कहते हैं। इसी मार्ग से पितृगण अपनी सन्तान द्वारा दिये गये हव्य को लेने के लिए आते हैं। यह चन्द्रलोक पहुँचने का मार्ग है। देवयान से यह नीची श्रेणी का है। परन्तु फिर भी इसके लिए पुण्य कर्म अपेक्षित हैं। जो ब्रह्मलोक तक पहुँचाने की क्षमता तो नहीं रखते परन्तु ऊपर के लोकों में पहुंचाकर भोग के अधिकारी अवश्य बना देते हैं। उन भोगों को भोगकर पुनः इस लोक में लौटना पड़ता है। देवयान मार्ग से जाने वालों को फिर यहां नहीं लौटना पड़ता। देवयान मार्ग से पथिक कमशः ब्रह्मलोक तक पहुंच जाते हैं। वहाँ पहुँचकर उन्हें मोक्ष पद मिलता है। फिर उन्हें जन्म मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता। दिव्य विचारों से सम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष ही इस मार्ग से जाने के अधिकारी होते हैं। वेद में भी इन दो मार्गों का संकेत है 'श्रुति से द्वारा मरणधर्मा मनुष्य के देवताओं के गमन योग्य तथा

पितरों के गमन योग्य दो मार्गों को सुना है। स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य में विद्यमान यह संसार इन देवयान और पितृयान मार्गों के द्वारा प्राप्त होता है।" (यजु १६।४६)।

पितरों से सम्बन्ध और वेद की साक्षी

भारतीय अध्यात्म शास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है कि "शरीर का स्वामी आत्मा नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य है" (गीता २।१८) वह न जन्म लेता है और न मरता है गीता २।२०), शरीर का बध कर दिया जाये तो भी वह मारा नहीं जाता। वह तो केवल पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र ग्रहण करने की प्रक्रिया सम्पन्न करता है (गीता २।२३)। इस शरीर के नाश के साथ हमारे जीवन का नाश नहीं हो जाता। इस शरीर की मृत्यु के साथ ही केवल स्थूल शरीर समाप्त होता है। सूक्ष्म और कारण शरीर तो बने रहते हैं। स्थूल शरीर का बोझ दूर होने पर प्राणी अपने को अत्यन्त हल्का अनुभव करता है और सूक्ष्म शरीर से वह सूक्ष्म लोकों में सुविधा पूर्वक उड़-कर जा सकता है। सूक्ष्म लोकों में प्रवेश के लिये उसे कोई बन्धन नहीं होता। परलोक विद्या विशारदों का मत है कि मरने के बाद जीव काफी समय तक अपने प्रिय कुटुम्बियों के आस-पास मडराता रहता है क्योंकि उनसे उसे मोह होता है और उनका सहवास उसे प्रिय लगता है। सूक्ष्म शरीर को प्राप्त होकर वह सबको देख सकता है, उसे कोई नहीं देख सकता। जब वह प्रेम दृष्टि से सम्बन्धियों को निहारता है और उधर से उनका कोई प्रत्युत्तर प्राप्त नहीं होता तो वह अत्यन्त निराश हो जाता है। जब प्रियजन उससे श्रद्धा भावना व्यक्त करते मिलते हैं, तो उसे प्रसन्नता और सन्तोष होता है। सूक्ष्म लोकों में निवास करने पर भी जब उन्हें बुलाया जाता है तो वह आते हैं क्योंकि सूक्ष्म शरीर से, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में कोई कष्ट नहीं होता, वह भावना को पाकर ही तृप्त हो जाते हैं। यजुर्वेद

में पितरों का आह्वान किया गया है "कल्याण प्रदान करने वाले पितरों का मैं अभिमुख जानता हूँ। कुश के आसन पर बैठने वाले जो पितर स्वधा के सहित सोम पान करते हैं। वह इस स्थान में आवें" (१९।५६)। "हे पितरो! इस यज्ञ में आओ। कुशाओं पर विराजमान तथा हवि के निमित्त आहूत सोम के योग्य पितर हमारे आह्वान को सुनें। जैसे पिता पुत्र से बोलते हैं, उसी प्रकार वे हम से बोलें और हमारे रक्षक हो" (यजु १९।५७) "वे अग्निष्वात्त पितर हमारे इस यज्ञ में आगमन करें और श्रेष्ठ नीति वाले सभी स्थान में स्थित होकर कुशाओं पर बैठें" (१९।६९)। "हम इन सत्य युक्त अग्निष्वात् नामक पितरों को आहूत करते हैं" (१९।६१)

पितरों के कल्याण के लिये प्रार्थना भी की जाती है "इहलोक और परलोक में स्थित पितर और मध्यलोक में स्थित सोमभागी पितर ऊर्ध्व लोकों को प्राप्त हों" (यजु १९।४९)।

हमारे आह्वान पर पितर यहाँ आते हैं और हमारी अर्पित वस्तुओं को स्वयं ग्रहण करते हैं, इसके भी प्रमाण वेद में उपलब्ध होते हैं "अन्न के प्रति गमन करने वाले को स्वधा नामक अन्न प्राप्त हो। स्वधा के प्रति गमन करने वाले को स्वधा नामक अन्न प्राप्त हो। स्वधा के प्रति गमन करने वाले प्रपितामह को स्वधा संज्ञक अन्न प्राप्त हो, पितरों ने आहार भक्षण किया, पितर तृप्त हो गये। हे पितरो! आचमन आदि के द्वारा शुद्ध होओ" (यजु १९।३६) पितर कुशाओं पर बैठकर सब प्रकार की हवियों को ग्रहण करें" (यजु १९।५९)।

पितरों के साथ वार्तालाप की सम्भावना व्यक्त करते हुए वेद ने कहा है—"हे सोम! पितरों के साथ बात करते हुए तुमने स्वर्ग और पृथ्वी का विस्तार किया है।" यजु (१९।५४) 'जैसे पिता पुत्रों से बोलते हैं, वैसे पितर हम से बोलें (यजु १९।५६)।

पितर जब सन्तुष्ट होते हैं तो कल्याणकारी आशीर्वाद देते हैं। "पितर अत्यन्त तृप्त होकर हमें अभीष्ट प्रदान करते हैं' (यजु १९।३६ सौम्य मूर्ति पितर मुझे शुद्ध करें। प्रपितामह मुझे पवित्र करें। इस प्रकार पितरों के द्वारा पवित्र किया मैं अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ" (यजु १९।३६)। "वे पितर प्राणरूप को प्राप्त हैं। वह शत्रु रहित होने के कारण उदासीन, सत्यज्ञात पितर आह्वानों में हमारे रक्षक हों' (१९।५७)। "पितर वीर पुत्रादि युक्त धन को हम में सब ओर से स्थापना करें" (१९।५९) "वे वेदाध्ययन युक्त पितर हमारे लिए सुखपूर्वक आह्वान के योग्य हों। हम उनकी कृपा से धनों के स्वामी हों"।

पितर कैसे खिचकर आते हैं

तर्पण के विधान में एक ताँबे के पात्र में पूर्वाग्र कुश रखकर पूर्व की ओर मुख करके देव तीर्थ से चावल के साथ मन्त्र उच्चारण से जल की अंजलि देनी होती है। फिर जल में तिल मिलाकर पितरों का अंजलियाँ अर्पित की जाती हैं। पितर चन्द्रलोक में निवास करते हैं, वे वहाँ से किस प्रकार खिचकर इस लोक में आते हैं और विधान में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का क्या उपयोग है, इस पर श्री रघुनन्दनशर्मा ने अपनी पुस्तक "वैदिक सम्पत्ति' में लिखा है "प्रश्न यह है कि चन्द्र लोक से जीवों को किस प्रकार खींचा जाए ? जीवों को खींचने का वही तरीका है जो सूर्यकान्त मणि के द्वारा सूर्य ताप के खींचने में और चन्द्रकान्त मणि के द्वारा जल के खींचने में प्रयुक्त किया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रकांत के प्रयोग से चान्द्र जल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चान्द्र पदार्थों को एकत्रित करने से जान्द्र वीर्य भी आकर्षित होता है। चान्द्र वीर्य में ही जीव रहते हैं, इसलिए उन पदार्थों में खिच आते हैं, जो चन्द्र कर्षण के लिए, विधि से एकत्रित किये जाते

हैं, वे पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजत, कुश, तुलसी पत्र और जल हैं। यह सब हवि आदि सामग्री उसी प्रकार का यन्त्र बन जाती है जिस प्रकार चन्द्रमणि। इसी में पितर खिंचकर आते हैं।"

"सूर्य सिद्धान्त" (१२।३१) के अनुसार चन्द्रलोक अन्य ग्रहों की अपेक्षा नीचा है और पृथ्वी से निकट है। इसलिए उसके निवासियों से सम्बन्ध स्थापित करना सरल हो जाता है। चन्द्रलोक जल तत्व प्रधान लोक है। उससे अनुकूलता प्राप्त करने के लिए जल को ही माध्यम बनाया जाता है और जल की अंजलियों द्वारा पितरों को तृप्त किया जाता है।

पितरों की शक्ति और अधिकार

गरुण पुराण के अनुसार पितर वायु रूप होते हैं। स्थूल जगत की गतिविधियों का आधार सूक्ष्म जगत् है। वह शक्ति और सिद्धि का रूप है। सूक्ष्म वस्तुओं के निश्चित आधार होते हैं। पितर भी सूक्ष्म होते हैं। उनकी शक्तियाँ और अधिकारों का वर्णन करते हुए स्वामी दयानन्द ने "धर्म कल्पद्रुम" के पञ्चम खण्ड में लिखा है — "ऋतुओं में विपर्य्यय उत्पन्न करना, संसार में स्वास्थ्य विधान करना, संसार के स्वास्थ्य में विपर्य्यय उत्पन्न करना, मनुष्य का स्थूल शरीर मातृ गर्भ में उत्पन्न करना मनुष्य के स्थूल शरीर का स्वास्थ्य विधान करना, मनुष्य के शरीर के स्वास्थ्य में विपर्य्यय करना इत्यादि सब कार्य पितृ गण की कृपा से हुआ करते हैं। सुतरा पितृगण ही जीव के कर्मयोग के उपयोगी उसके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट अधिकार के अनुसार स्थूल शरीर बनाने में जैसी आवश्यकता हो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट तत्वों को चन्द्रलोक अर्थात् पितृलोक से पर्जन्यादि के द्वारा सुसज्जित करते हुए यथा क्रम मातृ पितृ शरीर में होकर रज, वीर्य परिणित करते हुए मातृ गर्भ में पहुँचा देते हैं। यही पितृगण के द्वारा मनुष्य के स्थूल शरीर की गति का वैज्ञानिक रहस्य है।"

सूक्ष्म होने के कारण पितर हम से शक्तिशाली होते हैं। वे हमारा कल्याण करने की सामर्थ्य रखते हैं। इसीलिए उन्हें तृप्त और सन्तुष्ट करने में अपना ही कल्याण है क्योंकि उनके दिये हुये वरदान और आशीर्वाद यहां फलीभूत होते हैं। इस तरह तर्पण को पूर्वजों के सम्मान की स्थिरता बने रहने के साथ साथ सूक्ष्म शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करके अपनी विकास योजना को आगे बढ़ाता है। यह शक्ति के आह्वान का श्रेष्ठ उपाय हैं। सूक्ष्म से सम्बन्ध होने का यह निश्तचित परिणाम होता ही है।

पितरों तक पहुँचने का माध्यम —भावना

पितर सूक्ष्म लाक में निवास करते हैं। उनके अपने शरीर भी सूक्ष्म होते हैं। अतः उन तक पहुंचने या सन्देश भेजने में सूक्ष्म को ही माध्यम बनना पड़ेगा। एक स्तर वाली वस्तुओं में ही आपसी सम्बन्ध स्थ पित होना सम्भव हे। इस जगत की स्थूल वस्तुओं का सूक्ष्म जगत में प्रवेश असम्भव हैं, भारतीय वज्ञानिकों ने सूक्ष्म जगत के निवासियों से मिलने के लिए ऐसे विमानों का निर्माण किया जो क्षण भर में उनके पास पहुँच जाएं ओर अपना अभिमत प्रकट करदें। यह विषय स्थूल नहीं सूक्ष्म हैं। इनको उन्होंने भावना का नाम दिया। भावना का कोई रूप, रङ्ग, और नाप-तौल नहीं होती है। इसलिए उसे सूक्ष्म जगत में विचरण करके में कोई बाबा उपस्थित नहीं होती। भगवान भी भक्त की भावना को पाकर सन्तुष्ट होते हैं और भक्त का कल्याण करते हैं। भक्त की भावना व्यक्त करने का माध्यम पत्थर धातु, मिट्टी की मूर्ति या कागज पर छपा चित्र होता हैं। भगवान तक तो भावना पहुँचने की सामर्थ्य रखती है परन्तु उसे किसी माध्यम की भी अपेक्षा रहती हैं। जिस तरह भक्त को भगवान तक अपनी भावना पहुंचाने के लिए मूर्ति की आवश्यकता रहती है, उसी तरह तक पितरों तक अपनी भावना पहुंचाने के लिए जलादि आवश्यक होते हैं। जल तो स्थूल है, वह तो यहीं का यहीं पड़ा रहता है परन्तु

उसके सहारे से व्यक्त भावना के सूक्ष्म पंख अपार शक्ति और सामर्थ्य के साथ तीव्र गति से उड़कर अपने लक्षित स्थान पर पहुँच जाते हैं। पितरों तक पहुंचने के लिए केवल यही मार्ग है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

पाश्चात्य जगत में भी इस विषय पर काफी खोजें हुई हैं और उन्होंने पितरों के सम्बन्धों की सम्भावना को स्वीकार किया है। श्रीविक्टर ई. क्रोमर ओज-शक्ति के अविष्कारक माने जाते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि परलोक में निवास करने वाली आत्माओं के साथ सम्बन्ध जोड़ सकते हैं परन्तु उसका माध्यम है ओज शक्ति। परलोकवासी मृत आत्मा पर अपनी ओज शक्ति की किरणों को डालने से ही उनसे सम्बन्ध हो जाता है। इस सूक्ष्म किरणों की एकाग्रता से ही यह लाभ होता है।" यह भी सूक्ष्म शक्ति का चमत्कार समझना चाहिए।

कृतज्ञता की भावना व्यक्त करना ही तर्पण का मुख्य उद्देश्य है

भारतीय वैज्ञानिकों ने विचार किया कि जिस भावना रूपी स्पुतनिक को हम पितर लोक में भेज रहे हैं, वह यदि शुष्क रही तो वे पितर सन्तुष्ट न होंगे। उसमें कोई गुण होना चाहिए। इस योजना पर गम्भीर अध्ययन के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि कृतज्ञता को इसमें ओत-प्रोत कर देना चाहिए। यही मानवता का प्रथम गुण हैं, सभ्यता और शिष्टाचार का श्रेष्ठ चिन्ह है। जिस मानव में यह गुण नहीं हैं, वह शिक्षित होते हुए भी पशु तुल्य हैं क्योंकि जिस समाज ने हमें विकसित होने की सुविधा दी, जिन पूर्वजों ने लौकिक व पारलौकिक प्रगति में हमें सहयोग दिया, जिन के उपकारों के बोझ से हम दब रहे है, उन्हें स्मरण न करना मानवता का अभाव ही माना जायेगा। मनुष्य की

सीमित शक्तियों को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह स्वयं चहुंमुखी विकास करने में असमर्थ है। उसे चारों ओर से सहयोग की अपेक्षा रहती है। बिना दूसरों से सहयोग के उसका एक पग भी चलना सम्भव नहीं है। अपने उपकारियों के प्रति कृतज्ञता की भावना को व्यक्त न करने से मानवता भी लजाती है। इस वृत्ति के अपरिपक्व होने पर मानव पशुत्व की ओर बढ़ता है जो इस जीवन का अभिशाप है। इसलिए शास्त्रों ने कृतघ्नता को घोर पाप घोषित किया है और ऐसे उपायों का विधान बनाया गया है जिस से कृतघ्नता पनप न सके और कृतघ्नता का विकास होता रहे। इसीलिए समय-समय पर हमारे धर्म में चूल्हा, चक्की, ऊखल, मूसल, कुआं, तालाब, वृक्ष और घूरा आदि जड़ वस्तुओं के पूजन का विधान है। जड़ पदार्थों को इसका भले ही ज्ञान न हो परन्तु हमारी कृतज्ञता की भावना इस से अवश्य परिपुष्ट होती है।

पितरों के कारण हमारा जीवन अस्तित्व में आया, हमारा पालन-पोषण और विकास हुआ, जीवन को समुन्नत बनाने में सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति उपेक्षा वृत्ति रखने का अभिप्राय होगा अपने में कृतघ्नता पुष्ट करना। जिसके शरीर में कृतघ्नता के परमाणु जन्म लेते और बढ़ते हैं, यह नर शरीर जड़ के समान है। इस पशुता और जड़ता की विषाक्त जड़ को जमने न देने के लिए ही पितरों के प्रति कृतघ्नता की भावना व्यक्त करने के लिए तर्पण का विधान बताया गया है जिससे उपकारियों के प्रति उपकार भावना व्यक्त करने का मानवीय गुण सुप्त न हो जाय और वह निरन्तर हरा-भरा रहे। तर्पण का विधान गौण हैं। मुख्य तो उसके द्वारा व्यक्त और पुष्ट होने वाली कृतघ्नता की भावना है।

सार्वभौम एकता का साधन

भारतीय संस्कृति के सिद्धान्त किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय

के लिए नहीं बनाए गये हैं। वह तो मानव मात्र के विकास के लिए है। अतः उनमें सकीर्णता का अभाव है। यह सार्वभौम धर्म है। इसके मूल में एक ही सत्ता या सिद्धान्त कार्य करता है। इसलिये व्यक्ति विशेष की प्रगति कीं ओर ध्यान देना इस के नियम, नीति भावना और सिद्धांत के विरुद्ध है तर्पण ने भी इस उदार भावना की झलक मिलती है। बाह्य दृष्टि से तर्पण केवल अपने शरीर से सम्बन्धित पूर्वजों के प्रति श्रद्धा-भावना व्यक्त करना ही माना जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह भारतीय संस्कृति को मान्य नहीं है। उसने ही समस्त लोकों में निवास करने वाले प्राणियों को अपना पितर घोषित किया है और उनकी तृप्ति के प्र त्न को ही सच्चे तर्पण की सज्ञा दी है।

वेद शास्त्रों में इसके प्रमाण मिलते हैं। यजु० १६। ६१ में कहा है जो पूर्व पितर स्वर्ग में जा चुके हैं, जो मुक्ति को प्राप्त होकर परब्रह्म में मिल चुके हैं, जो पृथ्वी में स्थिति अग्नि रूप ज्योति में रम गये हैं अथवा जो पितर धर्म रूप और बल से युक्त प्रजाओं में देह धारण कर आ गये हैं, उन सभी प्रकार के पितरों को अन्न देते हैं।' अथर्ववेद (१८। ४। ८-८०) के अनुसार 'पृथ्वी में रहने वाले पितरों को और स्वर्ग लोक के निवासी पितरों को यह स्वहाकार वाली हवियाँ प्राप्त हों।'

भारतीय संस्कृति में देव, ऋषि, यज्ञ, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, पक्षी, पशु और जलचरों को भी पितर कहा गया है। इसलिए उन्हें अंजलि अर्पित करने का विधान बनाया गया है। नरक वासी जीवों की तृप्ति के लिए भी अंजलि दी जाती है। आदित्य पुराण में क्षुधा पीड़ित जीवों के लिए भी अंजलि देने का निर्देश है। विष्णु पुराण ने तर्पण के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये विधान का आदेश देते हुए कहा है कि समस्त विश्व के प्राणियों को अंजलि देनी चाहिए। यह सम्पूर्ण जगत, स्थूल या सुक्ष्म, एक ही सत्ता के द्वारा

निर्मित और संचालित है, वह स्वयं अणु-अणु में व्याप्त होकर सब व्यवस्था कर रहा है, वह आत्मरूप से समस्त प्राणियों में निवास कर रहा है, यही एक अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है, उसकी बनाई समस्त सृष्टि एक इकाई है, इसका प्रत्येक परमाणु एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक परमाणु स्वयं में भी एक पूर्ण इकाई है। जिसको यह ज्ञात हो जाता है, वह सर्वत्र अपने को ही बिखरा हुआ पाता है। अतः समस्त प्राणियों के कल्याण में वह अपना ही कल्याण समझता है। यह निखिल प्राणियों को अपना पितर मानता है और उनकी तृप्ति की योजना बनाता है। इस पवित्र व उच्च भावना से वह विश्व के समस्त प्राणियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता हैं, उन्हें अपने से अभिन्न मानता है, उन्हें ही सत्ता के बोधक स्वीकार करने लगता है। तर्पण केवल उपकारों के प्रति, कृतज्ञता प्रकट करना ही नहीं है वरन् सारे विश्व से और फिर सृष्टि के कर्ता से एकता स्थापित करने की साधना भी है जो अनेकता लाने में सहायक सिद्ध होती है।

साधारण दृष्टि से देखने पर तर्पण एक जल देने की सामान्य प्रक्रिया लगती है परन्तु जब उसमें निहित व्यापक दृष्टिकोण और भावना पर ध्यान देते है तो उसका मूल्यांकन असामान्य योजनाओं में करना पड़ता है। आवश्यकता है केवल स्थूल क्रिया को सूक्ष्म और गौण प्रक्रिया को मुख्य समझने की, यही समस्या का समाधान है।

अनेकता में शक्ति का विखण्डन और एकता में शक्ति का विकास होना एक निश्चित सिद्धान्त है। प्राणी मात्र को अपना अङ्ग समझ कर उन्हें तृप्त करने, सहयोग देने को प्रयत्न करने का अभिप्राय है मानव से महामानव बनने के महान पथ पर चलना। प्राणी मात्र के प्रति एकता स्थापित करने वाला स्वयं शक्ति का स्वरूप होता है। जहाँ शक्ति का अभाव होता है, वही अनेकता पनपती है। मानवता के

विकास के लिए एक भावना आवश्यक है। मन्त्रोपासना शक्ति विकास का साधन है। अनेकता की भावना से शक्ति का ह्रास होता है जो मन्त्र साधक के लिए अहित कर सिद्ध होती है। एक भावना को स्थिर रखने के लिए नित्य तपर्ण करना मन्त्र साधना का एक अङ्ग माना गया है जो हर प्रकार से सिद्धि के अनुकूल है।

यज्ञ

यज्ञ की महिमा

यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। हिन्दू धर्म में जितना महत्व यज्ञ को दिया गया है, उतना और किसी को नहीं दिया गया। हमारा कोई भी शुभ अशुभ धर्म कार्य इसके बिना पूरा नहीं होता। जन्म से मृत्यु तक सभी संस्कारों में यज्ञ आवश्यक है। हमारे धर्म में वेदों का जो महत्व है, वही महत्व यज्ञों को भी प्राप्त है क्योंकि वेदों का प्रधान विषय ही यज्ञ है। वेदो में यज्ञ के वर्णन पर जितने मन्त्र हैं, उतने अन्य किसी विषय पर नहीं। यदि यह कहा जाये कि यज्ञ वैदिक धर्म का प्राण है तो इसमें भी अत्युक्ति नहीं। वैदिक धर्म यज्ञ प्रधान धर्म है। यज्ञ को निकाल दें तो वैदिक धर्म निष्प्राण हो जायेगा। यज्ञ से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई।

भगवान स्वयं यज्ञ रूप हैं और तदुत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टि भी यज्ञ रूप हैं और तो यज्ञ के अतिरिक्त ससार में कुछ है ही नहीं। चारों वेद भी इस यज्ञ रूप भगवान से उत्पन्न हुए है, अतः यह भी यज्ञ रूप हैं और उनमें जो कुछ भी है, वह भी यज्ञ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में प्रश्न पूछा है कि 'मैं तुमसे पूछता हूँ कि सम्पूर्ण जगत के बाँधने वाली वस्तु कौन है?' इसका उत्तर दिया है कि 'यज्ञ ही इस विश्व ब्रह्माण्ड को बाँधने वाला है।'

हमारे पूर्वज भली प्रकार जानते थे कि—

स्वास्थ्य सुख सम्पत्ति दाता, दुःख हारी यज्ञ है।
भूलोक से ले 'सूर्य' तक, शुभ परम पावन यज्ञ है॥
सर्व भूतों के सभी विध दुःख नसावन यज्ञ है।

इसलिए प्राचीन काल में घर-घर में यज्ञ होते थे और इस पुण्य भूमि में इतने यज्ञ होते रहे कि हमारा देश ही यज्ञिय देश कहलाया गया। पहले बड़े-बड़े राजा महाराजा भी यज्ञ के रहस्य को भली प्रकार समझते थे और बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन किया करते थे। महाराजा रघु ने दिग्विजय के उपरान्त विश्वजित नामक यज्ञ में समस्त खज़ाना खाली कर दिया था। उनके पास धातु का एक पात्र तक नहीं बचा था। पाण्डवों ने भगवान कृष्ण की अनुमति से महाभारत के बाद राजसूय यज्ञ कराया था। भगवान राम ने अश्मेधादि बहुत बड़े-बड़े यज्ञ कराये थे। दैत्यराज बलि ने इतना बड़ा यज्ञ कराया था कि यज्ञ की शक्ति से सम्पन्न होकर उसने इन्द्र को स्वर्गलोक से निकाल दिया था। जिस पर अदिति की तपस्या करने पर, इन्द्र को इन्द्रासन वापिस दिलाने के लिये विवश होकर भगवान को स्वयं वामन रूप में उपस्थित होना पड़ा। इन्द्र ने यज्ञों के बल पर ही इन्द्रासन प्राप्त किया था।

रावण यज्ञ की शक्ति से ही सब देवताओं को कैद करने में समर्थ हुआ था अर्थात् उसे सूक्ष्म शक्तियाँ प्राप्त हुई। महाभारत के शान्ति पर्व में अश्वजित के पुत्र का अश्वमेध दुश्यन्त के पुत्र भरत के एक सहस्र अश्वमेध, भागीरथ के अनेक अश्वमेध, दिलीप के एक सौ अश्वमेध इत्यादि का वर्णन मिलता है, केकयी पुत्र महाराजा अश्वपति ने ऋषियों को सम्बोधित करते हुए कहा 'हे महाश्रोत्रियो! मेरे राज्य में कोई चोर, कृपण, शराबी विद्यमान नहीं है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो प्रतिदिन यज्ञ न करता हो। मेरे राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति व्याभिचारी नहीं है।'

तीर्थों की स्थापना का आधार यज्ञ ही थे। जहाँ प्रचुर मात्रा में बड़े-बड़े यज्ञ होते थे उसी स्थान को तीर्थ मान लिया जाता था। प्रयाग काशी, रामेश्वरम्, कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य आदि सभी क्षेत्रों में तीर्थों का उद्भव यज्ञों से हुआ है।

हमारे वेद शास्त्रों का पन्ना यज्ञ की महिमा से भरा पड़ा है । देखिये ऋग्वेद में 'विश्व शान्ति का सर्वश्रेष्ठ आधार यज्ञ ही है, (१०।६६।२) ....यज्ञ को आगे करके कार्य आरम्भ करो, यज्ञ के साथ आरम्भ किए हुए कार्य सफल होते है (१०।१०१।२)...... यज्ञ से परमात्मा प्रसन्न होते है (१।१४।४)........मुक्ति के अधिकारी यज्ञिय देव हैं, सचमुच यज्ञ के विना मुक्ति नहीं मिल सकती (४।४५।२)....... यह यज्ञ देव (परमात्मा) तक ले जाने वाला है, यह पवित्र है और पवित्र करने वाला है ।' यजुर्वेद में यज्ञ की महत्ता पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है 'यज्ञ तप का स्वरूप है, (४।२।२६)....यज्ञ में दी हुई आहुतियाँ कल्याण कारक होती हैं, जिन्हें कल्याण की इच्छा हो वह यज्ञ में आहुतियाँ दें (१५।३८) ....जो असुर प्राण इस पृथ्वी पर असुर रूप से विचरण करते रहते हैं, वह यज्ञ की अग्नि द्वारा शरीर में से निकाल बाहिर किये जाते हैं (२।३०)..... .. जो यज्ञ को छोड़ता है, उसे यज्ञ रूप परमात्मा भी छोड़ देता है (२।२३)........यज्ञ ही मुख्य धर्म है (३१।६)........मन, वाणी, शुद्धि की उन्नति तब होगी जब यज्ञ एवं यज्ञपति की उपासना की जाये । (३०।१)........यज्ञ से सब दिशायें अनुकूल बन जाती हैं (१३ ५)... .... यह अग्नि सहस्त्रों संख्या वाले बल का स्वामी है । धनों का मुख्य दाता और क्रान्ति दर्शक है (१५।२१)..........अग्नि विश्व का प्रेरक हैं (१५। ३३) ।' अथर्ववेद का कथन है 'यज्ञ करने वाले को स्वर्ग सुख प्राप्त होता है, जिन्हें स्वर्गीय सुख प्राप्त करना अभीष्ट हो, वे यज्ञ किया करें । (१८ । ४ । २)........ ।

यज्ञ न करने वाले का तेज नष्ट हो जाता है अथवा अपनी तेजस्विता स्थिर रखने के लिये यज्ञ किया कीजिये........जो इस अग्नि के चारों ओर बैठ कर दिव्य उद्देश्य से हवि चढ़ाते है, उनके हृदय में परमात्मा का तेज प्रकाशित होता है (६ । ७५)' ब्राह्मण ग्रन्थों में देखिये 'यज्ञ का पुण्य फल कभी नष्ट नहीं होता, बुद्धिमानी पूर्वक यज्ञ का अक्षय पुण्य सचित्र करते रहो। (तै० ब्र० '१४।६)' यज्ञ श्रेष्ठतम्

कर्म है । " यह अग्नि होम निश्चय ही स्वर्ग सुख प्राप्त कराने वाली विशेष नौका है ।""यज्ञ ही विष्णु है, यज्ञ ही प्रजापति है, यज्ञ ही सूर्य है । (शतपथ) गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है 'मैं ही यज्ञ हूं' और कई स्थली पर उपदेश देते हुए बताया 'यज्ञ न करने वाले को यह लोक और परलोक कुछ भी प्राप्त नहीं होता ""यज्ञ के निमित्त किये गये कर्मों के सिवाय दूसरे कर्मों के करने से यह मनुष्य कर्म बन्धन में बंधता है ""यज्ञ से बचे हुए आन को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं ।"""हवन क्रिया ब्रह्म है, हवि ब्रह्म हैं, ब्रह्म रूप अग्नि में हवन किया जाता हैं और ब्रह्म ही हवन कर्त्ता है । इस प्रकार जिस की बुद्धि में सभी कर्म ब्रह्म हो जाते हैं, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है"""यज्ञ करने योग्य कर्म है ।'

मनुजी ने लिखा हैं 'महायज्ञ और यज्ञ करने से ही यह शरीर ब्राह्मी या ब्राह्मण बनता है ।' पुराणों में इस प्रकार उल्लेख है ।' अग्नि होम (यज्ञ) से बढ़कर और कोई धर्म नहीं, यज्ञ करने वाला ही सच्चा धर्मात्मा है । (कूर्म पुराण) यज्ञ ही कल्याण का हेतु है । (विष्णु पुराण) यज्ञों में सारा संसार प्रतिष्ठित है । पृथ्वी यज्ञ से धारण की हुई है । यज्ञ ही प्रजा को तारना है (कालिका पुराण) । अग्नि होम से बढ़कर कोई पवित्र कर्म नहीं है । इनसे अन्तःकरण पवित्र होता है (पद्म पुराण) यज्ञ से देवता तथा पितर जीते हैं (विष्णु धर्मोत्तर पुराण) ।'

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं—'इस अग्नि का शास्त्रोक्त रीति से तीन बार अनुष्ठान करने वाला पुरुष ऋग, यजु० साम-तीनों वेदों के साथ सम्बन्ध जोड़कर यज्ञ, दान, तप--रूप तीनों कर्मों को करता रहने वाला मनुष्य जन्म मृत्यु से तर जाता है । अग्नि स्वर्ग के प्राप्त करने का अनन्त जीवन का और सम्पूर्ण संसार के स्थिर होन का कारण है ।' (क्योंकि सूर्य की आकर्षण शक्ति से जगत स्थिर है ।' प्रश्नोपनिषद् में यज्ञ को देवताओं, पितरों और ऋषियों का जीवन

प्राण बताया गया है। मुण्डकोपनिषद् का कथन है' अग्नि होत्री को यह आहुतियाँ सूर्य की किरणें बनकर उस स्वर्ग लोक में पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओं का एकमात्र पति निवास करता है।' (द्वितीय खण्ड श्लोक ५)। छान्दोग्योपनिषद् में उपकोशल नामक एक ब्रह्मचारी को, जो सत्यकाम जाबाल के यहाँ ब्रह्म विद्या सीखने गया था अग्नियों द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश मिलने का वर्णन मिलता है, क्योंकि उसने बारह वर्षों तक अग्नियों की सेवा की थी।

रामायण में भी यज्ञ की महता पर प्रकाश डाला गया है। भगवान राम का जन्म यज्ञ द्वारा हुआ अथवा वह अपने अवतार का श्रेय यज्ञ को ही देते है। सीताजी का विवाह एक विशाल यज्ञ द्वारा सम्पन्न हुआ। महर्षि विश्वामित्र जी ने एक महायज्ञ किया था, जिसमें राक्षसों ने रक्षार्थ राम और लक्ष्मण को माँग कर ले गये थे, चूंकि यज्ञ में दैवीतत्व बलवान होते हैं और असुरता का नाश होता है, इसलिए रावण ने राक्षसों को आदेश दिया था कि 'जहाँ जहाँ भी यज्ञ होते दिखाई दें उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करो।' रावण को जब अपनी हार दीखती है तो वह यज्ञ का ही सहारा लेता है और अपने पुत्र मेघनाथ को एक बड़ा ताँत्रिक यज्ञ करके अजय शक्ति को प्राप्त करने का आदेश देता है। यदि मेघनाथ इस यज्ञ को पूर्ण कर लेता तो वह अजय हो जाता परन्तु विभीषण और लक्ष्मण जी ने इस यज्ञ को निष्फल कर दिया था।

भगवान राम ने वनवास से वापिस लौटने पर प्रजा के लिये, समस्त संसार के लिए, समस्त प्राणी-मात्र के लिये बड़े से बड़े यज्ञों के आयोजन किये थे। यज्ञ को महत्वपूर्ण धर्मकार्य समझकर उन्होंने प्रतिवर्ष अश्वमेघ, दश सहस्र वर्ष तक किये और सहस्र वर्ष के पीछे वाजपेय यज्ञ किया। रावण ने यज्ञ में अपना सिर काटकर आहुति दी थी, यह यज्ञ का निश्चित फलदायकता का प्रमाण हैं।

भागवत में भी यज्ञ की महिमा अकथनीय है। ऋषि राजा वेग को समझाते है' हे राजन्! सर्व लोक और देवता यज्ञ में निवास करते

है, उन वेदमयीमय, दिव्य मय एवं तपोमय ईश्वर को विप्रगण आपके कल्याण तथा प्रजा की समृद्धि के लिए नाना विधि विधानों से, चित्र, विचित्र यज्ञों द्वारा यजन करते हैं।' राजा पृथु ने एक सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस के फलस्वरूप उनके राज्य में किसी तरह का अभाव न था। क्षीर, दधि, गोचक्षरक तथा अन्य रसों की उनके राज्य में सरितायें बह चली। विशालकाय अरुवरों में मधु श्रावि असंख्य फल देते ही रहते। सिन्धुओं ने अपार धन राशि प्रदान की। राजा पृथु के सौ अश्वमेध समाप्त होने पर इन्द्र को इन्द्रासन छिन जाने की आशका हुई और उसने दो बार घोड़ा चुराया। पहली बार उसका पुत्र घोड़ा छुड़ा ले गया परन्तु दूसरी बार पृथु को क्रोध आगया। जिस पर उसने धनुष पर भयङ्कर बाण चढ़ा कर इन्द्र को नाश करने की ठानी। ऋषियों ने पृथु को रोक कर कहा कि 'इससे तो इन्द्र सहित सारे देवलोक का ही नाश हो जायेगा ; अतः हम उस अनर्थकारी, ईर्षालु और अभिमानी इन्द्र को यज्ञ के सारपूर्ण मन्त्रों द्वारा आवाहित करके इस यज्ञ अग्नि में होम कर देंगे।' राजा पृथु के यज्ञों से इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई थी कि उसके एक बाण से ही सारा देवलोक नाश हो सकता था। ऋषियों को वेद मन्त्रों तथा यज्ञ की शक्ति पर इतना दृढ़ विश्वास था कि उनके लिए इन्द्र का आवाहन करना कुछ असम्भव नहीं था और वस्तुतः हुआ भी ऐसा था।

भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत, जिसके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ, ने यज्ञों द्वारा ही इस देश की तपो-भूमि को विश्व-ब्रह्माण्ड का सर्वश्रेष्ठ भाग बना दिया था। उन्होंने सौ-सौ बार अश्व मेध यज्ञ किये थे। वह सदा ही ऐसे यज्ञों का अनुष्ठान करते रहते थे। इसलिए उस समय किसी पुरुष की दूसरे पुरुष से अपने लिए स्वप्न में भी कुछ भी प्रार्थना करने की इच्छा नहीं होती थी और कोई दुसरे की वस्तु पर लोभ दृष्टि नहीं करता था। सभी में सदा स्नेह और शील का उद्रेक होता था। राजर्षि और प्रसिद्ध भक्त अम्बरीष अनेक अश्वमेधादि

महायज्ञों द्वारा यज्ञपति भगवान की आराधना किया करते थे। यज्ञा-राधन में तल्लीन रहने के कारण उसके पलक भी नहीं गिरते थे। यज्ञ द्वारा उत्पादित पवित्रता के प्रवाह से अम्बरीष की प्रजा में भी स्वर्ग सुख भोग की वासना नहीं रह गई थी। सभी केवल निष्काम भाव से यज्ञ द्वारा यज्ञेश्वर भगवान की अर्चना, पूजा, भक्ति और गान एवं ध्यान में प्रवृत्त रहते थे।

राजा बलि ने विश्वविजय यज्ञ किया था। उस अग्नि में से स्वर्ण के पट में बन्धा हुआ एक रथ, इन्द्र के घोड़ों के समान हरित वर्णों के घोड़े, स्वर्ण के बन्दों से वंधा हुआ दिव्य धनुष, अक्षय बाणों से पूर्ण दो तूण और दिव्य कवच ये वस्तुयें निकलीं। यज्ञ से शक्ति प्राप्त करके उस रथ पर बैठकर दिव्य अस्त्र शस्त्रादि एवं सैन्य लेकर बलि ने इन्द्रलोक पर आक्रमण कर दिया। सभी देवगण घबड़ा उठे और वृहस्पति के पास गये। उन्होंने कहा 'बिना लड़ाई किये हट जाने में ही भलाई है क्योंकि बलि देवों से अधिक शक्तिशाली है।' यज्ञ से उत्पन्न हुई शक्ति का इससे अधिक और क्या प्रमाण मिल सकता है।

परीक्षित के सर्प से काटे जाने पर क्रोधिक होकर राजा जन्मेजय ने सर्प यज्ञ किया था, जिसमें विश्व के कोने-कोने से सर्प आ आकर यज्ञाग्नि में भस्म हो रहे थे। यज्ञ में महान शक्ति का यह कितना ज्व-लन्त प्रमाण है। एक बार शौनिक आदि ८८००० ऋषियों ने स्वर्ग प्राप्ति के हेतु नैमिषारण्य के पवित्र क्षेत्र में दस हजार वर्ष तक लगातार एक दीर्घ महायज्ञ करने का सकल्प किया। इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था जिसके कारण उसे ब्रह्म हत्या लगी। उसी के निवारणार्थ इन्द्र ने अश्वमेघ यज्ञ किया था युधिष्ठिर सध्या आदि के पश्चात नित्य अग्नि होम करते थे।

भगवान कृष्ण की दिनचर्या का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि वह प्रति-दिन विधिपूर्वक संध्या उपासना, गायत्री जाप आदि कर्म करने के उपरान्त अग्निहोत्र करते थे। भगवान कृष्ण भक्तराज उद्धव

को वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि गृहस्थ आश्रम में यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना यह धर्म तो सभी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए विहित है।' और आगे चलकर क्रियायोग का वर्णन करते हुए अग्निहोत्र को नित्यप्रति करने का आवश्यक धर्म कृत्य बतलाते हैं। सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में आये हुए वसुदेव जी ऋषियों से यह पूछते हैं कि 'जिन कर्मों का विधिवत आचरण करने से मोक्षय मार्ग के प्रतिबन्धन कर्मों का परिहार किया जा सकता है, वह आप हमें सुनाइये।' उन मुनीश्वरों ने वसुदेव जी को इस प्रकार उत्तर दिया 'कर्म द्वारा कर्म-निराश करने का उपाय सबसे अच्छा यही बताया गया है कि यज्ञ आदि द्वारा सर्वयज्ञपति भगवान का पूजन करे। विद्वानों ने शास्त्र दृष्टि से यही चित्त की शान्ति का उपाय, सुगम मोक्ष्य साधन और चित्र को प्रसन्न करने वाला धर्म बतलाया है। अपने न्यायार्जित धन से श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तम भगवान का यजन करना—यही सद् गृहस्थ के लिए कल्याणकारी मार्ग है।

राजा परीक्षित ने कलयुग को सम्बोन्धित करते हुये कहा 'हे अधर्म के मित्र ! धर्म और सत्य के रहने योग्य स्थान इस ब्रह्मदत्त देश में तू न रहना, क्योंकि यहाँ यज्ञ विधि के जानने वाले महात्मागण यज्ञों द्वारा भगवान यज्ञ पुरुष की आराधना किया करते हैं। इस देश में यज्ञ मूर्ति भगवान श्रीहरि यज्ञों द्वारा पूजित होकर याजकों का कल्याण करते हैं। याजकों की महत्ता प्रकट करते हुए महामुनि शमीक अपने पुत्र को, जिसने परीक्षित को शमीक के गले में सर्प डालने के अपराध में शाप दिया था, कहा था कि "परीक्षित अश्वमेधों द्वारा यजन करने वाले परम भागवत भक्त हैं।

नारद पुराण में वर्णन है कि 'महाराजा बाहू ने सातोंद्वीपों में सात अश्वमेध यज्ञ किए थे। उन्होंने चोर डाकुओं को यथेष्ट दण्ड देकर शासन में रक्खा और दूसरों का सन्ताप दूर करके अपने को कृतार्थ माना। उसके राज्य काल में यज्ञों की महिमा से पृथ्वी पर बिना जोते-बोये

अन्न पैदा होता था और वह फल-फूलों से भरी रहती थी। देवराज इन्द्र उनके राज्य की भूमि पर समयानुसार वर्षा करते थे और पापाचारियों का अन्त हो जाने के कारण वहाँ की प्रजा धर्म से सुरक्षित थी।' भविष्य पुराण में च्यवन ऋषि का अश्विनीकुमारों का यज्ञ करके देवलोक में सुरदुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। स्कन्दपुराण में उल्लेख है कि 'इन्द्रद्युम्न ने सहस्र यज्ञ किये और वह इन यज्ञों के साथ-साथ परम पुनीत दिव्यता को प्राप्त करता गया।"

महाभारत में जाजलि और तुलाधार के संवाद में तुलाधार जाजलि से कहता है। 'हे महामुने ! जो बुद्धिमान विप्र श्रेष्ठ सदा यज्ञ करते हैं, वे यज्ञ करने से ही देवलोक को प्राप्त होते हैं।' भीष्म पितामह यज्ञ को आवश्यक कर्तव्य बतलाते हैं और चेतावनी देते हैं कि 'जो यज्ञ नहीं करते, वे उस लोक अर्थात् परलोक को नहीं प्राप्त करते।' 'कोई भी व्यक्ति चाहे वह चोर हो, पापी हो, पाप करने वालों में भी सबसे नीच हो यदि वह यज्ञ करना चाहता है तो वह सज्जन ही है यज्ञों से सन्तुष्ट हुए देवता संसार का कल्याण करते हैं। यज्ञ द्वारा लोक परलोक का सुख प्राप्त होता है। यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यज्ञ के समान कोई दान नहीं, यज्ञ के समान कोई विधि-विधान नहीं। यज्ञ में ही सब धर्मों का उद्देश्य समाया हुआ है। असुर और सुर सभी पुण्य के मूल के हेतु यज्ञ के लिए प्रयत्न करते हैं। सत्पुरुषों को सदा यज्ञ परायण होना चाहिए। यज्ञों में ही बहुत से सत्पुरुष देवता बने हैं, पापियों की शुद्धि यज्ञादि से हो जाती है।' (महाभारत)

यज्ञ के लाभ

यज्ञ से आत्मसाक्षात्कार, स्वर्ग सुख, बन्धन मुक्ति, मनः शुद्धि, पाप प्रायश्चित होता है और ऋद्धि सिद्धियां मिलती हैं, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक एवं भौतिक शुभ परिणाम प्राप्त होते हैं। अनेकों मानसिक दुर्बलताएं दूर हो सकती हैं। यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता मनुष्य को धन,

सौभाग्य, वैभव तथा सुख साधन प्रदान करते हैं। यज्ञ करने वाला कभी दरिद्री नहीं रह सकता। यज्ञ करने वालों की सन्तान बलवान, बुद्धिमान, सुन्दर और दीर्घजीवी होती है। यज्ञ को सर्वकामना पूर्ण करने वाली कामधेनु और स्वर्ग की सीढ़ी कहा गया है। यज्ञ से अमृतमयी वर्षा होती है, जिससे अन्न, वनस्पति, दूध, खनिज पदार्थों की प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति होती है, जिससे प्राणियों का पालन होता है। यज्ञ से सद्भावना पूर्ण वातावरण की उत्पत्ति होने से आकाश में फैले हुए चिन्ता, कलह, क्लेश, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, अन्याय, लोभ व अत्याचार के भाव नष्ट होते हैं। यज्ञ से वायु शुद्ध होती है। यज्ञ से शत्रु मित्र बन जाते हैं, पापों का नाश होता है, आत्मा का मैल दूर होता है और लोक से सब दुष्कर्म नष्ट होते हैं। यज्ञकर्ता भय रहित हो जाते हैं। यज्ञ से मल विक्षेप व कुसंस्कारों का निर्वाण होता है, मन, वाणी एवं बुद्धि की उन्नति होती है, पवित्र आचरण करने की शक्ति प्राप्त होती है और शान्तिमय वातावरण की उत्पत्ति होती है। यज्ञ करने वाले को माया नहीं सता सकती, उसकी आयु बढ़ती है।

जिस-जिस कामना से जो यज्ञ करता है, उसकी वह सभी कामनाऐं पूर्ण हो जाती हैं। निष्काम भाव से करने वाले को निश्चय ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है। पुत्रार्थी को पुत्र लाभ होता है। शरीर, मन तथा आत्मा पवित्र होते हैं। दुःखों से छुटकारा मिलता है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवता बन सकते हैं, अपनी आसुरी प्रवृत्तियों का शमन कर सकते हैं। यज्ञ से बुद्धि शुद्ध और तीव्र होती है, इन्द्रिय शक्तियाँ बढ़ती हैं। यज्ञ कर्ता कष्टों, कठिनाइयों से छूटकर सुख शान्ति को प्राप्त करता है। यज्ञ प्रसन्नता का स्रोत है, इससे मानसिक शक्तियों का विकास होता है। यज्ञ मनुष्य के अन्दर त्याग, समर्पण, परोपकार, आन्तरिक शत्रुओं का दमन, सङ्गठन आदि भावनाओं का सचार करता है। यज्ञ से राजयक्ष्मा (टी० बी०) जैसे रोग दूर हो सकते हैं।

'यज्ञ से ज्ञान बुद्धि और बल की वृद्धि होती है। (१।१३।२)।

यज्ञ सुखों की वर्षा करने वाला है। (१।१६१।१)...यज्ञ से सब तरह का कल्याण होता है। (५।४।७) जो यज्ञ करता है, वह धन ऐश्वर्य से, तेज से तथा यश और कीर्ति से मनुष्यों में चमकता है और अन्त में आत्म-ज्ञानी होकर अमर हो जाते हैं। (६।८।५५)... हे वेद पाठ के देवता ! उठो, देवताओं को यज्ञ का सन्देश सुनाओ। आयु, प्राण, प्रजा, पशु और कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञ कर्त्ता को हर प्रकार से बढ़ाओ। (१०। १६४।२)" (ऋग्वेद)

"यज्ञ से अशुद्ध तत्वों का नाश होता है (१। ३) ...यज्ञ से आरोग्यता प्राप्व होती है (१।१४, ४।१५)....यज्ञ से दिव्य वातावरण की उत्पत्ति होती है (१।१५)... यज्ञ से आन्तरिक शत्रुओं का नाश होता है (१।१७)....यज्ञ नेत्र रक्षक है (२।१६)....यज्ञ से असुरों का नाश होता हैं (२।३०)... यज्ञ सुखों का संचय करने वाला में ३।४८,४।६)....यज्ञ निश्चय से कल्याणकारी है, वह दीर्घ आयु उत्तम अन्न। ऐश्वर्य समृद्धि, सुसंतति बल पराक्रम प्रदान करता है (३।६३)...यज्ञ वीरता दायक और कायरता विनाशक है (४।३७) ...यज्ञ ऋषियों के हृदय को पवित्र करने वाला है। (३।४)....यज्ञ बन्धन का साधन है (५।३०)... यज्ञ देवताओं, मनुष्यों, पितृजनों और अपने प्रति किये गये, जाने या अनजाने किये गए पापों से बचाने वाला है (८।१३)...यज्ञ करने वाले के लिए वायु और नदियाँ मधुर रस बहाती है (१३।२७)...यज्ञ से आत्मबल की वृद्धि होती है (१७।६५)...मन, आत्मा, वाणी, प्राण, ज्ञान ज्योति, श्रीवेद, आयु, नेत्र, यज्ञ से सम्पन्न होते हैं। (१८।२९)...यज्ञ यज्ञ से ब्रह्म वर्चस की प्राप्ति होती है (१९।१९)...यज्ञ से सद्‌बुद्धि की प्राप्ती होती है (२०।८५)....यज्ञ से तीनों छन्दों (तीनों लोकों) जगती, त्रिष्टुप और गायत्री है कल्याण होता है। (२।२५,५।१३,३८।१७)" (यजुर्वेद)

यजुर्वेद के अठाहरवें अध्याय में यज्ञ से अनन्त लाभों का प्रार्थना के रूप में इस प्रकार वर्णन वर्णन। "मेरा अन्न, ऐश्वर्य प्रयत्न, ध्यान,

प्रज्ञा, स्वर, प्रशंसा, कीर्ति, ज्ञान, सुख, प्राण, चित्त, विचार, वाणी, मन, चक्षु, चातुर्य, बल, ओज, साहस, स्वामित्व, मानसकोर, क्रोध, उद्वेग, सौम्यभाव, उदारभाव, दीर्घजीवन, लोक, धन धान्य वृद्धि, समृद्धि, सत्य, श्रद्धा, तेज, व्यवहार, हर्ष, सुन्दर वचन, श्रेष्ठ कर्म, ज्ञान, अमर स्वरूप, आरोग्य, स्वास्थ्य, शत्रु रहित्य, निर्भयता, संयम-शक्ति, धारण-शक्ति, धैर्य प्रेरणा, कल्याण, कप्तान, प्रसन्नता, भूत और भविष्य सुमार्ग और सुपथ्य, समर्थ और शक्ति, उद्देश्य यज्ञ से सुसमम्पन्न हो ।"

"यदि रोगी अपनी जीवनी शक्ति को खो भी चुका हो, निराशा-जनक स्थिति को पहुँच गयी हो, मरण काल भी समीप आ पहुंचा हो तो भी यज्ञ उसे मृत्यु के चंगुल से बचा लेता है और १०० वर्ष जीवित रहने के लिए पुनः बलवान कर देता है। (अथर्व, ३।११।२)"

"गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म और मौञ्जी बन्धन संस्कार करने के समय हवन करने से वीर्य और गर्भ की त्रुटियों और दोनों की परि-शुद्धि हो जाती है। (मनु)" "यज्ञ से जनता का कल्याण होता है और उनके बल तथा बुद्धि की शक्ति बढ़ती है" (ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१।४)" "यज्ञ करने से अपने कर्तव्य का पालन करते हुए प्राणी-मात्र का जो अप्रत्याशित उपकार होता है, उससे स्वर्ग (सुख विशेष) की प्राप्ति होती है (मीमांसा)" "आरोग्य प्राप्त करने की इच्छा करने वालों को विधि-वत् हवन् करना चाहिए। (चरक ऋति)"। 'यज्ञ करने वाले को गृह पीड़ा, बन्धुनाश, द्यन, क्षय, पाप, रोग बन्धन आदि की पीड़ा नहीं सहनी पड़ती। (कोटि होम पद्धति)'।

ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म दिव्य शक्तियों में गड़बड़ी होने पर ही भूकम्प, दूर्भिक्ष, तूफान, अनिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, महामारी आदि सामूहिक विद्वेश, विक्षोभ, युद्ध, भय, शोक सामने आते रहते हैं। यदि इन देव शक्तियों की तुष्टि पुष्टि होती जाया करे, इनका सन्तुलन बराबर रहे तो कोई कारण नहीं कि इन शक्तियों ताण्डव को सहन कर हम दुःखी

हों। ऋग्वेद (१।१६४।३६) की घोषणा है कि 'यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि है—बांधने वाला है।" अथर्व वेद (६।१०।१४) भी इसका समर्थन करता है। देखिये "यज्ञ ही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का केन्द्र मूल है।" क्योंकि यज्ञ से देव शक्तियों को बल मिलता है, जिससे वह सञ्चालन कार्य बड़ी तत्परता से करती रहती है, उसमें कोई गड़बड़ी होने का भय नहीं रहता। इतिहास बताता है कि जब बड़े यज्ञ हुआ करते थे तो दुर्भिक्ष, भूकम्प, अति वृष्टि आदि के दर्शन बड़े दुर्लभ होते थे, देखिये "जब गन्धर्वों ने उपदेश दिया राजा पुरुरवा अपने नगर में आकर अग्नि उपासना में तत्पर हुए। धर्म के द्वारा प्रजा का पालन करते हुए वृहद् यज्ञों द्वारा यजन किया। सैकड़ों अश्वमेध हजारों वाजपेज, अतिरात्रि, यज्ञों द्वारा बार-बार यजन करके सप्तद्वीप समुद्रों वाली पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा हुआ, अमानुशिक बल से उसने सम्पूर्ण महीतल को जीता। दुर्भिक्ष, अकाल मरण, व्याधि यह राजा पुरुरवा के राज्य में कहीं भी को नहीं हुआ। उनके राज्य में सभी अपने धर्म में तत्पर रहते थे, सभी मनुष्य सुखी रहते थे। (वि० ध० पु० अ० १३७)।

यज्ञों के न होने से देवताओं का कोप होता है, उससे देश में अकाल, युद्ध, महायुद्ध, उनके कारण महाघाती-पिशाची का प्रकाण्ड ताण्डव हुआ करता है। तेवताओं के कोप से अतिवृष्टि व अनावृष्टि, अतिशीत, अति ग्रीष्म अति वायु हुआ करते हैं, जिनसे अकाल की कराल ज्वालायें फैलती हैं। देवताओं के कोप द्वारा बुद्धियाँ नाश होती हैं, जिससे छल, कपट, स्वार्थ, पाप, अत्याचार, ईर्ष्या, द्वेष लोभ आदि दुःख, शोक और चिन्ता मूलक भावों की वृद्धि होती है। बुद्धि के नाश होने से सर्वनाश हो जाता है, विवेक शक्ति क्षीण हो जाती है, कोई अच्छा कार्य नहीं बन पाता, बुरे कामों की ओर झुकाव अधिक होता है, जिसका परिणाम सर्वदा दुःखदाई हुआ करता है। कूर्म पुराण में कहा है "नास्तिकता से अथवा आलस्य से जो अग्नि को धारण नहीं

करना चाहता अथवा यज्ञ के जो परमात्मा का भजन नहीं करता वह अनेकों नरकों को प्राप्त करता है।" शङ्ख ऋषि ने भी ऐसे ही भाव प्रकट किए हैं, वे कहते हैं" यज्ञ न करने वाला मनुष्य लौकिक और पारलौकिक सुखों से वंचित हो जाता है। यज्ञ न करने वाले की आत्मा पवित्र नहीं होती और वह पेड़ से छूटे हुए पत्ते की तरह नष्ट हो जाता है।"

भागवत में वर्णित है कि राजा वेन ने अपने राज्य में घोषित करवा दिया था कि "मेरे राज्य में कोई यज्ञ न करे। राजा में सर्व देवों का वास होता है। अतः केवल मेरा भजन व पूजन करो!" ऋषियों के समझाने पर भी वह न माना और यज्ञ बन्द करने के अपने दुराग्रह पर अढ़ा रहा तो ऋषियों ने शाप देकर राजा बेन को मार डाला। कंस ने यज्ञों का विरोध किया था उसका परिणाम क्या हुआ, वह सबके सामने है।

सारांश यह है कि यज्ञ से सूक्ष्म दिव्य शक्तियाँ (देवता) बलवान होती हैं, उनकी तुष्टि पुष्टि होती है, जिनसे प्राणी मात्र को विशेष लाभ होते हैं। यदि यज्ञ विद्या का लोप होता जाये तो सृष्टि में जो सूक्ष्म आध्यात्मिक धाराओं का प्रवाह चल रहा है, वह धीरे-धीरे मध्यम से मध्यमतर होता चला जाये, तो लोगों में पाशविक वृत्तियों का अधिपत्य होने लगेगा। आकार में मनुष्य होते हुए भी वह पशुवत् कार्य करेंगे। आज यज्ञ के अभाव में ऐसा ही हो रहा है। एटमबम और हाइड्रोजन बमों से पृथ्वी को नष्ट करने की तैयारियाँ हो रही हैं। सूक्ष्म जगत् में आसुरी शक्तियों की तीव्र गति से वृद्धि ही इसका मूल कारण है। इन आसुरी शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए देवशक्तियों को बलवान बनाने की आवश्यकता है। देवशक्तियों को बल देने का साधन है यज्ञ। यदि शान्तिमय वातावरण की उत्पत्ति करना चाहते हैं तो हमें बड़े-बड़े यज्ञ करने चाहिए।

यज्ञ का वैज्ञानिक सिद्धान्त

आज का युग विज्ञान और बुद्धिवाद का युग है, हर एक बात को विज्ञान और बुद्धि की कसौटी से तोला जाता है, क्यों और कैसे का उत्तर पूछा जाता है। आज का बुद्धिशील मानव केवल विश्वास और श्रद्धा के आधार पर किसी कार्य को करने के लिए तैयार नहीं है। वह बुद्धि और विज्ञान पर परखने के पश्चात् ही उस पर आस्था रखना अधिक पसन्द करता है। यज्ञ के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रायः यह सुना जाता है कि यज्ञों में सहस्रों रुपयों का घी और सामग्री होमी जाती है, जिसका कोई लाभ नहीं होता। लोगों को घी खाने को नहीं मिलता, यह बेकार में इसे नष्ट कर देते हैं। जितना यज्ञों में व्यय होता है, इन धन से अनेकों की आवश्यकता पूर्ति हो सकती है, भिखारियों को भोजन आदि खिलाकर पुण्य कमाया जा सकता है। ऐसी धारणाओं का हमारे मनक्षेत्र में प्रवेश करना स्वाभाविक ही है, क्योंकि हम यज्ञ के विज्ञान से बिल्कुल परिचित नहीं है।

यज्ञ कोई अन्धविश्वास पर आधारित परम्परा नहीं चली आ रही है, यज्ञ करना बुद्धि व विज्ञान रहित नहीं है, बल्कि इसका श्रीगणेश बहुत लम्बे समय की वैज्ञानिक खोज के पश्चात ही किया गया था। हमारे प्राचीन ऋषि व महात्मा भौतिकवादि नहीं थे, वे अध्यात्म व सूक्ष्मवादी थे। वे इस तथ्य को भली भाँति जानते थे कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का महत्व अधिक होता है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म पर ही आधारित होता है। सूक्ष्म का गुण गतिशीलता है, स्थूल गति रहित है। स्थूल की गति सूक्ष्म के बिना होना असम्भव है।

शरीर और प्राण उदाहरण उदाहरण ले लीजिये, यदि प्राण है तो खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, लिखना आदि सब क्रियायें होती रहती हैं। प्राण के शरीर से निकल जाने के पश्चात् शरीर अपने आप एक क्षण के लिए भी कोई कार्य नहीं कर नकता। प्राण के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं है। प्राणों के सचार के बिना शरीर में गति

होना असम्भव है। प्राणशक्ति की निर्बलता से ही रोग उत्पन्न होते हैं। प्राणशक्ति के निर्बल होने से ही शरीर क्षीण होने लगता है प्राण में शक्ति आने से शरीर में शक्ति आती है ऐसा होना असम्भव है कि शरीर में शक्ति आने से प्राण में शक्ति आती हो। इसलिए कहा जाता है कि प्राणायाम (वह क्रिया जिससे प्राणों का व्यायाम होता है और जिससे प्राण बलवान होते हैं।) से आयु बढ़ती है और ऋषि मुनि इसके द्वारा अपनी इच्छानुसार आयु बढ़ा लेते थे।

सूक्ष्म में महान शक्ति है। सिंह और हाथी में शारीरिक शक्ति अधिक होती हैं, पर मनुष्य अपनी सूक्ष्म बुद्धि-शक्ति के सहारे उन्हें अपना गुलाम बना लेता है। ऋषियों के शाप वरदान सूक्ष्म शक्ति के हों चमत्कार होते थे। सृष्टि-सञ्चालन प्रक्रिया पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि सूक्ष्म शक्तियों के सहारे ही करोड़ों, अरबों, खरबों मनों की पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म शक्ति स्थूल से अधिक होती है। जितना-जितना किसी वस्तु का स्थूलत्व कम होता जाता है उतनी ही उसमें शक्ति बढ़ती जाती है।

ध्वंस की सृष्टि का मुख्य कारण है। रगड़ से बिजली पैदा होती है। आप देखते हैं कि बादाम को घिसने से उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है। कुछ औषधियों को तिलाकर जब सुरमा बनाते हैं तो उसे बहुत बारीक किया जाता है, क्योंकि उसका स्थूलत्व जितना कम होता जाता है उतनी ही उसमें आरोग्यशक्ति बढ़ती जाती है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में भस्म व कुश्तों को बहुत कक्तिवर्धक बताया जाता है। उनका विज्ञान भी यही है कि औषधियों के स्थूलत्व को बहुत कम करने की चेष्टा की जाती है। रोटी के ग्रास यदि चबाचबाकर खाए जायें तो वह बहुत लाभदायक होते हैं। जल स्थूल है, जल में उतनी शक्ति नहीं जितनी कि उसके स्थूलत्व को कम करके 'वाष्प' में होती है। आप देखते हैं कि जल का स्थूलत्व कम होकर इसमें इतनी

शक्ति आजाती है कि हजारों मनों के रेलगाड़ी के डिब्बों को तीव्र गति से खींचकर ले जाता है। होम्योपैथिक औषधि बनाने का भी यही विज्ञान है। वह औषधि के स्थुलत्व को बिल्कुल नष्ट कर देते हैं। जिससे वह औषधि बहुत शक्तिशाली बन जाती है। यज्ञ का भी यही विज्ञान है।

औषधियों के स्थूलत्व को नष्ट करके सूक्ष्म बनाकर उनकी शक्ति को सहस्र गुणा बढ़ा दिया जाता है। यज्ञ में होमा हुआ घी और औषधियाँ व्यर्थ नहीं जाती बल्कि उसका महत्व बढ़ जाता है। वेद भी इसका साक्षी है। यजुर्वेद (१७।२१) में कथन है" शान्ति कर्ता अग्नि हव्य को नष्ट नहीं करता बल्कि वायु आदि देवताओं में विस्तार कर देता है।" आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को मानता है कि संसार में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, केवल उसका रूप बदल जाता है। यज्ञ स्थूल वस्तुओं को सूक्ष्म बनाने वाला शक्तिशाली यन्त्र है। एक सेर घृत हजार सेर कर है। एक ऐसी अद्भुत विज्ञान सम्मत कला है जिससे एक रु० की वस्तु को एक हजार रु० मूल्य की बना दी जाती हैं। डाइनमों बिजली उत्पन्न करता है, यज्ञ हजारों गुणा शक्ति बढ़ाने वाला महान् शक्तिकाली डाइनमों है।

दूसरी बात यह है कि हमारे पूज्य ऋषियों ने जब ध्यानावस्था में देखा कि जब तक आकासी संसार, पृथ्वी वाले संसार और मनुष्य के शरीर वाले संसार में सामजस्य न हो जाये, तब तक मनुष्य परम सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। जब तक तीनों संसारों में एक जैसी बात न हो रही हो, मनुष्य का सुखी रहना असम्भव है। क्योंकि जो कुछ आकाश में है, वह इस संसार में है और जो इस संसार में है, वह इस शरीर में है। तो शरीर वाले संसार को ठीक रखने के लिये आवश्यक है कि पृथ्वी वाला संसार ठीक हो और पृथ्वी वाले संसार को ठीक रखने के

लिये आवश्यक है कि आंकाशी संसार ठीक हो। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यदि आकाशी ठीक हों तो पृथ्वी व मनुष्य के शरीर वाले दोनों संसार अपने आप ठीक हो जाते हैं।

सामहस्य का यह नियम प्रकृति अटल नियम है। आप देखते हैं कि जब तक दो मनुष्यों के विचारों में समता नहीं होती, तब तक उनमें मत्रता कदापि नहीं हो सकती। यदि होतो भी है तो अस्थायी, स्थायी नहीं रहती। क्या कभी गँवार और दार्शनिक का, नम्र अ अहंकारी का, अमीर से गरीब का, सदाचारी व संयमी पुरुष का कपटी-पाखण्डी-व्यसनी और दुराचारी से और श्रेष्ठ का नीच से मेल हो सकता है ? नहीं ! क्यों कि यहाँ समता का नियम भंग हो जाता है। समता एक ऐसी अद्भुत आकर्षण शक्ति है जो दोनों को एक दूसरे की ओर खींच कर रखती है।

यदि मनुष्य सुखी रहना चाहता है, यदि वह चाहता है कि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल, पृथ्वी आदि उसे शक्ति प्रदान कर ऊपर उठावें यदि वह चाहता है कि सूक्ष्म प्रकृति के अन्तराल में काम करने वाली अदृश्य दिव्य शक्तियों, जिन्हें देवता कहते हैं, को अनुकूल बनाकर और उनसे घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करके दिव्य गुणों और शक्तियों को धारण करके सुख और शान्ति को प्राप्त करें तो उसे यज्ञ करना होगा। आकाशी संसार को ठीक रखना होगा। चूँकि यह दिव्य शक्तियाँ सूक्ष्म हैं, इसलिये इन तक पहुंचने के लिए सूक्ष्म की ही आवश्यकता है। यज्ञ स्थूल वस्तुओं को सूक्ष्म बना देता है। यज्ञ तीनों संसारों अर्थात् आकाश, पृथ्वी और शरीर में समन्वय करता है और यह समन्वय परिणाम में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करता है।

आयुर्वेद शास्त्र इसी समन्वय के नियम पर आधारित है। आयुर्वेद का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार समस्त विश्व भगवान ने पंचतत्व (अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी) से बनाया उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी इन पंचतत्वों का समन्वय है, जिससे वात, पित्त कफ तीन तत्व बनते हैं। इनकी सम अवस्था में रहने से कोई रोग नहीं होता। तीनों को विकृत अवस्था ही रोग का कारण हैं और इस विकृत अवस्था को समता में लाना ही निरोगता हैं। सूक्ष्म का ही प्रभाव सूक्ष्म पर पड़ता है, इसी सिद्धान्त पर होमियो-पौथिक विज्ञान का आधार है। उनके मतानुसार रोग सूक्ष्म जीवनी शक्ति को होता है, शरीर को नहीं, क्योंकि जड़ शरीर में कोई शक्ति नहीं होती, जब तक सूक्ष्म जीवनी शक्ति उसमें गति न ला दे। उस सूक्ष्म जीवनी शक्ति तक पहुँचते और सूक्ष्म रोग को ठीक करने के लिये आवश्यक है कि औषधि भी सूक्ष्म हो क्योंकि स्थूल औषधि स्थूल शरीर पर ही प्रभाव डाल सकती हैं, सूक्ष्म रोग तक उसकी पहुँच कदापि नहीं हो सकती। इसीलिए होमियोपैथिक औषधियाँ सूक्ष्म होती हैं। उनमें स्थूलत्व बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इसी आधार पर होमियोपैथिक डाक्टर कहते हैं। कि ऐलोपैथिक आदि स्थूल औषधियां सूक्ष्म जीवनी शक्ति को हुए सूक्ष्म रोग तक न पहुँचने के कारण उसे दबा देती हैं।

होमियोपैथिक विज्ञान के अनुसार यदि रोग और औषधि के लक्षणों में समता न हो तो औषधि सूक्ष्म होते हुए भी उसे ठीक नहीं कर सकती क्योंकि समता का नियम भङ्ग होने से आरोग्य शक्ति क्षीण हो जाती है। समता में बहुत शक्ति है। यह मिलाने, जोड़ने, योग सिद्ध करने और मोक्ष दिलाने वाली महान शक्ति है। संयोग अर्थात् पदार्थों का परस्पर सङ्गतिकरण ही संसार की स्थिति का कारण है और त्रियोग

विनाश का हेतु । एक दूसरे में प्रेम, एकता, सहयोग और सद्भावों का अविर्भाव तभी होता है जब उनमें समता हो, इसी समता के अटल सिद्धान्त को लेकर ही हमारे प्राचीन ऋषियों ने यज्ञ का महान आविष्कार किया ।

अग्नि के मुख में जो आहुतियाँ दी जाती हैं, वह सब देवताओं को प्राप्त होती है, जिससे देवता प्रसन्न होते हैं और बदले में हमें उससे अधिक देते हैं । गीता में भी कहा है "इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करो और वह देवगण तुम लोगों को उन्नत करें । परस्पर उन्नति करते हुए श्रेय को प्राप्त होंगे ।" अग्नि में हवि देने से देवताओं की तृप्ति होती है, वह देवता तृप्त होकर उस मनुष्य को इच्छित समृद्धि के द्वारा संतुष्ट करते हैं ।" (विष्णु धर्मत्तिर पु०) "यज्ञों से देवता सन्तुष्ट होते हैं ।" (कालिका पुराण) । 'यज्ञ के द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति देवताओं को सबल बनाती है और उसी से परिपुष्ट होकर वह सृष्टि रचना से लेकर विश्व कल्याण के समस्त कर्मों का आयोजन करते हैं ।" (पद्मपुराण) । "यज्ञ से देवों की प्राप्ति होती है ।" (मत्स्य पु०) । "यज्ञादि शुभ कर्मों से देवताओं को प्रसन्न करके मनुष्य शक्ति, सुख और सम्पदाएँ प्राप्त करता है ।" (अङ्गिरा) ।

इसका अभिप्राय यह है कि जब हम अग्नि के मुख में आहुतियाँ डालते हैं तो अग्नि उन्हें सूक्ष्म बना कर अदृश्य लोकों में भेज देती है, जहाँ सूक्ष्म दिव्य शक्तियों का बास होता है । यह स्थूल से सूक्ष्म दिव्य शक्तियों को बलवान बनाती हैं । जैसे कुएँ में आवाज देने से वह टकराकर वापिस आती है, दीवार पर गेंद फेंकने से वह और अधिक, शक्ति से हमारी ओर आती है, जैसा व्यवहार जिससे किया जाता है वह वैसा ही करने की कोशिश करता है, प्रेम-प्रेम को खींच लाता है, ईर्ष्या, द्वेष से ईर्ष्या, द्वेष बढ़ते हैं, परमार्थ से दूसरों से अधिक अपना अपना कल्याण होता है, जैसे अच्छे या बुरे काम हम करते हैं, वैसे

ही परिणाम भोग लेते हैं, वैसे ही वह सूक्ष्म शक्तियाँ जिनको हम बलवान बनाने की चेष्टा करते हैं प्रतिक्रिया में हमें सब प्रकार के लाभों से लाभान्वित करती हैं। हमारे सूक्ष्म शरीर को बलवान बनाती हैं, क्योंकि सूक्ष्म का ही सूक्ष्म पर प्रभाव पड़ सकता है, स्थूल का नहीं ।

सूक्ष्म शरीर के बलवान होने से मनुष्य चरित्रवान, परमार्थी, सदाचारी, निर्मल, नम्र, शान्त, प्रेमी साहसी, निर्लोभी, संयमी, चतुर, पराक्रमी, सत्यवान, ईमानदार, दयावान, शीलवान, भाग्यवान, तेजस्वी, देवता, न्यायी, सहनशील, उदार, सन्तोषी, निश्चिन्त, कर्त्तव्य परायण, विवेकी, निरोगी, निर्भय और श्रेष्ठ बन जाता है। उसका मन शुद्ध व पवित्र हो जाता है। वह जितना सूक्ष्म बनता जाता है, उतना ही मोक्ष की ओर कदम बढ़ाता जाता है क्योंकि सूक्ष्म में प्रवेश करने के लिए सूक्ष्म बनना होगा।

पुत्रेष्टि यज्ञ से सुसन्तति की प्राप्ति का भी रहस्य यही है कि स्त्री और पुरुष के रजवीर्य में जो सूक्ष्म दोष होते हैं, उनका निवारण यज्ञ से उत्पन्न सूक्ष्म शक्ति से समता के आधार पर हो जाता है। गर्भाशय व वीर्य रोगों की शुद्धि में यज्ञ विशेष रूप से सहायक होता है। पुरुष अग्नितत्व प्रधान है और स्त्री चन्द्र (सोम) तत्व प्रधान। इन तत्वों के अभाव से ही सन्तान उत्पत्ति में बाधा पड़ती है। यह तत्व सूक्ष्म होते हैं।

आवश्यकतानुसार सोम व अग्नितत्व प्रधान औषधियाँ मानी जाती हैं। वह सूक्ष्म बनकर इन सूक्ष्म अभावों को दूर करके अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं। यज्ञ से आरोग्य का भी यही सिद्धान्त है कि सूक्ष्म पर सूक्ष्म का ही प्रभाव पड़ सकता है। होमियोपैथिक विज्ञान के अनुसार रोग सूक्ष्म होते है, स्थूल नहीं, रोग सूक्ष्म जीवनी शक्ति को होते हैं, शरीर को नहीं। सूक्ष्म जीवनी शक्ति तक पहुंचने और उसे रोग से छुड़ाने के लिए सूक्ष्म शक्ति का होना आवश्यक है।

यज्ञ से स्थूल वस्तुयें सूक्ष्म बनती हैं और समता के सिद्धान्त पर सूक्ष्म जीवनी शक्ति को सूक्ष्म रोग से छुड़ाती हैं।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि "यज्ञ में दी हुई आहुति के दो रूप बन जाते हैं, वह दो भागों में विभक्त हो जाती हैं। एक रूप पृथ्वी, आकाश, वायु, जल को शुद्धकरता है- उन्हें शक्ति प्रदान करके मनुष्य के लिए लाभकारी बनाता है। दूसरा भाग मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके सूक्ष्म शरीर को निवास स्थान बनाता है। जीवन के अन्त में सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ आत्मा जब इध शरीर से बाहर निकलता है तो यह आहुतियाँ सूक्ष्म शरीर को लपेटकर उसे ऊपर उठाकर उस लोक में ले जाती हैं, जिसकी इच्छा से ये डाली गयीं थीं। इन आहुतियों के इस रूप का शक्तिशाली होना इच्छाशक्ति की प्रबलता, श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता पर निर्भर है।

आज का समाज काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, स्वार्थ, छल कपट, ईर्ष्या, द्वेष, राग, वैर, तृष्णा, अनाहातो रत्ता आदि के विचारों से गूँज रहा है। विज्ञान कहता है कि विचार कभी नष्ट नहीं होते। वह सूक्ष्म होने के कारथ मस्तिष्क से निकलकर आकाश व्यापी ईथर तत्व में प्रवेश करके सारे विश्व में फैलजाते हैं। दूषित विचार वातावरण को दूषित करते हैं। इसीलिए केवल अपने मस्तिष्क में बुरे विचार लाना भी महापाप है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति ऐसे ही विचार करता है तो आकाश व्यापी विचार समता के सिद्धान्त पर आकर्षित होते हैं और उस व्यक्ति के विचारों को उत्तेजित व परिपुष्ट करते हैं जिससे वह उस मार्ग में शीघ्रातिशीघ्र बढ़ने लगता है। तो बुरा सोचना भी दूसरों से बुरा करना है और सद्विचारों का आवाहन करना परमार्थ है क्योंकि यह विचार ऐसे ही विचार करने वालों को आगे बढ़ने में सहायक होते हैं। समाज में फैरे हुए दुर्गुणों, दुर्विचारों और दुःस्वभावों को दूर करने के लिए आकाश व्यापी दूषित विचारों को नष्ट करने की आवश्यकता है, जिसका सरल और अमोघ साधन यज्ञ है।

यज्ञ से मानो हजारों और लाखों सतोगुण के प्रतीक सूक्ष्म सैनिक आकाश में फैलकर तमोगुण के प्रतीक शत्रुओं को नाश करना आरम्भ कर देते हैं। यज्ञ का जितना अधिक प्रचार होगा और जितने बड़े-बड़े यज्ञ होंगे उतनी ही मात्रा में यह शत्रु नाश होते जायेंगे। शास्त्रों में देव असुर संग्राम का वर्णन आता है। यज्ञ से देवता शक्तिशाली बनते हैं और देव-असुर संग्राम का आरम्भ हो जाता है सद्-विचारों और दूषित विचारों में संघर्ष ही देव-असुर संग्राम है असुर शान्ति को भंग करते हैं। यज्ञ असुरों का नाश करके सुख और शान्ति की स्थापना करते हैं। इस संग्राम के दोनों दर्जे सूक्ष्म होते हैं। इसलिए एक दूसरे पर प्रहार करने की क्षमता रखते हैं। यज्ञ से उत्पन्न हुए शुद्ध और पवित्र सूक्ष्म वातावरण का प्रभाव हमारे सूक्ष्म विचारों पर पड़ता है और वह शुद्ध तथा पवित्र हो जाते हैं। यज्ञ में दूषित विचारधारा को बदलने की अपूर्व शक्ति है। पहले बताया जा चुका है कि सूक्ष्म स्थूल में गति करता है। विचार सूक्ष्म होते हैं, शरीर स्थूल है। शरीर वैसे ही कार्यों में प्रसृत्त रहता है जैसे विचार होते हैं। दूषित विचारों से पाप, अत्याचार, स्वार्थ व्यभिचार और वैर जैसे कार्य सधते हैं जिनका भयानक परिणाम होना अनिवार्य है। सद्विचारों, संकल्पों और भावनाओं से परमार्थ ईमानदारी, भलाई, मित्रता, सहायता, दया, सहानुभूति, सत्य, प्रेम, सन्तोष और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है और मनुष्य साधारण से असाधारण, पुण्यात्मा, महान् आत्मा, महात्मा बन जाता है।

ऊपर की पंक्तियों से प्रतीत होता है कि अग्नि अपने भेदक गुणों के कारण स्थूल वस्तुओं को सूक्ष्म बना देती है जिससे सृष्टि संचालन करने वाली ईश्वर की शक्तियों को, जिन्हें देवता नाम से पुकारा जाता है और जिनका सारे संसार की विभिन्न समस्याओं से तथा मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की सुख समृद्धि, उन्नति, अवनति, हानि लाभ, रोग शोक आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है, हम हवि देते हैं, इसके बदले में वह

हमें अति अधिक लाभ पहुँचाते हैं अतः स्पष्ट है कि यज्ञ में होमा घृत और सामग्री नष्ट नहीं होती, और जैसी धारणायें आजकल लोगों में जड़ जमाये बैठी हैं, वह ठीक नहीं हैं। यज्ञ का विधान ठोस वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है।

स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर

आज हम दुःखी क्यों हैं ? कलह, क्लेश, चिन्ता और शोक क्यों हर समय हमें घेरे रहते हैं ? अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये दूसरे का बड़े स बड़ा अहित करने के लिए क्यों तैयार रहते हैं ? केवल धन को एकत्रित करने के लिए क्यों चौबीसों घण्टे घूमते रहते हैं और उसकी प्राप्ति में महान् से महान् पाप और अत्याचार (यह जानते हुए भी कि बुरे काम का बुरा ही परिणाम होता है और वह अवश्य भोगना ही पड़ेगा, छुटकारा नहीं है) करने में भी सङ्कोच नहीं करते। छल, कपट और धोखेबाजी को अपनाते हुए तनिक भी नहीं हिचकिचाते, बल्कि इसमें अपनी चतुराई को परिमाण देकर बहुत प्रसन्न होते हैं।

कामान्ध लोग मानवता को पीटते हुए क्यों दिखाई देते हैं ? लोभ के वशीभूत होकर नरक का द्वार क्यों खटखटाते हैं ? मोह की जंजीर से अपने आपको जकड़ने की क्यों चेष्टा करते रहते हैं ? ईर्ष्या द्वेष की अग्नि में जल-जल कर क्यों अपने आप को भस्म करते जा रहे हैं ? अहंकार के चंगुस में फँसकर क्यों अपनी जीवन नैया में पत्थर भर कर उसे डुबोने की कोशिश कर रहे हैं ? कुबुद्धि को अपने राज्य में प्रवेश की आज्ञा देकर क्यों अविवेक पूर्ण कार्य करते हैं ? इन्द्रियों और मन का सेवक बनकर क्यों त्रास सह रहे हैं ? मनचले नवयुवक बाजार में जाती हुई भले घर की लड़कियों पर कुदृष्टि डालकर, अपने विचारों को दूषित और वातावरण को अशुद्ध व अपवित्र करके मनुष्यता को क्यों कलंकित

करते हैं ? आजकल के युवक काले रङ्ग की सद्गुण सम्पन्न युवती को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और दूषित विचार की गोरे चमड़े वाली से विवाह करके क्यों आनन्द का अनुभव करते हैं ? यदि किसी काले चमड़े वाली से विवाह हो भी गया तो क्यों उसे निकृष्ट समझ कर नाना प्रकार के कष्ट देते रहते हैं और कभी-कभी तो घर से निकाल भी देते हैं ? क्यों केवल नाशवान शरीर का पालन पोषण करके, इन्द्रियों को नाना प्रकार से तृप्त करके, शरीर को बाहुल्य वस्त्रों से सजाकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और क्यों अपने परम लक्ष्य को भूले हुए हैं ? केवल अपने शरीर को ही स्वस्थ, हृष्ट पुष्ट बनाकर, पेट पालने के लिए थोड़ी सी कला या विद्या सीखकर ही क्यों सन्तुष्ट हो जाते हैं ? क्योंकि नहीं सत्य, प्रेम, न्याय, दया, क्षमा, सहानुभूति, उदारता, सहयोग, समय, शान्ति सन्तोष, सदाचार, ईमानदारी आदि दैवी गुणों का भी विकास करते हैं ?

भाई-भाई का शत्रु क्यों हो रहा है ? चोरी और डकैती का बाजार क्यों गर्म है ? घूँस लेकर क्यों कर्तव्यच्युत के आसन पर बैठते हैं ? सिनेमाओं में क्यों हजारों लोग चरित्रहीन बनने और अपना सर्वस्व खोने के लिये धक्के खाते फिरते हैं और क्यों नहीं सत्सङ्गों के सद्विचार व सद्भावना पूर्ण वातावरण में जाकर चरित्रवान् बनकर सुख और शान्ति की अपार निधि को प्राप्त करते हैं, वेश्याओं के पैरों में पड़कर क्यों अपने धन, सम्पत्ति, स्वास्थ्य और चरित्र का विध्वंस करते हैं ? विवाह पर रुपया पानी की तरह बहाया जाता है परन्तु क्यों यज्ञ आदि परमार्थ-मय कार्यों के लिए हाथ रुक जाते हैं ? अपने सम्बन्धी की मृत्यु होने पर क्यों रोने धोने लगते हैं ? किसी वस्तु के खो जाने टूट-जाने पर क्यों शोक के समुद्र में डुबकी लगाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं ? अंधेरे में जङ्गल में चोर डाकुओं से सर्प-बिच्छू आदि से क्यों भयभीत रहते हैं ? पति-पत्नी, सास-बहू, पिता पुत्र के सम्बन्ध क्यों शिथिल होते जा रहे हैं ?

इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल एक ही है और वह यह है कि हम स्थूल को सूक्ष्म से अधिक महत्व देने लगे हैं हालांकि स्थूल सूक्ष्म के सामने तुच्छ है, स्थूल सूक्ष्म पर ही अवलम्बित है। सूक्ष्म न हो तो स्थूल का कोई महत्व नहीं। स्थूल की गति सूक्ष्म की गति से ही होती है क्योंकि स्थूल जड़ होता है और सूक्ष्म चैतन्य। स्थूल से सूक्ष्म के पृथक होने का दूसरा नाम मृत्यु है या यूँ कहिये कि स्थूल मृत्यु है और सूक्ष्म अमृत। स्थूल का चिन्तन करने वाले स्थूलता, जड़ता, मृत्यु और अन्धकार की ओर जाते है और सूक्ष्म का चिन्तन करने वाले चैतन्यता, सूक्ष्मता, अमृत और प्रकाश की ओर बढ़ते हैं। स्थूल को अधिक महत्व देने वाले ही प्राय: दुखी और चिन्तित देखे जाते हैं, कलह क्लेश उन्हीं के घर का अखाड़ा बनाने का साहस करता हैं, वह ही केवल इस स्थूल, नाशवान शरीर की सुखी बनाने के लिये तरह-तरह के षड़यन्त्र रचते है, छल-कपटझूठ, धोखेबाजी और पाखण्ड को अपनाते हैं।

स्थूल धन को इकट्ठा करने में सब तरह के पाप, अत्याचार करते हैं चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। लड़की के चुनाव में स्थुल शरीर को ही देखा जाता है, उसके सूक्ष्म गुणों को नहीं। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर रोने चिल्लाने लगते हैं हैं, स्थूल के खो जाने, फट जाने' पर दुःखी होते हैं, स्थूल के लिए जीते हैं, स्थूल के लिये मरते हैं। इस अज्ञान अन्धकार की सीमा को लाँघे जा रहे हैं। जिस पर स्थूल आधारित है, उसकी कोई महत्व नहीं दिया जाता। दिन प्रतिदिन स्थूल बनते जा रहे हैं। सूक्ष्म पर अज्ञानता के पर्त के ऊपर पर्त चढ़ाकर उसे अपने से बहुत दूरकर रहे हैं। इससे न लोक बनता है न परलोक। अशान्ति और असन्तोष की अग्नि में झुलसते जा रहे हैं।

इसके विपरीत जो स्थूल और सूक्ष्म का भेद जानता है, वह स्थूल से अधिक सूक्ष्म को महत्व देता है। वह गोरे चमड़े की सजावट को देखकर अपने मन में तूफान खड़ा करके अशान्त नहीं होता। वह भलो प्रकार जानता है कि आज इसकी सुबह है. शाम आने पर यह फूल

मुरझा जायेगा, वह केवल स्थूल धन को एकत्रित करके अपने गृहस्थ का पालन-पोषण करके ही सन्तुष्ट नहीं रहता । वह स्थूल से अधिक सूक्ष्म धन को एकत्रित करने की कोशिश करता है । वह अपने विचारों,सङ्कल्पों और भावनाओं को शुद्ध रखता है, मन को विचलित नहीं होने देता बल्कि उस पर नियन्त्रण रखता है । सत्य, प्रेम, दया, न्याय, क्षमा,ईमानदारी, उदारता, सन्तोष, शान्ति, पराक्रम, साहस, विवेक, सद्बुद्धि, जैसे दैवी गुणों को विकसित होता है । स्थूल धन के लिये वह छल, कपट, पाखण्ड को अपना कर अपना सर्वस्व नाश करना नहीं चाहता । लोक-परलोक को बिगाड़ना नहीं चाहता, स्थूल वस्तुओं के नष्ट होने, खो जाने पर वह आँखें फाड़-फाड़ कर रोता नहीं, सम्बन्धी की मृत्यु होने पर समझता है कि वह नहीं मरा, उसने केवल चोला ही बदला है । वह वेश्याओं के पास न जाकर महात्माओं के दर्शन लाभ करता है, अपने समय का मूल्य जानकर उसका सदुपयोग करता है, प्रभु के दरबार में जाकर आनन्द और शान्ति की हिलोरें खाता है, काम-क्रोध लोभ-मोह-अहङ्कार-ईर्ष्या-द्वेष को, जो स्थूल को महत्व देने से ही उत्पन्न होते हैं, को पास फटकने नहीं देता । इसलिये हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि वह कभी दुःख चिन्तित नहीं रहता, सदा प्रसन्न रहता है । यह है स्थूल और सूक्ष्म को महत्व देने का भेद ।

दोनों में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है । एक राम बनने की चेष्टा करता है तो दुसरा रावण । रावण को स्थुल को महत्व देने का क्या परिणाम देखना पड़ा, वह आपके सामने है । यदि लोग इस महत्व को समझ कर अपने हृदय पट पर अङ्कित कर लें तो समाज में फैले हुए सब दुर्विचारों, दुर्गुणों, दुःस्वभावों और होने वाले पाप-अत्याचारों का अन्त हो सकता है । आज मानवता जो रो रही है खिलखिला उठेगी । आज मानव जो दानव बन गया है, मानव बनकर स्वार्थ को हित का साधन न समझ कर परमार्थ को अपनायेगा, जिससे प्रभु उसके लिए प्रसन्नता का स्रोत खोल देंगे । भागीरथ गङ्गा को पृथ्वी पर लाये थे,

वह स्वर्ग को पृथ्वी पर ले आवेंगे। रामराज्य की ध्वनि सुनाई देगी। शत्रुता बैर, छल, कपट, पाखण्ड धोखेबाजी, चोरी, डकैती, अन्याय आदि की चीत्कारें सुनाई देंगी और प्रेम, ईमानदारी, सद्व्यवहार, न्याय और सत्य की तरङ्गें आकाश में उड़ती दिखाई देंगी।

परन्तु खेद है कि स्थूल को अधिक महत्व देने से हमारा सूक्ष्म शरीर क्षीण होता जा रहा है। हम बुरे को बुरा जानते हुए भी उसे छोड़ नहीं सकते और अच्छे को अच्छा समझते हुए भी उस पर आचरण नहीं कर सकते। सूक्ष्म शरीर को सबल बनाने का साधन है यज्ञ। ज्यों-ज्यों हमारा सूक्ष्म शरीर बलवान होता है त्यों-त्यों हमारी स्थूलत्व की विचार-धारणाऐं सूक्ष्मत्व में परिवर्तित होती जाती हैं। हर समय उचित या अनुचित किसी भी तरीके से स्थूल धन को इकट्ठा करने वाले अधिक समय सूक्ष्म धन सद्भावनाओं को इकटठा करने में लगायेंगे, जो कभी नष्ट नहीं होता, जिस को चोर-डाकू नहीं ले जा सकते। सारे जीवन की लूट की कमाई अपने साथ ले जाने में असमर्थ होने के कारण मृत्यु समय मुहम्मद गोरी परेशान था और अपने को देखकर आँखें फाड़ फाड़ कर रोता था कि 'हाय! मैंने अपना सारा मूल्यवान जीवन इस स्थूल धन के एकत्रित करने में बिता दिया जो मेरे किसी काम नहीं आ रहा है, जिसको मैं अपने साथ नहीं ले जा सकता।'

यज्ञ हमे स्थूलता अर्थात् अज्ञानता से सूक्ष्मता अर्थात् ज्ञान की ओर ले जाता है। वह हम पर स्थूल और सूक्ष्म का भेद भली प्रकार प्रकट कर देता है और सूक्ष्म के महत्व की ऐसी गहरी छाप लगा देता है जो कभी मिटने में नहीं आती। वह ऐसा अनुभव करा देता है कि तुम शरीर नहीं वरन् आत्मा हो। ऐसा अनुभव करके मनुष्य आत्मा के अनुकूल कार्य करता है, जो उसे बहुत ऊंचा उठा ले जाते हैं, सूक्ष्म बना देते है या यूं कहिये कि नश्वरता की सीमा से उठाकर अमृत की भूमिका में जाग्रत कर देते हैं। यज्ञ दिव्य दृष्टि खोल देता है, आत्मा विश्वास का प्रादुर्भाव करता है, मैं अविनाशी आत्मा हूँ' का दृढ़

विश्वास कराकर रोग, मृत्यु, दुर्घटना, शत्रु, विपत्ति ओर विपत्ति के भयों से जो प्रति दिन मनुष्य को चिन्तित और दुःखी बनाये रहते हैं मुक्त कर देता है।

यज्ञ करने वाले का दृष्टिकोण महात्मा और देवताओं जैसा हो पाता है। वह परिस्थितियों के वश में न होकर इधर-उधर नाचता नहीं फिरता, वरन् अपने लिये एक नये संसार का निर्माण करता है। वह समझता है कि जीवन अखण्ड है, शरीर बदल जायेगे पर जीवन नहीं बदलेगा। उसे कोई नश नहीं कर सकता। वह अजर, अमर, अविनाशी ओर अखण्ड आत्मा है, जिससे वह निर्भयता, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता, प्रफुल्लता एव स्वर्गीय आनन्द की ओर बढ़ता है। यह जागरण सूक्ष्म के सूक्ष्म पर ही प्रभाव पढ़ने के सिद्धान्त पर होता है।

कल्याण का आवश्यक साधन-यज्ञ

वेद आज्ञा देता है "यज्ञानुष्ठन की महान् उपासना बन्द न करो क्योंकि यज्ञ बन्द कर देने से मनुष्य के कल्याण का मार्ग बन्द हो जाता है। ऋग्नेद २।३०।७।" 'हे विद्वानों ! ससार में यज्ञ का प्रचार करो क्कोंकि विश्व शान्ति का सर्वश्रेष्ठ आधार यज्ञ ही है। ऋग्वेद १०।६६।२" "हे मनुष्यो ! यज्ञ द्वारा इस यज्ञाग्नि को खूब करो और उत्तम हवियों द्वारा श्रद्धा, भक्ति, उदारता से इस यज्ञाग्नि का भजन करो। ऋग्वेद।" "हे ब्रह्मज्ञास्पते ! चारों वेदों के विद्वानी तू अब उठ खड़ा हो, आलस्य मत कर, उठ और यज्ञों द्वारा विश्व की दैवी शक्तियों को जाग्रत हुई दैवी शक्तियों द्वारा जहाँ यज्ञमान के सब प्रकार के सुखमय साधनों से बढ़ा, वहाँ प्राणी मात्र की आयु, जीवन, जीवन-शक्ति उत्तम प्रजा' अच्छे पशु और यश तथा कीर्ति को भी बढ़ा। अ० १९।६१।१" "पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के प्रगतिशील तत्वों के लिए यज्ञ हो। यजु० 1३।६।" अग्नि, सोरम्यगुण औशशियों, जलों, सूर्य, वायु व्यापक विधुत, आकाश और जीव मात्रा के लिये यज्ञ हो। यजु०

२२।६।' 'प्राण, अपान, व्यान, नेत्रों, श्रोत्रों वाणी और मन के लिए यज्ञ हो। यजु० २२।२३।' 'सब दिशाओं के लिए यज्ञ हो यजु० २२।२४।' 'सुख साधक, सुखस्वरूप, अत्यन्त सुख दायक, ध्यान साधन, मेधातत्व. मनन-साधन, चेतनानाधन, सर्वसाक्षी, चित्त, पृथ्वी, आन्तरिक्ष, आकाश प्रकाश, वेद,वाणी व व्यापक अग्नि के लिए यज्ञ हो। नजु०२२।२०।'इस तरह से यजुर्वेद में और भी कई स्थानों पर आया है कि अग्नि, सोम, इन्द्र, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु लोक, दिशाओं, उपदिशाओं, नक्षत्रों, नक्षत्र समूहों, अहोरात्रियों, अर्द्ध मासों, सब महीनों, ऋतुओं, ऋतुजन्म, पदार्थों, सूर्य राशियों, वसुओं रुद्रों, वनस्पतियों, पुष्पों, फलों औषधियों, जलों, चराचरों, प्राणों, जीवात्मा, व्यापक वायु, गर्मी की क्रान्ति व पालक, दुष्टों, तिरस्कर्ता, बल, विद्यु त, मेघ, अन्न, सुख, वीर्य, ओज, शारीरिक तेज मन के लिये यज्ञ हो।

ऊपर लिखी वेद की आज्ञाओं का गम्भीरता पूर्वक चिन्तन व मनन करने से पता चलेगा कि यज्ञ के अनन्त लाभ है। यज्ञ के लाभों की कोई सीमा नहीं है। यज्ञ में महान शक्ति हैं। तनिक विचार तो कीजिए कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्यु लोक का कितना बड़ा क्षेत्र है। केवल पृथ्वी पर ही सहस्रो मीलों में फैले हुए बड़े बड़े देश, भारत, इङ्गलैण्ड, अमेरिका, एशिया, जापान, चीन, जर्मनी आदि हिमायल जैसा पर्वत, सहस्र मीलों फैले हुए समुद्र इनकी विशालता का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। परन्तु इतनी विशाल दीखने वाली पृथ्वी की अपेक्षा एक साधारण सा गोला है, क्योंकि सूर्य पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा है। इस विशाल सूर्य से जिसमें १३ लाख पृथ्वियाँ समा सकती है, बड़ा अगस्त तारा है सो सूर्य से एक करोड़ गुना बड़ा है। अगस्त तारे से भी बड़ा एक तारा जेष्ठा है, इससे भी बड़ा 'परम जेष्ठा' है। सृष्टि की विशालता पर विचार करने से मस्तिष्क चकरा जाता है। इतने विशालकाय क्षेत्र में यज्ञ से उत्पन्न हुई शक्ति का प्रभाव पड़ना और कल्याणकारी परिणाम उपस्थित करना क्या आश्चर्यजनक नहीं हैं। इससे प्रत्यक्ष है यज्ञ सबसे

बड़ा परमार्थ मय कार्य है, क्योंकि यज्ञ करने वाला पक्षपात रहित पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्यु लोक के सब प्राणियों के लिये कल्याण का मार्ग बनाता है, इससे उसका अपना भी कल्याण होता है।

देखिये वेद की वाणी 'तुम मुझे दो, मैं तुम्हें दूंगा। यजु० ३।५०।' गीता में भगवान् कृष्ण भी इसका समर्थन करते है यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वह देवगण तुम लोगों की उन्नति करें। परस्पर उन्नति के करते हुए श्रेय को प्राप्त होओगे।' अजुर्वेद में ऐसी ही प्रार्थना आई है 'हे देवि ! तू हो तव्य द्रव्य से परिपूर्ण होकर ऊपर जाओ और वहां से भली-भाँति पूर्ण होकर पुनः हमारे पास लौट आओ। हे सूर्य ! जैसे कोई मूल्य के माध्यम से कोई वस्तु खरीदते और बेचते है, उसी भांति हम लोग इस यज्ञकर्म में आहुति क्रिया द्वारा अन्न और रस, भोजन और पुष्टि, शक्ति और आनन्द का विनिमय आदान प्रदान किया करते हैं (यजु० ३।४९)।' मनोविज्ञान के अनुसार यदि हम किसी के हृदय रूपी दिवाल पर प्रेम रूपी गेंद फैकते हैं तो वह अधिक वेग व शक्ति से हमारी ओर आयेगी अर्थात् प्रेम की सूक्ष्म तरङ्गें हमारी ओर आयेगी और हमारे प्रेम को और बढ़ा देंगी। यदि हम किसी के साथ भलाई करते हैं तो हमारी भलाई उससे अधिक होती है। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, वैर, स्वार्थ, छल, कपट, धोखेबाजी. झूठ, फरेब आदि के सूक्ष्म बाण छोड़ने पर अपने ही हृदय को छलनी कर देते है। इसके विपरीत दूसरों पर परमार्थ मय कल्याणकारी वाण छोड़ने पर उनसे अधिक अपने को लाभ होता है।

वेद भी सिद्धान्त की पुष्टि करता है हे अग्ने ! हम तुम्हें चमकाते रहें और अपने आपको पुष्ट करते रहें (अर्थव० १९।५५।३), चूंकि यज्ञ से बड़ा कोई परमार्थमय कर्म संसार में नहीं है, इसलिये अपने कल्याण का सर्वश्रेष्ठ मार्ग यज्ञ ही है। तुलसीदास जी ने कहा है— 'परहित सम धर्म नहीं भाई।' ब्रह्म पुराण में भी वर्णन है 'उसी का जीवन सफल माना जाता है जो नित्य परोपकार में प्रवृत रहता है।

श्रुति का भी आदेश है 'एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम परम कल्याण को पाओ ।' 'परमार्थ को ही जिस मनुष्य ने अपना स्वार्थ बना लिया है, वह सब सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है (भृतहरि) ।' शास्त्र का कथन है कि परोपकार ही ईश्वर की सच्ची पूजा है ।' जहाँ सदा अपने मन को ही सुख मिलता है, वह स्वर्ग भी नरक के समान है । अतः साधु पुरुष दूसरों के सुख से ही सुखी होते है (पद्मपुराण)' । अङ्गराज के शब्दों में —

'परहित करना आत्म त्याग—है,
आर्य - जनों की रीति सनातन ।
इस नश्वर जग में मर कर भी,
रहते अमर इसी, विधि सज्जन ।'

महर्षि दधीचि को देखिये उन्होंने वज्र बनाने के लिए, इन्द्र को अपनी हड्डियाँ ही दे थी, जिससे उसने असुरों को परास्त किया था । राजा शिव ने कबूतर के लिए अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया था । राजा रन्तिदेव ने ४८ दिन के भूखे होते हुए भी ब्राह्मण, शूद्र और चाण्डाल अतिथि के आने पर अपना भोजन और जल उन्हें दे दिया था । वह कहते थे कि 'परमात्मा से मैं अणिमा आदि आठ सिद्धियों से युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता । मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थिर होकर उनका दुःख भोग करूं जिससे उन लोगों का दुःख दूर हो जाये ।' नारद हर समय परहित में ही लगे रहते थे । इसलिए इन्हें देवर्षि का पद मिला ।

बुद्ध की परमार्थ भावना की कल्पना कीजिए । उन्होंने शरीर त्यागते समय कहा था 'मैं मुक्ति नहीं चाहता, जब तक संसार में एक भी पीड़ित व्यक्ति है तब तक मैं जन्म लेता ही रहूँगा ।' स्वामी शङ्कराचार्य शरीर में नासूर का घाव होते हुए भी परहित में लगे रहते थे । चैतन्य महाप्रभु ने जघाई और मघाई दो भाइयों के उद्धार के निमित्त

उन्हें गङ्गा में खड़ा करवा कर कहा कि 'इस जन्म में तथा पिछले कोटि जन्मों में तुम दोनों ने जितने भी पाप किये हैं, उन सबको मुझे दान कर दो।' प्रकृति माता स्वयं हमें यही शिक्षा दे रही है। पृथ्वी सूर्य, चन्द्रमा, फल, फूल, वृक्ष, मेघ आदि को लीजिए, सभी परहित में लगे हुए हैं। परहित ही परम कल्याण का मार्ग है, यही प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और सुख का उद्‌गम केन्द्र है।' प्रसन्नता का सच्चा स्रोत परोपकार है। जो सदैव भलाई और सहानुभूति से भरा पूरा रहता है वह सदा प्रसन्न रहता है (गाडनिन)।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि विचार कभी नष्ट नहीं होते, वह आकाश में घूमते रहते हैं। विचार कीजिए यदि आपके पड़ोसी, मित्र या आफिस में काम करने वाले व्यक्ति दुःख, चिन्ता, कलह, क्लेश की अग्नि में जलते रहते हैं तो इनके मस्तिष्क में से ऐसे ही विचार निकल कर आकाश में घूमते रहेंगे। यदि तनिक भी कभी आपने ऐसे विचार किये तो यह आप पर टूट पड़ेंगे और आपके उन विचारों को बल देकर उस ओर अधिक बढ़ा देंगे, जिससे आपका अहित ही होगा। इसलिए अपना कल्याण चाहने के लिए दूसरों का कल्याण करना आवश्यक है। 'जैसी करनी वैसी भरनी।' जैसा करोगे वैसा भरोगे' 'जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे' 'जो जिस करई सो तस फलु चाखा।' (तुलसी) आज जो कुछ भी भोग रहे हैं वह हमारे कर्मों का फल है। जिन्होंने अच्छे कर्म किए हैं वह स्वर्ग सुख भोग रहे हैं। जिन्होंने पाप अत्याचारों की गठरीं को सिर पर बांध रखा है वह नारकीय दुःख भोग रहे हैं। जिसने जैसा किया है, वह वैसा पा रहा है।

यह ईश्वरीय शासन शक्ति का अटल सिद्धान्त है। 'जो जिस वस्तु का दुरुपयोग करके अपने आपको अयोग्य प्रमाणित करता है, वस्तु उससे छीन ली जाती है। इसके विपरीत जो जिस वस्तु का सदुपयोग करता है उसको वह वस्तु अधिक मात्रा में दी जाती हैं।' ईश्वर अधिकारी को ही देता है, अनाधिकारी को कदापि नहीं। आज कल की

तरह घूंस देकर ईश्वर से कोई वस्तु अनाधिकारी को नहीं दिखाई जा सकती। जो व्यक्ति बुद्धि, शरीर, वाणी, नेत्र, कान, इन्द्रियाँ और अपनी प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग करता है, उससे वह छीनकर उसको दी जाती हैं जो इनका सदुपयोग करता है। आपको अन्धे, लूले, लगड़े, गूंगे, बहरे रोगी जितने भी दीख रहे है, वह उनके भिन्न-भिन्न अङ्गों के दुरुपयोग का ही परिणाम है।

जो गुप्त अङ्गों का दुरुपयोग करता हे उसको नपुन्सक बनाया जाता हैं। जो धन को बुरे कामों में पानी की तरह व्यय करता है उससे धन छीनकर उसे कङ्गाल बना दिया जाता है। जो दूसरों का माँस खाते हैं, उनको पशु योनि में भेजकर उनका मांस दुसरों को खिलाया जाता है। विद्वान अपने ज्ञान से दूसरों का अहित करता हैं, उससे विद्या छीनकर उसे गंवार विद्याहीन बनाया जाता है। इसी तरह से किसी वस्तु, अङ्ग, इन्द्रिय, धन आदि के दुरुपयोग के परिणाम को समझा द्या सकता हैं। मनु जीं ने भी मनुस्मृति में खुले शब्दों में लिख दिया है। 'शारीरिक कर्म दोष से मनुष्य स्थावरता (निर्जीव योनियों) को, वाचिक कर्म वाचिक कर्म दोष से पशु पक्षी की योनियों को और मानसिक द्रोषों से चाण्डाल आदि की नीच मनुष्य योनियों को प्राप्त होता है।'

थोड़ा धन होते हुए भी जो इसका सदुपयोग करके यज्ञ आदि सर्व-श्रेष्ठ कर्मों में व्यय करता हैं, उसको और अधिक दिया जाता है क्योंकि इस प्रकार से वह अपने आपको परमात्मा के दिये हुए धन को सुरक्षित रखने और उसे उचित रीति से प्रयोग में लाने का अधिकारी बनता है। शतपथ ब्राह्मण का वचन है कि 'संसार में जितने भी श्रेष्ठ कर्म हो सकते हैं, उन सब में से सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ से समस्त संसार के प्राणियों का कल्याण होता है। इसलिये आदरणीय पाठक! आप स्वयं यज्ञ करें और दुसरों को इसकीं ओर प्रवृत्त करें क्योंकि यज्ञ में ही मनुष्य की सुख और शान्ति का रहस्य छिपा हुआ है। देखिए

गीता में भगवान स्पष्ट शब्दों में कहते हैं 'यज्ञ के निमित्त किए गये कर्मों को करने से यह मनुष्य बन्धता है और यज्ञ से रहित जो पुरुष हैं उन्हें तो यह (मनुष्य) लोक भी सुखदायक नहीं है फिर परलोक की तो बात ही क्या ?'

यज्ञ न करने वालों की शास्त्रों में बहुत निन्दा की गई है। भगवान कृष्ण गीता में कहते है कि 'जो देवों के अर्थात् विश्व की दिव्य शक्तियों के लिए पदार्थों को बिना उनके अर्पण किये भोग करता है, वह चोर है ३।१२,यज्ञ से बचे हुउ अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते है और जो पापी लोग अपने ही शरीर पोषण के लिए पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं।३।१२।' इसलिये हमें चाहिये कि हम वेद भगवान की आज्ञाओं का पालन करते हुए यज्ञ किया करें।

यज्ञ के उपरोक्त विवेचन से एक ही ध्वनि निकलती हैं कि यज्ञ शक्ति विकास का श्रेष्ठतम साधन हैं। रावण और मेघनाथ ने राम की सेनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये एक तान्त्रिक यज्ञ का आयोजन किया था जिसके अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति अजय हो जाती। इस यज्ञ को यदि असफल न कर दिया गया होता तो आज रामायण का इतिहास कुछ और ही होता। राजा बलि ने यज्ञों से ही शक्ति प्राप्त करके इन्द्र पर विजय प्राप्त की थी। राजा पृथु ने यज्ञों से इतनी शक्ति अर्जित करली थी कि उसने इन्द्र के साथ इन्द्रपुरी को भी विध्वंस करने की सार्मथ्य प्राप्त करली थी। जनमेजय के सर्प यज्ञ की शक्ति से हजारों सर्प अपने आप यज्ञ कुण्ड में आहुति बन रहे थे। प्राचीन काल में तन्त्र विस्तार और राष्ट्रोत्थान के लिये तो अश्वमेघ का आश्रय लिया ही जाता था।

यज्ञ से वायु शुद्धि होती है, रोगोत्पादक कीटाणु का नाश होता है। हजारों-लाखों व्यक्तियों पर सफल आक्रमण करने वाले रोग-कीटाणु यज्ञ धूप के समक्ष घुटने टेक देते है और अपनी पराजय स्वीकर कर लेते हैं। भूमि को उर्वरा शक्ति व उपज बढ़ाने के लिये भी यज्ञ एक

श्रेष्ठ साधन हैं। राजा दशरथ को यज्ञ भगवान के अनुग्रह ले ही राम लक्ष्मण-भरत और शत्रुघ्न, चार पुत्र रत्न प्राप्त हुए थे। प्रत्येक शारीरिक रोग के विनाश और स्वास्थ्य के विकास के लिए यज्ञ एक उत्तम औषधि का काम करता है। यज्ञ से रोग जड़ से नष्ट हो जाता है क्यों कि वह रोग के मूल स्थान तक पहुँचने की सामर्थ्य रखता है। यज्ञ से शरीर और भोतिक जगत को ही लाभ नहीं पहुँचाया जाता वरन् मन और आत्मा को भी प्रभावित करता है, बौद्धिक क्षेत्र को पवित्र करता हैं। मन में जमे हजारों जन्मों के कुसंस्कारों को परिष्कृत करता है, आत्मा के मल विक्षेपों की नष्ट करता है, पाप तापों की निवृत्ति करता है, विचारों को प्रबुद्ध बनाता है, सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है, विवेक शक्ति को जाग्रत करता है, षट् रिपुओं को नष्ट करके आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त करता है। सार यह कि यज्ञ से भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार का उत्थान होकर जीवन के चरम लक्ष्य की पूर्ति होती हैं।

शक्ति विकास के इस श्रेष्ठतम साधन का मन्त्र योग में पूरा-पूरा उपयोग किगा गया है। मन्त्र शक्ति सर्व समर्थ है परन्तु फिर भी यज्ञ से ही इसे पूर्ण माना जाता है। प्रत्येक मन्त्र के अनुष्ठान के बाद उसका दशाँश यज्ञ करने का निश्चित विधान है। यज्ञ के बिना अनुष्ठान अपूर्ण माना जाता है अर्थात् मन्त्र शक्ति की पूर्णरूप से विकसित करने के लिए यज्ञ एक आवश्यक साधक है। मन्त्र योग का यह एक ऐसा मन्त्र है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उपेक्षा का परिणाम असफलता ही होगा। मन्त्र साधन में पूर्ण सफलता व सिद्धि प्राप्त करने के लिए यज्ञ की शक्ति का सहारा लेना आवश्यक है।

———

बलि

पशु बलि से स्वर्ग नहीं नरक मिलता है

लोभ मनुष्य की ऐसी वृत्ति है जो उसे घोर पाप करने के लिए प्रवृत्त करती है। लोभ मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर ऐसा छा जाता है कि उसके लिए वह सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है, दूसरे कीं हानि-लाभ का कुछ ध्यान नहीं रखता। यह मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत कर देता हैं ओर उसे झूठ, छल, कपट, धोखा, बेईमानी आदि दुष्प्रवृतियों से उलझने के लिये बाध्य करता है।

कुछ रूढ़ियाँ भी ऐसी है जिनमें लोभ अन्धविश्वास की झलक दिखाई देती है। यह कहा जाता हैं कि देवी या देवता पर बलि करने वाला, यज्ञ में पशु को काट करे आहुति देने बाला अथना जो यशु यज्ञ में होमा जाता हैं व जिसका बध होता है वह स्वर्ग को जाता है। बुद्धिवादी युग में आज ऐसी बातों को कोई स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं कि पाप करने से पुण्य होता हो, दुःख देने से सुख मिले, पशु वध जैसा अत्याचार करने से स्वर्ग प्राप्त हो या वह पशु ही स्वर्ग का टिकट कटा ले।

इस सम्बन्ध में एक कवि ने मुह तोड़ उत्तर दिया है।

नाहं स्वर्गफलो पयोगतृषितो नाम्यर्थितिस्त्वं मया।
संतुष्टस्तृण भक्षणेन सततं साधो ! न युक्तं तव॥
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो।
यज्ञं किं न करोषि मातृ-पितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः॥

"मुझे स्वर्ग फल के भोगने की इच्छा नहीं है। और न ही मैंने तुमसे यह प्रार्थना ही की है कि तुम मुझे यज्ञ में डालकर स्वर्ग में पहुँचाओ। मुझे तो घास, आदि खाकर ही सन्तोष है। इसलिए तुम्हें यह काम शोभा नहीं देता। यदि यही मान लिया जाय कि तुम्हारे द्वारा यज्ञ में होम जाने वाले प्राणी स्वर्ग में जाते हैं तो फिर तुम अपने प्रिय से प्रिय माता पिता, पुत्र और भाइयों को यज्ञ में होम कर उन्हें स्वर्ग क्यों नहीं भेजते।"

कवि ने सच्चे तर्क से काम लिया है। यदि इस प्रकार स्वर्ग प्राप्त हो जाए तो सबसे पहिले अपने प्रिय जनों को ही भेजना चाहिए। स्वयं भी हर एक व्यक्ति सुख की आशा में रहता है, दिन रात उसी के लिए प्रयत्नशील रहता है, क्यों नहीं वह स्वयं अपनी आहुति देकर सीधा स्वर्ग का भागी बनता है ?

चार्वाक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इसी सम्बन्ध का एक श्लोक मिलता है।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्यान्न हिंस्यते।

"यदि ज्योतिहोमादि में मारा हुआ पशु स्वर्ग को चला जाता है तो यजमान अपने पिता को यज्ञ में क्यों नहीं मार डालता ताकि उसे भी सीधे स्वर्ग की प्राप्ति हो ?"

मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसे ही फल को वह प्राप्त करता है, बुरा का बुरा और अच्छे का अच्छा फल होता है। बबूल को बो कर आम कदापि नहीं खाया जा सकता। जैसा कर्म या व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं, वैसा ही हमारे साथ भी किया जाता है। पशु वध एक क्रूर कर्म है जिसका अच्छा फल कोई भी विचारशील व्यक्ति नहीं बता सकता। धर्मशास्त्रों में अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

देवोपहा व्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवच।
घ्नन्ति जन्तुन गत घृणा घोरां ते यान्तिदुर्गतिम्॥

'जो लोग देवता पर चढ़ावे या यज्ञ के बहाने पशुओं को मारते है, वह निर्दयी घोर दुर्गति को प्राप्त होते हैं।'

यूप छित्वा पशून हत्वा कृत्वा रुधिर कर्दमम् ।
यद्येव गम्यते स्वर्ग नरके केन गम्यते ।।

यूप को काट और पशुओं का बध करके और उनका खून बहा कर यदि स्वर्ग मिलता हो तो नरक कोन जाएगा ?

प्राणिघातात् तु यो धर्म मोहन मूल मानसाः ।
स वाछन्ति सुधावृष्टि कृष्णाहिमुख कोटरात् ।।

जो मूढ़ मति वाले व्यक्ति अन्य प्राणियों का बध करके धर्म की आकांक्षा करते हैं वह काले साँप के मुख से अमृत की इच्छा रखते हैं।

अन्धे तमसि मज्जाम, पशुभयं यजामहे ।
हिंसा नाम ये वेद धर्मो न भूतो न भविष्यति ।।

• हम में से जो व्यक्ति यज्ञ में पशु का बध करते हैं, वह महान् अन्धकार की ओर अग्रसर होते हैं। हिंसा का परिणाम न कभी धर्म हुआ न होगा।

छागं यो हन्ति, तं हस्ति, छागो मुत्वः च खड़गमृत ।
सुरथं परलोके हि, पशवो जघ्नारित्युत ।।

जो व्यक्ति बकरे का हवन करता है, उसका वह बकरा परलोक में खड्ग को धारण करके हवन करता है। जैसे बलि में दिये हुए पशु ने परलोक में सुरथ राजा का हनन किया था।

पद्मोतर खण्ड में पार्वतीं जी अपने श्रीसुख से कहती हैं।

स्वयं कामशयो भूत्वा योऽज्ञानेन विमोहितः ।
हन्त्यन्यान् विविधान जीवान, कृत्वा मान्नाय शंकरः ।।
तद्राज्यवंशसम्पत्तिज्ञा निदारा दिसम्पदाम् ।
अचिराद्ध भवेन्नाशो मृतः स नरकं व्रजेत ।।

(१०४ । १०५)

'हे शङ्कर ! स्वयं फल की इच्छा वाले होकर अज्ञान से मोह को पाया हुआ जो व्यक्ति, मेरे नाम से विभिन्न प्रकार के जीवों का बध करता है, उसका राज्य, वंश, सम्पत्ति ज्ञान और स्त्री आदि, समस्त ऐश्वर्य कुछ ही समय में नष्ट हो जाते हैं और वह मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में जाता है।

देब यज्ञे पितृश्राद्धे तथा मांगल्य कर्मणि ।
तस्यैव नरके वासो यः कुचज्जिविघातनम् ।।
मद्व्याजेन पशून हत्वा, यो यज्ञेन सह बन्धुभिः ।
तङ्गात्रलोमसख्यादं रसिपगवने बसेत ।।
आत्मपुत्रकलत्रादिसुसम्पत्ति कुलेच्छाया ।
यो दुरात्मा पशून हन्यात् अःत्मादीन घानयेत् स तु ।।

"देव यज्ञ, पितृ श्राद्ध तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों में जो व्यक्ति जीव हिंसा करता है, वह नरक में जाता है। मेरे बहाने से जो मनुष्य पशु का बध करके अपने सम्बन्धियों सहित मांस खाता है, पशु के शरीर के जितने रोम होते हैं, उतने वर्ष तक असिपत्र नामक नरक में रहता है। इसी तरह जो मनुष्य आत्मा, स्त्री, पुत्र लक्ष्मी और कुल की इच्छा से पशुओं की हिंसा करता हैं, वह स्वयं अपना नाश करता है।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट हैं कि पशु बध का परिणाम नरक तो होता है, स्वर्ग कदापि नहीं हो सकता।

'पशु' शब्द के विभिन्न अर्थ

यज्ञों की अनेक कोटियों में एक कोटि 'पशुयज्ञ' की भी आती है। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। पशु शब्द के भी अनेक अर्थ हैं पर कुछ संकुचित विचार के व्यक्ति वेद और यज्ञ की मूल भूत भावना के विपरीत उसका अर्थ पशु हिंसा करने लगे। अर्थ का असर्थ हुआ। मध्यकालीन युग में लोगों ने सचमुच ही पशुयज्ञ का वास्तविक रूप न समझ-

कर पशु हत्या आरम्भ कर दी और घोड़े, गाय, बकरे एवं सर्प तक मार मार कर होमने शुरू कर दिये।

यह हत्याकाण्ड जब फैला तो उसके विरुद्ध जनता में घोर घृणा पैदा हुई। यज्ञों की निन्दा हुई। लोग यज्ञों का विरोध करने लगे। बौद्ध और जैन धर्म ने इस प्रकार की हिंसा का डट कर विरोध किया और धीरे-धीरे वह अनर्थ बन्द होता गया। बलि जैसी इन अज्ञान मूलक बातों का जितना विरोध हो, उतना ही उत्तम है और हमारे पवित्र धर्म को कलंकित करने वाली यह घृणित प्रथाएँ जितनी जल्दी बन्द हो जाय, उतना ही अच्छा है।

वैदिक पशु याग का वास्तविक तात्पर्य क्या हैं, नीचे की पंक्तियों से इस पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

उपनिषद का वचन है—

"काम क्रोध लोभादयः पशवः"

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह यह पशु हैं, इन्हीं को मारकर यज्ञ में हवन करना चाहिए।

काम क्रोध सुलोभ मोह पशु कांच्छित्वा विवेकासिना।
मासं निर्विषयं परात्म सुखदं भुञ्जन्ति तेषा बुधाः॥
(भैरवयामल)

अर्थात् विवेकी पुरुष काम, क्रोध, लोभ और मोह रूपी पशुओं को विवेकी रूपी तलवार से काटकर दूसरे प्राणियों को सुख देने वाले निर्विषय रूप माँस का भक्षण करते हैं।

महा निर्माण तन्त्र में भी इसी आशय का श्लोक आया है।

'कामक्रोधौ द्वौ पशु इमावेव मनसा वलिमपयेत।
'काम क्रोधौ विघ्नकृतौ बलि दत्तवा जपं चरे'॥

काम और क्रोध रूपी दोनों विघ्नकारी पशुओं का बलिदान करके उपासना करनी चाहिए, यही शास्त्रोक्त बलिदान रहस्य है।

अलङ्कारिक रूप से यह आत्म शुद्धि की, कुविचारों, पाप, तापों, कषाय कल्मषों से बचने की शिक्षा है ब्रह्मोपिनिषद् का वचन है ।

अश्वमेधो महायज्ञ कथा तद्राज्ञो ब्रह्मचर्यमाचरन्ति ।
सर्वेषां पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ क्रमं मुक्ति क्रम का मिति ॥

अश्वमेध बड़ा यज्ञ है किन्तु उसके अभ्यासी ब्रह्मचर्य ही करते है । इस ब्रह्मचर्यात्मक ब्रह्मचर्य का सिलसिला मुक्ति उत्तोत्तर कारण है।

गीता में लिखा है कि मन और बुद्धि को अर्पण करना चाहिये (१२ । ८) किन्तु विषयासक्त मन बुद्धि की सज्ञा पशु है और अर्पण ही बलि है ।

परमार्थसार में लिखा है कि 'मायापरिग्रह बशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशु 'भवति' अर्थात् माया के कारण मलिन बुद्धि होने से मनुष्य पशुभाव को प्राप्त होता है । तन्त्र में 'इन्द्रियाणि पशून हत्वा, अर्थात् इन्द्रिय रूप का बध करे ।

एक बिद्वान का कहना है कि पशु जगत में इन्द्रियाँ सर्वोपरि हैं और उन्हीं का संचालन वहाँ प्रधान साधन है । किन्तु मनुष्य में जीवात्मा सर्वोपरि है **और** जीवात्मा तथा इन्द्रियों के मध्य में अन्तःकरण है । इनके पशु स्वभाव को कामात्मक स्वार्थ के लिये व्यवहृत न कर ईश्वर के अनेक होने के सङ्कल्प (एकाऽहं बहुस्याम्) अर्थात् इच्छा शक्ति की जिस की संज्ञा महाविद्या है, पूर्ति रूपों यज्ञ में व्यवहृत होने के लिये महाविद्या को समर्पित करना अर्थात् ईश्वर के दिव्य गुण, शक्ति, सामर्थ्य आदि के प्रकाशित करने योग्य बनाना ही यथार्थ पशुबलि है । जीवात्मा रूपी होता को सद्बुद्धि रूपी स्त्रुवा में इस पशु स्वभाव के साथ संयोजित कर ब्रह्माग्नि में अर्पण करना अर्थात् ब्रह्म के निमित्त सृष्टि हित कार्य में प्रवृत करना यज्ञ में इनकी बलि करना हैं ।

तन्त्र के एक प्रसिद्ध लेखक ने अपने एक ग्रन्थ में बकरे को काम,

भैंसे को क्रोध, विलाव को लोभ, मेड़े को मोह, और ऊंट को मत्सर्य कहा है और इन्हीं विकारों के त्याग को पशबलि कहा है।

यजुर्वेद में ऐसे उदाहरण मिलते है, जिनसे यह अभिप्राय निकलता है कि अग्नि, वायु और सूर्य ही पक्षु हैं। यथा

अग्निः पशुरात्तेनायजन्त।
अर्थात् अग्नि पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया ।।
दायुः पशुरासीत्तं नायजन्त।
अर्थात् वायु पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया ।।
सूर्यः पशुपासीत्तोनन्यजन्न।
अर्थात् सूर्य पशु था, उस द्वारा यज्ञ किया ।।

एतरेय ब्राह्मण १।२।१० में 'पशवों व इवा हुआ इस पृथ्वी को ही पशु कहा गया है। क्या इन सबको काट-काट कर होमा जायगा? अन्न से बनी हुई वस्तु तथा (रोगी, पूरी आदि) खाद्य पदार्थों को भी पशु माना गया है।

चर्क संहिता में 'अर्ज' औषधि का वर्णन है—

अजाना—औषधि रज शृङ्गति विज्ञायते।
चरक सहित प्र०।

क्या उपरोक्त वाक्य में वर्णित अजा बूटी के स्थान पर बकरी को औषधि बनावेगा ?

महामारत में भी अजा का अर्थ औषधि और बीज ही किया गया है।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्य मिति वा वैदिकी श्रुतिः।
अज संज्ञानि बीजानि, छाँग तो हन्तुमर्हषु ।।
नेष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
महामारत शान्तिः ३३७ ।।

अर्थात् बीजों का यज्ञ में हवन करना चाहिए, ऐसी ही वेद की श्रुति है। अज सज्ञक बीज होते हैं। इसलिए बकरे का हनन करना

उचित नहीं, जिस कर्म में पशु की हत्या होती है, वह सज्जनों का धर्म नहीं।

वैद्यक ग्रन्थों में अनेक पशुवाचक शब्द आते हैं। यथा=अश्व= अश्व गन्धा। ऋषभ=ऋषभक कन्द। श्वान=कुकुरमुत्ता। बराह= बरायीकन्द। काक=काकमाची। अज = अजमोद। मत्सय = मत्सयाक्षी। लोभ=जटामाँसी। महर्षि=महिषाक्ष गुग्गुल। मेष=चकबड़, मेषपर्णी। मातुल=धतूरा। मृग = सहदेवी बूटी। पशु = मोथरा। कुमारी=धिवकुमारी। रुधिर= केशर। पेश = जटामांसी। हृद = दालचीनी।

पशुवाचक शब्दों के अन्य प्रकार के भी अर्थ होते हैं।

(१) अज या छाग—तीन या सात वर्ष के पुराने धान, राशि चक्र में की मेषेराशी।

(२) धेनु=धाना (अथर्व १३४। ३२) पृथ्वी, अन्तरिक्ष,द्योलोक, दिशाएं आदि (अथर्व ४।३६)।

(३) गौ=तण्डेले, शमीवृक्ष (ऋग्वेद १०। ३। १०) रश्मि, चन्द्रमा, दूध, चर्म, मनुष की डोरी जादि (निरुक्त अ० २, पा० २ खं० १—३)

(४) अश्व=तण्डल के कण (अथर्व० का० ११ सू० ३ पर्याय १, मं० ५) सूर्य, अश्वपर्णी या असगन्धा औषधि (यजु २१। १८), एक नक्षत्र आदि।

(५) अक्षा=सोप औषधि आदि (ऋग्वेद १०।२८।११)

(६) वृषभ=ओदन (अथर्व ११। १। ३५), बादन, ऋषभ औषदि आदि।

पुरुष सूक्त में लिखा है कि 'अवघ्नन् पुरुष पशून्'—अर्थात् ईश्वर को ही पशु मान यज्ञ में समर्पण किया, ईश्वर के अपने को यज्ञ अथवा बलि करने से ही सृष्टि हुई और ऋषि देवता आदि ने भी उन्हीं

की शक्ति की बलि अथवा प्रयोग कर सृष्टि यज्ञ किया यही आदि पशु-बलि हुई ।

ऊपर अनेक प्रकार के पशुबाचक शब्द बतलाए गए हैं जो हमारे साहित्य में उपलब्ध हैं । माँस लोलुपो ने केवल उससे स्थूल अर्थ को लेकर बलि करना आरम्भ कर दिबा, यह अर्थ का अनर्थ है । अशास्त्रोक्त है ।

बलिदान का तात्विक रहस्य

बलिदान शब्द बहुत ही उत्तम अर्थो में प्रयोग में लाया जाता है । जो व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य के लिए बलिदान हुये हैं, जनता उनका अपार सम्मान करती आई है । देश और जाति पर बलिदान होने वालों की महानता की छाप मानव हृदय पर पड़े बिना रह नहीं सकती । बलिदानी की भावनाएं, विचार और उद्देश्य इतने श्रेष्ठ और उच्च होते हैं कि उसके सामने वह अपने समस्त साँसारिक स्वार्थों को भूल जाता है । आत्मिक भूमिका में प्रवाहित होने वाला व्यक्ति ही उसका अधिकारी होता है क्योंकि जिसे अपने शरीर, परिवार और धन सम्पत्ति से मोह है, वह बलिदान की चारदीवारी से कोसों दूर रहता है । इसके विपरीत जो मसुष्य इन नाशवान् वस्तुओं से ऊपर उठ जाता हैं, वही अपने आपकी समर्पण करने का साहस कर सकता है । यही कारण है कि ऐसे ही व्यक्ति जकता के मनों पर अपनी छाप छोंड़ जाते हैं, उन्हीं की जय जयकार होती है, स्मारक बनने हैं, वार्षिकोत्सव होते है, लोग उनकी जीवन घटनाओं का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं ।

बलिदान वह वस्तु है, भावनाओं की यह उच्च स्थिति है जहाँ जाकर साधक अपनेपन को भूल जाता है । यह एक ऐसी स्वस्थ परम्परा है जिसका जीवित रहना आवश्यमभावी है । इसी के ऊपर राष्ट्रों और जातियों का भविष्य टिका हुआ है । जिस देश के नागरिक केवल

अपने स्वार्थ का ही ध्यान रखते है और परमार्थ, त्याग और बलिदान की ओर नहीं झुकते, वह देश और जाति उन्नति का मार्ग नहीं ढूढ़ सकती ।

शाहजहाँ बादशाह की लड़की का इलाज करके एक अंग्रेज डाक्टर ने अपने स्वार्थों का बलिदान करके अपने देश के लिए एक सुविधा प्राप्त करली थी । उसी के कारण अग्रेज भारत में आए, व्यापारी की है हैसियत से आकर शासक बन गए और भारत को जोंक की तरह चूस कर चले गए । यदि सर तामस राव अपने लिए कुछ धन सम्पति की आकांक्षा करता तो आज भारत का इतिहास ही कुछ और होता ।

जिन देश वासियों की ऐसी उच्च भावनाएँ रहती हैं, वही देश आकाश में सितारों की तरह चमकते हैं । देश की स्वतन्त्रता पर मर मिटने वाले भगतसिंह आदि को क्या देश भूल जायगा ? सुभाष बोस जैसे महारथियों को, जिन्हें परतन्त्रता की जंजीरों को तोड़ने के लिए हजारों संकटों का सामना करना पड़ा, देश वासी अपने मानस पटल से कैसे दूर कर सकेंगे ? जिन्होंने अपने जीवन, समस्त धन सम्पति किसी विशेष उद्देश्य के लिए खपा दी है जनता के हृदय सम्राट कैसे न बनेंगे और इतिहासकार उन्हें कैसे अपनी लेखनी से दूर रख सकेंगे ।

इस बलिदान की परम्परा का हमारे देश में असाधारण मान रहा है । यहाँ एक ऐसा वर्ग विशेष था जो अपने स्वार्थो की परवाह न करते हुए निरन्तर राष्ट्रोत्थान में प्रयत्नशील रहता था । उन्होंने अपनी कामनाओं, इच्छाओं ओर अभिलाषाओं का बलिदान कर दिया था, वह परिवार में पालन-पोषण के लिए भी चिन्तित नहीं रहते थे । जो किसी ने दे दिया, उसे पाकर ही सन्तुष्ट रहते थे और निरन्तर पठन-पठन, मनन, चिन्तन, साधना, तप में मग्न रहते थे । देश में श्रेष्ठ विचारों के प्रसार उत्तरदायित्व उन्हीं पर था । चसलिये निर्धन ब्राह्मणों का सांसारिक दृष्टि से धनवान राजा महाराजाओं को भी उनका

विशेष सम्मान करना पड़ता था । वह उनके आदेश के बिना कोई भी कार्य करने का साहस नहीं कर सकते थे। जब से ब्राह्मणों ने अपनी इस त्याग वृत्ति का बलिदान कर दिया और अपनी स्वार्थपरता और लोभ में लिप्त हो गए, तभी से उनका पतन आरम्भ हुआ।

इस त्याग, बलिदान की परम्पर को बनाए रखने और जीवित रखने के लिये ही हमारे धर्म शास्त्रों में आचार्यों ने नाना प्रकार के बिधान बनाए हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य के अनुरूप है; जिस तरह से अलग-अलग स्तर के मनुष्यों लिए अलग-अलग शिक्षा, साधना, उपासना जादि के विधान बनाए गए हैं, उसी तरह बलिदान के भी कई स्तर हैं। इससे धीरे-धीरे साधक ऊपर की ओर बढ़ता जाता है।

पशुता से बचते रहने और मनुष्यता के विकास के लिए आस्तिकता की अत्यन्त आवश्यकता है। उससे बिना मनुष्य स्वेच्छाचारी हो जाता है। इसके लिए हमारे यहाँ नाना प्रकार के विधान हैं। अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिए अपने को प्रिय लगने वाली वस्तुओं का त्याग, बलिदान करना होता है। यह त्याग वस्तु के मूल्य और सौदर्य पर निर्भर नही करता वरन् साधक कीं भावना पर अवलम्बित हैं। भावना ही यहां प्रधान रहती हैं। भगवान तो श्रद्धा पूर्वक समर्पण किए हुए एक तुलसी पत्र से ही प्रसन्न हो जाते हैं और अश्रद्धा पूर्वक दिए गए राज्य प्रसादों का भोग लगने पर भी वह टस से मस नहीं होते। हमारे इतिहास पुराणों में ऐसी कथाएँ आती है जिसमें अभिमान युक्त हीरे जवाहारत देने वाले राजा की अपेक्षा प्रभु एक निर्धन ब्राह्मण की भक्ति भावना से केवल पुष्पों से ही रीझ गए। बलिदान की इस भूमिका में पदार्पण करने वाले साधक ही आगे बढ़ते हैं।

भावना से उँचा उठकर साधक विचार की सीमा में आता है। मनुष्य की महानता या क्षुद्रता विचारों पर ही निर्भर करती है। इन्हें सात्विक आहार सर भी ध्यान देना पड़ता है।। माँस, मदिरा, बीड़ी, सिगरेट का सेवन करने वालों के विचारों में गदलापन आ जाता है,

वह धुन्धलापन उन्हें पथ भ्रष्ट कर देता है, सन्मार्ग से च्युत कर देता है यह ऐसी वस्तुएँ हैं जो उसके शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी प्रकार के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। उन्हें ग्रहण करने वाला दिन प्रतिदिन पतन की ओर ही जाता है। अतः जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले को इनका बलिदान करना चाहिए। तभी विचार रूपी देव की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

राजसिक वस्तुओं के सेवन से भी सात्विकता ढकी रहती है। वृतियां का निर्माण अन्य तथ्यों के अतिरिक्त आहार पर भी है। राजसिक वन्तुओं के सेवन से कामुकता की वृद्धि होती है। काम का घटना या बढ़ना जिह्वा की लोलुपता पर भी आधारित है। जिह्वा को नियन्त्रण में रखने वाला साधक कामेन्द्रिय को आसानी से काबू में कर सकता है। इससे सभी इन्द्रियों का संयम हो जाता है। जिह्वा पर नियन्त्रण रखने के लिए अपनी प्रिय वस्तुओं का बलिदान करना पड़ता है। तीर्थों में जाने वाले यात्री वहाँ पर अपनी प्रिय वस्तुओं का त्याग कर आते हैं। इसक अभिप्राय इस त्याग वृत्ति के बढ़ाने से ही है। इसमें लौंग मिठाई, प्याज, लहसुन, व मादक वस्तुओं का बलिदान कर देते हैं।

आहार-विहार का ध्यान रखता हुआ साधक दुर्गुणों को त्यागने और सद्गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह काम रूपी बकरे, क्रोध रूपी भेड़, मोह रूपी महिष आदि का बलिदान करता है। इन पशुओं बलिदान करके 'पशु-मनुष्य' मनुष्य बन जाता है। फिर 'मनुष्य-मनुष्य' अपने मनुष्योचित गुणों का विकास करता हुआ देवत्व की ओर बढ़ता है। उसका जीवन एक आदर्श बन जाता है। सत्य, प्रेम, न्याय, दया, परोपकार, ईमानदारी, सदाचार, सन्तोष आदि गुण स्वतः उसकी ओर आने लगते हैं। उसका विवेक जाग्रत हो जाता है। वह सभी प्राणियों का अपना समझता है। उसमें

अपनापन देखता है, प्रभु का साक्षात्कार करता है, कण-कण में उसे वही दिखाई देता है। तब वह किससे छल, कपट, धोखा करे और किससे झूँठ बोले। किसको हानि पहुँचाए और किससे प्रेम करे। उसे दूसरों का सुख, दुःख अपना ही सुख दुःख लगने लगता है। ऐसा अनुभव करने पर वह अपने आपको भूल जाता है और वह पीड़ितों की पीड़ा का अनुभव कर तड़पने लगता है और उनका दर्द दूर करने के लिए अपनी कहीं जाने वाली समस्त धन सम्पत्ति को न्योछावर कर देता है, शरीर का मोह त्यागकर उसकी आहुति उस जन कल्याण यज्ञ में दे देता है। वह अपनेपन का बलिदान कर देता है, अपने को सबमें और सबको अपने में देखता है। अपनी जीवात्मा को काटकर परमात्मा पर आहुति चढ़ा देता है। इस बलिदान के द्वारा परमात्मा से अज्ञान वश जीवात्मा की जो प्रथकता दीखती है, वह एक बारगी ही नष्ट हो जाती है और साधक उसके स्वरूप में स्थित होकर अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। सबसे उत्तम कोटि का बलिदान यही आत्म बलिदान है जिससे साधक धन्य हो जाता है। सब प्रकार के सुख दुःखों से निवृत्त होकर आनन्द के समुद्र में डुबकियाँ लगाता है।

हमारे धर्माचार्यों की जितनी दूरदर्शिता की सराहना की जाए उतनी ही कम है क्योंकि धीरे-धीरे वह एक पशु को देव बना देते हैं। इस प्रक्रिया को ठीक प्रकार से न समझने के कारण हमारे धार्मिक कर्मकाण्डों में विकृतियाँ उत्पन्न हो गईं और निर्दोष पशुओं की हत्या होने लगी। वास्तविकता को न समझने का यही परिणाम होता है। बलिदान का रहस्य जानकर हमें अपनी पूर्व परम्परा का अनुकरण करना चाहिए।

उपरोक्त 'विवेचन' से स्पष्ट है कि बलि का वास्तविक अभिप्राय अपने दुर्गुणों, द्रव्यकृतियों व दुष्कर्मों का त्याग करना है। दुर्गुण स्थूल व सूक्ष्म, भौतिक व आत्मिक दोनों प्रकार से स्वास्थ्य का विध्वंस करते हैं क्योंकि इससे निरन्तर शक्ति का व्यय होता रहता है। षट् दिपद्मों का

भी यही परिणाम होता है। काम से शरीर ही नहीं मन भी निर्बल होता रहता है। क्रोध से नसें जलती हैं। लोभ पाप का मूल है और विभिन्न प्रकार के दुष्कर्म कराता है। विवेक के अभाव में ही मनुष्य दुष्कर्म करता है। यह मानसिक शक्ति के खोखलेपन का सूचक है। मोह शक्तिहीनता का स्वयं प्रमाण है क्योंकि मोह करने वालों का मन अपने नियन्त्रण में नहीं होता, वह किसी और बिन्दु पर केन्द्रित होता है, उसकी ओर आकर्षित रहता है, उसे आकर्षित नहीं कर सकता। अहङ्कार से व्यक्ति अपनी सीमित शक्तियों पर गर्व करता है और दूसरों को दबाने का प्रयत्न करता है। शक्ति सम्पन्न साधक में अहङ्कार नहीं नम्रता का विकास होता है। वह ब्राह्मण की अपार शक्तियों से जब अपनी सीमित शक्तियों की तुलना करता है तो उसका अहङ्कार विलुप्त हो जाता है।

काम, क्रोधादि मानव के शत्रु माने गये हैं क्योंकि यह मानवोत्थान के मार्ग का व्यवधान बने रहते हैं और निरन्तर शक्तियों का विनाश करते रहते हैं। जो इन्हें नियन्त्रण में रखता है वही शक्ति विकास के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। इसके त्याग का अभ्यास बनाये रखना ही बलि कहलाता है जो मन्त्र योग का एक आवश्यक अङ्ग है। इसे अपनाने का उद्देश्य यह है कि मन्त्र साधक की शक्ति व्यय के सभी मार्गों को रोक देना चाहिए। तभी मन्त्र साधना द्वारा जिस शक्ति का विकास होगा वह उचित व सुरक्षित रह पाएगी।

——

याग

याग की सिद्धि से देवता प्रसन्न होते हैं। अन्तर व बाह्य दो प्रकार के याग होते हैं। निश्चय रूप से अर्न्तयाग श्रेष्ठ माना जाता है। मानस याग के लिए शरीर शुद्धि, देश शुद्धि आवश्यक नहीं है। जिन १६ दिव्य देशों का वर्णन पहिले किया जा चुका है, उनमें से किसी में भी याग का साधन किया जा सकता है। बाह्य व अन्तर्याग के तत्वज्ञान का विश्लेषण करना आवश्यक है।

तांत्रिक भावनाओं के अनुसार पूजा के भी चार अलग-अलग प्रकार हैं। यह अनुभव करना कि जीवात्मा और परमात्मा एक हैं, हर वस्तु ब्रह्ममय है, इस सृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ब्रह्म-भाव कहलाता है। यह साधक की उच्चतम स्थिति है। जप और प्रार्थना, स्तवन उससे भी नीचे वाली श्रेणी की पुजा है। हृदय में योग-साधना के माध्यम से इष्ट देवता का अटूट ध्यान निम्न श्रेणी की किन्तु मध्यम है, चौथी पूजा बाह्य जगत में दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों की है। साधक और देवता में जब पूरा करने और ग्रहण करने का भाव विद्यमान रहता है तो स्वाभाविक रूप से इससे द्वैत भावमा का ही पोषण होता है। ब्रह्मभाव के अतिरिक्त सभी स्थितियों में द्वैत भावना रहती है। 'जससे अद्वैत तत्व का अनुभव कर लिया है और जानता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है, जब साधना करने वाले और जिसकी पूजा की जा रही है, इसका कोई मान नहीं होता और न ही जप, तप पूजा, व्रत, ध्यान, धारणा आदि योगियों का ही ध्यान रहता है, तभी पूजा की अन्तिम स्थिति मानी जाती है। जब तक यह स्थिति न आए, समझना चाहिए कि अभी पूजा अधूरी है और प्रयत्न करना शेष है।

'चिद्गगनचन्द्रिका' नामक आगम ग्रन्थ में चार प्रकार की पूजा का विधान बताया गया है—१ चार, २ राव, ३ चरु ४. मुद्रा। 'राव' ही इसमें प्रमुख है। आत्मशक्ति के साक्षात्कार को ही 'राव' कहा जाता है। चार आचार से चरु हव्य से और मुद्रा से सम्बन्धित हैं। ठीक भी है आरम्भिक साधक को पहले बाह्य उपकरणों का सहारा लेना पढ़ता हैं, फिर धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता है। उन्नति की कसौटी यहीं है कि उसे फिर बाह्यपूजा की अपेछा नहीं रहती। साधक के लिए आँतरिक पूजा के द्वार खुल जाते हैं। तत्व की भाषा में बहिर्याग से अन्तर्याग की ओर पग बढ़ाता है। बहिर्याग के मुख्यतः पाँच अङ्ग हैं— जप, होम, तर्पण, मार्जन और ब्रह्मयोजना। अन्तर्याग के पांच अङ्ग हैं—पटल, पद्धति, धर्म, स्तोत्र और नामसहस्र। पटल का अभिप्राय है— षट्चक्रों और सहस्रदल कमलों में देवी के स्वरूप की भावना करना। उस मन्त्र पटल से पांच या सोलह उपचारों से हृदयादि पीट में देवी-पूजन पद्धति कहलाता है। इष्ट मन्त्र के अक्षरों से स्थूल शरीर पर कवच बनाना, देवी के विभिन्न नामों से शरीर की सुरक्षा की भावना करना धर्म कहलाता है। स्मृति जागृत रखने के लिए देवी के रहस्यमय स्तीत्रों का स्तवन और उनके सहस्र नामों में से विशेष गुणपरक नामों का ध्यान करके आतरिक रूप से प्रणाम करना होता है।

अन्तर्याग की व्याखा इस प्रकार से की गई है—

पृथिव्यात्मकगन्धः स्यादाकाशात्मकपुस्पकम्।
धूपौ वाय्वात्मकः प्रोक्तो दोपो वन्हयात्मकः परः॥
रसात्मकं च नैवेद्य पूजा पञ्चोपचारिका।

"पृथ्वी तत्व कों गन्ध, आकाश तत्व को फूल, वायु तत्व को धूप, तेजस्तत्व को दीप, रसात्मक जल तत्व को नैवेध के रूप में भावना करके पञ्चोपचार पूजा की जाती है। इसे हो अन्तर्याग कहते हैं।"

समझने की सुविधा के लिये तन्त्र में तीन प्रकार की पूजा मानी
...ाती है—उत्तम मध्यम ओह अधम, जिसे परा', 'परापरा' और

'अपरा' भी कहा जाता है। इन तीन के अतिरिक्त एक अध्यात्म पूजा भी है। तान्त्रिक शास्त्रियों का विचार है कि भौतिक युग में लोक-मानस का आत्मिक स्तर इतना गिर गया है कि साधारण व्यक्तियों को तन्त्र की अधम पूजा का भी अधिकार नहीं है।

तन्त्र की परम पूजा का स्पष्टीकरण करते हुए 'संकेत पद्धति' में कहा गया है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः।

बाह्य पुष्पादि द्रव्यों से जो पूजा की जाती है, वह श्रेष्ठ पूजा नहीं हैं। विश्व में इसी का विस्तार है परन्तु जब अपनी स्वरूप-महिमा में साधक की स्थिति दृढ़ हो जाती है, तभी वह परा-पूजा कहलाने योग्य है, क्योंकि इसमें द्वैतभाव का अभाव हो जाता है और अद्वैत भावना की स्थापना। इस अद्वैत भाव का विकास ही परा-पूजा कह-लाती है। मध्यम पूजा में शिव के साथ अभेद की अनुभूति नहीं होती। परन्तु वह इसके द्वार पर अवश्य खड़ा रहता है क्योंकि उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जड़-पदार्थों का अद्वैत में लय हो रहा है। समय पाकर मध्यम श्रेणी का साधक परा-पूजा का अधिकारी बन जाता है, जैसे कि वह अधम पूजा से मध्यम में आया था। आरम्भ में तो साधक को साधारण पूजा का ही सहारा लेगा पड़ता है। साधारण पूजा में बाह्य उपकरणों का प्रयोग होता है। तन्त्र में ६४ उपचार, १८ उपचार, १६ उपचार, १० उपचार फिर ५ उपचारों से पूजा का विधान बताया गया है।

इन उपचारों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

६४ उपचार

पाद्यम्, अर्घ्यम्, आसनम्, सुगन्धितैलाभ्यङ्गम्, मज्जनशालाप्रवेश-नम्, मज्जनमणिपीठोपवेशनम् दिव्यस्नाननीयम्, उद्वर्तनम्, उष्णोदकस्ना-

नम्, कनककलशस्थितसर्वतीर्थाभिषेकम्, धौतवस्त्रापरिमार्जनम्, अरुण-दुकूलपरिधानम्, अरुणदुकूलोत्तरीयम् अलिपमण्डपप्रयेशनम्, आलेपमणि-पीठोपवेशनम्, चन्दनागुरुकुंकुपसृगमदकर्पूर कस्तूरीरोचना दिव्यगन्ध-सर्वांगानुलेपनम्, केशभारस्य कालागुरुधूपमल्लिकामालतीजाती चम्प-काशोकशतपत्रपूगकुहरी, पुन्नागकह्लारयूथीसर्वर्तुकुसुममालाभूषणम्, भूष-णमण्डपप्रवेशनम्, भूषणमणिपीठोपवेशनम्, नवरत्नसुकुटम्, चन्द्रशकलेम्, सीमन्तसिन्दूरम्, तिलकरत्नम्, कालाञ्जनम्, कर्णपालीयुगलम्, नासानर-णम्, अधरयावकम्, ग्रथनभूषणम्, कनकचित्रपदकम्, महापदकम्, मुक्ता-वलीम्, एकावलीम्, देवाच्छन्दकम्, केयूरयुगलचतुष्कम्, वलयावलीम्, ऊर्मिकावलीम्, काञ्चीदामकटिसूत्रम्, शोभाख्याभरणम्, पादकटकयुगलन्, रत्ननूपुरम्, पादांगुलीयकम्, एककरेपाशम्, अन्यकरेअंकुशम्, इतरकरेयु, पुण्ड्रेक्षुचापम्, अपरकरे पुष्पवाणान्, श्रीमन्माणिक्यपादुकाम्, स्वसमान-वेशास्त्रावरणेदेवताभिः सह सिंहासनरोहणम्, कामेश्वरपयङ्कोपवेशनम्, अमृताशनम्, आचमनीयम्, कर्पूरवाटिकाम्, आनन्दोल्लासविलासहासम्, मंगलारात्रिकम्, श्वेतच्छत्रम्, चामरयुगलम्, दर्पणम्, तालवृन्तम्, गन्धम्, पुष्पम्, धूत्रम्, दीपम्, नैवेद्यम्, पानम् पुनरीचमनीयम—६४

(१८) उपचार :—

अष्टादशोपचार ये हैं—आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नालीय, वस्त्र, यज्ञोपवी, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, दर्पण, माल्य, अनुलेपन और नमस्कार=१८

(१६) उपचार :—

षोडशोपचार ये हैं--पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, आभू-षण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमनीय, ताम्बूल, स्तवपाठ, तर्पण और नमस्कार=१६

१० उपचार —

दशोपचार ये हैं—पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, आचमनीय, गन्ध; पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य = १०

५ उपचार—

पूजा के विभिन्न प्रकारों और माध्यमों का तांत्रिक शास्त्रियों ने इस प्रकार निरूपण किया है—

पूजा का रहस्य

पञ्चापचार ये हैं--गन्ध, पुष्प, धूप और नैवेद्य = ५

आवाहन—ईश्वर सर्वव्यापी हैं। इसलिए उसका आवाहन व्यर्थ हैं, यह धारण निर्मूल है। यह तो साधना की सुविधा के लये किया जाता है। इससे विश्वास की दृढ़ता होती है। साधक यह धारणा करता है कि उसका इष्टदेव सामने उपस्थित है। आरम्भिक साधना में यह आवश्यक है।

आसन—हृदय में पवित्र भाव से इष्टदेव की प्रतिष्ठापना करना।

पाद्य—पञ्च तत्वों से निर्मित जगत में उत्पन्न मल को ईश्वर ये एकात्मक भावना रूपी जल से प्रक्षालन करना।

स्नान—जल से पञ्चभौतिक शरीर को पवित्र करना स्नान कहलाता हैं। सत्-चित् आनन्दरूपी ब्रह्म से अपनी अन्तरात्म को पवित्र करना आध्यात्मिक स्नान है।

नैवेद्य—में अमृतांश की भावना है।

आचमन—वाणी, मन और आन्तरात्मा से पवित्रता अनुभव करने तथा भविष्य में इन तीनों को अधिक पवित्र बनाने की भावना के साथ तीन बार आचमन किया जाता है। पहले आचमन के साथ वाणी को स्नान कराके पवित्र किया माना जाता है। दूसरे से मन को और तीसरे से आत्मा को। अपनी बाह्य और आतरिक पवित्रता देय०उद्देश्यों की, पूर्ति के लिये आवश्यक। इस तथ्य को आपको स्मरण दिलाने के लिये

तीन आचरण किये जाते हैं। जल ब्रह्म का रूप है, उससे एकीकरण का भाव है—आचमन।

प्रदक्षिणा—जो विकार और भाव-साधना तथा अध्ययनकाल में प्राप्त हुए हैं, उन्हें क्रियारूप में परिणत करने के लिए कदम बढ़ाता प्रदक्षिणा का उद्देश्य है। धर्म, अर्थ, काम,मोक्ष की चतुर्विध जीवन-साधना के लिए चार परिक्रमा की जाती है।

गन्ध—दुर्भाग्य की सम्भावना को नष्ट करने और धर्म का ज्ञान प्रदान करने के कारण गन्ध नाम पड़ा।

अक्षत—अक्षत अन्न का साधन है, पापों की निवृत्ति करते हैं और परम सत्य से परिचय कराते है।

पुष्प—धन, सम्पत्ति, पुण्य की वृद्धि करने और पापों के समूह को नष्ट करने ने कारण पुष्प कहलाते हैं।

धूप—धूप बदबू को दूर करती है और परमानन्द प्रदान करती है।

दीप—दीर्घा, अज्ञानता, गहरे अन्धकार को दूर करके परम सत्य-परातत्व को प्रकाशित करता है।

बलि—बलि का अभिप्राय पापों ओर दुष्प्रवृत्तियों का नाश है।

पान—पान पाशों को खोलता है, नरक से बचाता है और पवित्र भावों का उदय करता।

अर्घ्य—धन की वृद्धि करने और पाप की निवृत्ति करने के कारण अर्घ्य कहलाता है।

प्रसाद—प्रकाश के रूप में आनन्द प्रदान करने और परम सत्य के दर्शन कराने के कारण प्रसाद कहलाता है। तन्त्र में अद्वैतभाव के ग्रहण को गुरुप्रसाद कहते हैं।

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो,
यः प्रसीदति पदार्थमस्के।

तत्प्रसादमिह तत्वशोधनं ।
प्राप्य मोदमुपयाति भवुकः ॥

स्वप्रकाश रूपी शिव गुरु जब पदार्थ मस्तक में प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्वों की शुद्धि हो जाती है और स्वाभाविक रूप से परमानन्द की प्राप्ति होती हैं ।

गुरु-प्रसाद की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है –

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरकात्सताम् ।
ईशप्रसादस्तद्रूपः सुलभश्चात्र सदगुरुः ॥

अर्थात् 'ईश्वर की आराधना करने की बुद्धि से सत्पुरुषों को अपने धर्म का आचरण करने से उसी स्वरूप वाला ईश्वर का प्रसाद होता है, इसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु की सुलभता होनी चाहिए ।'

सदगुरोः सम्प्रसादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्ततः ।
दुर्भावनातिरस्कारद्विज्ञानं मुक्तिदं क्षणात् ॥

अर्थात् 'सद्गुरु के भली-भाँति प्रसाद के होने पर इसके प्रतिबन्धो का क्षय हो जाया करता है बुरी भावनाओं के तिरस्कार से क्षणमात्र में मुक्ति के प्रदान वाला विज्ञान प्राप्त होता है ।'

प्रणाम चित्त को विषय-वासनाओं से दूर करके ब्रह्म में लीन करने की क्रिया को प्रणाम कहते हैं ।

विसर्जन––पूजा की समाधि पर इष्टदेव का भावनापूर्ण विसर्जन किया जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम आवाहन भी किया गया था । जब पूजा सम्बन्धी कोई काम करना शेष नहीं रहता, तभी विसर्जन होता है । आध्यात्मिक भाषा में इसे ज्ञान का स्तर मानते हैं । पूर्ण सन्तोष होने पर ही यह भावना उत्पन्न होती है कि अब कोई कार्य करना शेष नही रहा है । साधना की सफलता का भी यह चिन्ह है ।

आसन-पूजन

बाह्य पदार्थों और उपचारों से जब साधना में परिपक्वता होने

लगती है तो इन पदार्थों के माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती, इनकी मानसिक रूप से भावना ही पर्याप्त रहती है। श्री पूर्व आगम शास्त्र में कहा है :—

द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते।
गन्ध पुष्पादिगन्धस्य ग्रहण यजन स्मृतम् ॥
षड रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते।
यशेवोच्चारयेद् वर्ण स जपः परिकीर्तितः ॥

अर्थात् 'द्रव पदार्थ के स्पर्श को स्नान कहते हैं। गन्ध-पुष्पादि की गन्ध ग्रहण करना अर्चना कहलाती है। षड्रसों का आस्वादन नैवेद्य है और वर्णों का उच्चारण जप कहा जाता है।'

भावोपनिषद् (३) में मानस-पूजन का विस्तृत निरूपण है—

सलिलं सौहित्यकारण सत्तवं कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। आस्ति नास्तीत कतव्यता उपाचरः। बाह्याभ्यन्तः करणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्वित्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तः कारणनामेकरूपविषय ग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपर्दकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदामोदानन्दासनं दानमध्यम स्वच्छ स्वतः—सिद्धनित्याचमनीयम्। चिच्चन्द्रमयोसर्वाङ्गस्रवण स्नानम्। चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिऽऽत्मब्रह्मग्रन्थिभद्रसतन्सुब्रह्म सप्तविंशतिधाभिन्नत्वेनेच्छाज्ञानक्रियाऽऽत्मब्रह्मग्रन्थिभद्रसतन्सुब्रह्म नाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरण विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणनुसंधान कुसुमम्। तेषामेव सर्वदा स्वीकरण धूपः। पवनावच्छिन्नो र्ध्वंज्वलनमसच्चिदुल्काऽऽकाशदेहो दीपः। समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम्। अवस्थात्रयकीकरण ताम्बूलम्। मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यतं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्त गतागतरूपेणप्रादक्षियम्। तुर्यावस्था नमस्कारः। देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं

बलिहरणम । सत्वमस्ति कर्तव्यमकर्तव्मौदासीन्यनित्यात्मविला-
पनं होमः । स्वयं तत्पादुका निमज्जनं परिपूर्णध्यानम् ।

अर्थात् 'सलिल तथा गरुमन्त्रात्मक देवताओं का एकीकरण रुद्र जो सत्व ही कर्तव्य है, इस भावना से युक्त ही इसका उपचार (पूजा) है। ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, यह जो कर्तव्यता है यह भी उपचार है। ब्रह्म तथा आभ्यन्तर के कारणों का रूप ग्रहण की योग्यता ही यही आवाहन है। उसका बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों का एक रूप विषयों का ग्रहण करना ही आसन है। केवल कुम्भक से सुषुम्ना प्रवेश के अनन्तर मूलाधार तथा भौंहों के मध्य में स्थित प्रत्येक और परनाम के लाल तथा सफेद पदों का एकीकरण ही पाद्य है। अपने शिष्यों को यह उपदेश करना कि ब्रह्माभिन्न सदोज्वल दामोदानन्द रूप से स्थिति हमेशा करनी चाहिए, यह अर्घ्य है। स्वयं स्वच्छ तथा स्वतः सिद्ध ही आचमनीय है। चिद्रूप चन्द्रमयी के सर्वाङ्गों का स्मरण ही स्नान है। चिद् अग्नि स्वरूप परमात्मिक शक्ति का स्फुरण ही (प्रकाशित होना) वस्त्र है। इच्छा आदि तीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से प्रत्येक के जो २७ भेद तथा इच्छाज्ञान तथा क्रिया-शक्ति स्वरूप ब्रह्मग्रन्थि, मन्द्रस्स नाड़ी सुषुम्ना, यही ब्रह्मसूत्र है क्योंकि यही ब्रह्म की द्योतिका है। अपने से भिन्न वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। स्वच्छ स्वरूप जो ब्रह्म उससे कुछ भिन्न नहीं है यही स्मरण करना गंध है। सब विषयों का मन की स्थिरता से अनुसंधान ही फूल हैं और उन्हीं को स्वीकार करना ही धूप है। वाय्वात्मक (वायुशक्ति) योग के समय प्राण अपान की एकता से सुषुम्ना में सत्, चित्, आनन्द उल्कारूप जो (प्रकाश है) आकाश देह है, वही दीप हैं। अपने से भिन्न सभी विषयों में मन की गति का जाना-आना रुक जाना (न लाना) ही नैवेद्य है। तीनों अव-स्थाओं का एकीकरण ही पान है। मूलाधार बार-बार गतागत करना (आना-जाना) ही प्रदक्षिणा है। चतुर्थी अवस्था में स्थित रहना ही नमस्कार है। देह की जड़ता में डूबना (अर्थात् आत्मा को चैतन्य मान-

कर, देह को जड़ मानकर स्थित रहना ही बलि है। अपनी आत्मा सत्व स्वरूप है, यह निश्चित करके कर्तव्य, अकर्तव्य, उदासीनता, नियात्मक, विलापन (आत्म-चिन्तनासक्ति) ही यज्ञ-होम है तथा उस परब्रह्म की पादुकाओं में डूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है। सारांश यह हुआ कि जैसे पूजा के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, दक्षिणा, नमस्कार, प्रदक्षिणादि अपेक्षित होती है, वैसे ही परब्रह्म की प्राप्ति के लिये ऊपर बताई गई वस्तुओं का साधन कर लेना ही तद् तद् धूप, दीप आदि है। इन्हीं से वह ब्रह्म दृष्टि-गोचर हो जाता है।'

भगवान् शङ्कराचार्य 'शिवमानस पूजा स्तोत्र' से भी यही ध्वनि निकलती है :—

आत्मा त्वं गिरजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोप भोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
सचारः पदयो प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिल शम्भो तवाराधनम्॥

शिव को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि 'तुम्हीं मेरी आत्मा हो, गिरिजा बुद्धि हैं, प्राण सहचर हैं, मेरा शरीर तुम्हारा घर है। विषय-भोग के लिए मेरे इन्द्रिय-व्यापार ही पूजा है, निद्रा समाधिस्थिति हैं। मेरे पद-संचार तुम्हारी प्रदक्षिणा और बोलना तुम्हारा स्तोत्र है। मेरे समस्त कर्म तुम्हारी आराधना हैं।'

भक्ति-सुधा (प्रथम खण्ड) में स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती ने मानस पूजा का विवेचन इस प्रकार किया है :—

'नामरूपात्मक जगत् में सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाद्यसमर्पण है। सूक्ष्म जगत् में ब्रह्म-भावना ही अर्घ्यसमर्पण है। भावनाओं में ब्रह्म-भावना ही आचमन है। सर्वत्र सत्वादि गुणों में चिदानन्द भावना ही स्नान है। चिद्रूपा कामेश्वरी में वृत्यविषयता का चिन्तन करना ही प्रोञ्छन हैं। निरञ्जन तत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि की भावना ही विविध आभूषणों का अर्पण है। स्वशरीर घटक

पार्थप्रपञ्च में चिन्मात्र भावना ही गन्धसमर्पण है। आकाश में चिन्मात्रत्व की भावना करनी पुष्प-समर्पण हैं। वायु की चिन्मात्र भावना धूप-समर्पण है, तेज में चिन्मात्रत्व की भावना दीपसमर्पण है। अमृतत्व की भावना नैवेद्यार्पण हैं। विश्व में सच्चिदानन्द भावना करनी ही ताम्बूल समर्पण है। वाणियों का ब्रह्म में उपसंहार ही स्तुति हैं। वृति-विषय के जड़त्व का निराकरण ही आरात्तिक्य है। वृत्तियों को ब्रह्म में लय करना ही प्रणाम है।'

आदर्श पूजन का एक और रूप शास्त्र में प्रस्तुत किया गया हैं—

शिवशक्तिपरां पूजां योगेनैव समाचरेत्।
मन्त्रोदकैर्विना सध्यां पूजाहोमैर्विना जपन्।
उपाचारैर्विनायाग योगी नित्यं समाचरेत्।
यमादि नियमैः पुष्पैः आत्मैकादशभिः परै।
दशदिक्षु तथा मध्ये यजेत परमेश्वरम्।
ध्यानिनां हि वपुः सूक्ष्मं भवेप्रत्यक्षमैश्वरम्।
ध्यान यज्ञरतास्तस्मात् देवान् पाषाणमृण्मयान्।
नायन्तं प्रजिपद्यन्ते शिवयाथात्म्वेवेनात्।

अर्थात् 'जो साधक योग के माध्यम से शिव-शक्ति की पूजा करते हैं, उनकी बिना मन्त्र और जल के संध्या होती हैं, उनका जप बिना पूजा और होम के होता है। उनका नित्ययज्ञ बिना सामग्री के होता है। उनके लिये पाँच यम, पांच नियम और ग्यारहवां मन पुण्य रूप होते हैं, जिनसे दसों दिशाओं और शरीर के मध्य में ईश्वर का पूजन करते हैं। इस तरह से परमेश्वर की आराधना करने वाले साधकों के समक्ष परमेश्वर का ज्योतिर्मय सूक्ष्म शरीर प्रकट होता है। ध्यान यज्ञ में रत साधक जिसे शिव के ज्योतिर्मय रूप के दर्शन हो जाते हैं, उन्हें पाषाण और मृत्तिका के बने देवताओं की पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती।'

'आत्मपूजोपनिषद्' के अनुसार :—

तस्य निश्चन्तनं ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकारणमावाहनम् निश्चलज्ञानमासनम् । समुन्मनीभाव:पाद्यम् । सदामनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिराचमनीयम् । वराकृतप्राप्तिः स्नानम् । सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्धः । दृगविशिष्टात्मानः अक्षता । चिदादीप्तिः पुष्पम् । सूर्यात्मकत्वं दीपः । परिपूर्णचन्द्रामृतरसैकीकरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहंभावो नमस्कारः । परमेश्वरस्तुतिर्मौनम् । सदा सन्तोषो विसर्जनम् । एवं परिपूर्णराजयोगिनः सर्वात्मक पूजोपचारः स्यात् । सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति । सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीति मुमुक्षणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति ।

अर्थात् —'आत्मा का निरन्तर चिन्तन ही ध्यान है । सभी कर्मों का त्याग देना आवाहन, स्थिर ज्ञान आसन, उन्मनी भाव पाद्य और उसकी ओर मन लगाये रखना ही अर्घ्य है । आत्मा की दीप्ति ही आचमनीय है । वर प्राप्ति स्नान, और सर्वात्मक रूप दृश्य का विलय गंध है । अन्तर्ज्ञानचक्षु अक्षत्, चिद् का प्रकाश पुष्प और सूर्यात्मकता (अर्थात् अपने में सूर्य का भाव) दीपक है । परिपूर्ण चन्द्र के अमृतरस का एकत्व नैवेद्य और निश्चलता प्रदक्षिणा है । सोऽहं भाव नमस्कार है । (आत्म रूप) परमेश्वर की स्तुति मौन रहना है । सदैव सन्तुष्टि विसर्जन है । इस प्रकार परिपूर्ण राजयोगी का सर्वात्मक रूप पूजन उसका उपचार (सामग्री) और सर्वात्मकता ही आत्मा का आधार है । सब प्रकार की अधि-व्यधियों से रहित मैं ब्रह्म से परिपूर्ण हूँ— यही भावना मोक्षसिद्धि है ।'

मूर्ति-पूजा का यहाँ खण्डन किया गया हो ऐसी बात नहीं है । यहाँ तो उपासना के स्तर का विवेचन किया गया है कि जब साधक ऊर्ध्व भूमिकाओं में प्रवेश करता है, तो उसे आरम्भिक साधनाओं के माध्यमों को छोड़ देना पड़ता है। तन्त्र ने भी इस विचारधारा का

समर्थन किया है और कहा है कि आरम्भ में तो पूजा के लिये बाह्य उपचारों की अपेक्षा रहती है, परन्तु जब साधक प्रगति-पथ पर आरूढ़ होता है तो वह माध्यम स्वतः छूट जाते हैं । वह स्वयं इसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करता । पहले तो वह पाषाण या मृत्तिका निर्मित्त मूर्ति को ही ईश्वर समझता था परन्तु जब उसकी भावना विकसित होती है, तो वह प्रत्येक मानव पिंड में पशु-पक्षी और कीट-पतङ्ग में तथा फिर सृष्टि के अणु अणु में अपने इष्टदेव के दर्शन करता है । उसमें अद्वैत भाव की जागृति होती हैं । यही तन्त्र परापूजा अर्थात् उत्तम पूजा कहलाती हैं, जिसकी ओर बढ़ने के लिए सभी तन्त्र साधनाओं का विधान बनाया गया है ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधक पहले बाह्य योग की साधना करता है । जब इसकी सिद्धि हो जाती है तो ही वह अन्तंयाग की साधना का अधिकारी होता है । अर्न्तयाग उच्च स्तर की साधना है और निश्चय ही अधिक लाभप्रद होती है परन्तु गुरु जिस प्रकार की साधना का निर्देश दें । वही साधना उसके लिए उपयुक्त है क्योंकि स्तर के प्रतिकूल साधना करने से कुछ विशेष लाभ नहीं होता । मन्त्र योग में योग साधना का अपना महत्व है । अतः इस पर ध्यान देना आवश्यक है ।

जप

महत्व

सभी धर्मों और सम्प्रदायों की आध्यात्मिक साधनाओं में अपने-इष्टदेव के मन्त्र-साधना को एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। हिन्दू धर्म के वैदिक, पौराणिक, स्मृति और तांत्रिक मतावलम्बियों में तो यह साधना प्रचलित है ही, बौद्ध और जैन मत वालों ने भी इसे अपनाया है। उनके विधि-विधान में भी जप पर बल दिया गया है। यही नहीं, सूफी मत और ईसाई कैथोलिक मत वाले भी इसे प्राचीन काल से अपनाये हुए हैं। योगी लोग क्रिया-योग में स्वाध्याय का इसे एक अङ्ग मानते हैं। तपयोग, यन्त्रयोग, राजयोग और हठयोग में नादानुसन्धान का वर्णन आता है, वह वास्तव में जप की एक विशेष अवस्था हैं।

जप-साधना हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक कर्मकान्ड का मेरुदण्ड है। इससे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए भगवान कृष्ण ने इसे सब यज्ञों से श्रेष्ठ कहा है और अपनी विभूति माना है। 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ। भगवान् मनु (२।८७) ने अपने अनुभव से कहा है—"और कुछ करें या न करें, केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।" महाभारत (अश्व० ४४।८) में कहा है "यज्ञों में आहुति देकर सिद्धि प्राप्त करने वाला यज्ञ उत्तम है और यही वैदिक कर्मकांड वालों का मत हैं। परन्तु भक्तिमार्ग में हविर्यज्ञ की की अपेक्षा नामयज्ञ का विशेष महत्व है।"

इसीलिए शास्त्रकारों को यह घोषणा करनी पड़ी कि -शंपौर्णमास,

ज्योतिष्टोम, राजसूय आदि यज्ञ, वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्यश्राद्ध, अतिथि भोज आदि सत्कर्म भगवन्नाम के अथवा गायत्रीरूपी यज्ञ के १६ वें भाग के भी तुल्य नहीं माने जाते ।

गोस्वामी श्री तुलसीदास ने भी जप की महिमा का गान किया है–

नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ,
जपहि नामु जन आरत भारी ।
मिटहिं कुसंकट होहि सुखारी ।।

जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है, एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका हमारे मानसिक और बौद्धिक क्षेत्र पर सुनिश्चित प्रभाव पड़ता है। उससे अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। साधक का मनोबल दृढ़ होता जाता है, विचारों में विवेकशीलता आती है, बुद्धि निर्मल व पवित्र बनती हैं, आत्मा में प्रकाश आता है। इसके अमिट प्रभाव को देखते हुए शास्त्रकारों ने इसकी अपार महिमा का गान किया है। लिङ्ग पुराण ८५।१२४।१२५ में लिखा है "जप करने वाले का कभी अनिष्ट नहीं होता, यक्ष, पिशाच, भीषण ग्रह उसके पास कभी फटक नहीं सकते। इससे जन्म-जन्मांतरों के पाप नष्ट हो जाते हैं सुखों व सौभाग्यों की वृद्धि हो जाती हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती हैं।" गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा—"त्रायते महतो भयात" जप, साधक का महान् भय से त्राण करता है।" मनुस्मृति ४।१४६ में कहा है—"जप करने वालों का कभी पतन नहीं होता है" भगवान् मनु ने एक और स्थान पर कहा है कि जप से अन्तःकरण पर-ब्रह्ममय हो जाता है।

जप की महिमा बताने वाले कुज प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

महर्षीणा भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयोस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।

—गीता १०-२५

"मैं महर्षियों में भृगु और वाणियों में ओंकार, यज्ञों में जपयज्ञ तथा स्थावरों में हिमालय हूँ।"

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञः समन्वितः।
सर्वे ते जप यज्ञस्य कला नार्हन्ति षोडशीम्॥

—मनु० २-८६

"होम, बलिकर्म, नित्यश्राद्ध, अतिथि-भोजन आदि पाक यज्ञ और विधि-यज्ञ, दर्शपौर्णमासादि ये समस्त मिलकर भी जप-यज्ञ को सोलहवीं कला के समान नहीं है।"

समस्तसप्ततन्तुभ्यो जपयज्ञ परः स्मृतः।
हिसान्ये प्रेर्वतन्ते जपयज्ञो न हिंसया॥
यावन्तः कर्म यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च।
ते सर्वे जप यज्ञश्च नार्हंति षोडशीकलां।
जपने देवता नित्य स्तूयमाना प्रसीदति॥
प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दधान्मुक्तिश्च शाश्वतीम्।
यक्ष राक्षस वैतालः भूतप्रेतपिशाचकः।
जपाश्रयीं द्विजं दष्टा दूरन्ते यान्ति भीतितः॥
तस्माज्जपः सदा श्रेष्ठः सर्वस्मत्पुरायसाधनात्।
इत्येष स्वर्था ज्ञात्वा विप्रो जपपरो भवेत्।

—भारद्वाज गायत्री व्याख्या

"समस्त यज्ञों से जप अधिक श्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में तो हिंसा होती है, जपयज्ञ हिंसा से नहीं होता है। जितने भी कर्म, यज्ञ, दान, तप हैं, वे समस्त जपयज्ञ की सोलसवीं कला के समान भी नहीं होते हैं। जप द्वारा स्तुति किए गये देवता प्रसन्न होकर बड़े-बड़े भोगों को तथा अक्षय शक्ति को प्रदान करते हैं। जप-जप करने वाले द्विज को दूर से देखते ही राक्षस, बेताल, भूत, प्रेत, पिशाच आदि भय से भय-भीत हो भाग जाते हैं। इस कारण समस्त पुण्य-साधनों में जप सर्व-

श्रेष्ठ है। इस प्रकार जानकर ब्राह्मण को सर्वथा जप परायण होना चाहिए।

मास शतत्रयं विप्रः स्वान्कामानावाप्नुयात्।
एव शतोत्तरं जप्त्वा सहस्रं सर्वमाप्नुयात॥

"इस प्रकार एक मास तक ३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने पर सब कार्यों में सिद्धि प्राप्त करता है। ग्यारह सौ नित्य जपने से सब कार्य ही सम्पन्न हो जाते हैं।"

रूद्धा प्राणमपानं च जपोन्मासं शतत्रयम्।
यदिच्छेतदवाप्नोति सहंस्रात्परमाप्नुयान्॥

"प्राण अपान वायु को रोककर एक मास तक प्रतिदिन एक सहस्र मन्त्र जपने से इच्छित वस्तु की उपलब्धि होती है।"

एक पादो जपेदूर्ध्व बाहूरुद्धानिल वशः।
मास शतमवाप्नोति यदिच्छेदिति कौशिकः।

"आकाश की ओर भजायें उठाए हुए एक पैर के ऊपर खड़ा होकर साँस को यथाशक्ति अवरोध कर एक मास तक १०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है।"

एवं शतत्रंय जप्त्वा सहस्त्रंस्वंगाप्नुयात्।
निमज्ज्याप्सू जपेन्मांस शतमिष्टमवाप्नुयात्॥

'जल के भीतर डुबकी लगाकर लगाकर एक मास तक १३०० मन्त्र प्रतिदिन जप करने से अभींष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है।'

लाभ

जप आरम्भ करते ही साधक के अन्तःकरण में एक हलचल मचती है और उसकी विलक्षण शक्ति से आंतरिक क्षेत्र में अनेकों सूक्ष्म परि-वर्तन होते हैं। बुरे विचार भाव और स्वभाव घटने लगते हैं और सत्य प्रेम, न्याय, क्षमा, ईमानदारीं, सन्तोष, शांति, पवित्रता, नम्रता, संयम सेवा और उदारता जैसे सद्गुण बढ़ने लगते हैं। मनःक्षेत्र प्रभावित

होने से विवेक, दूरदर्शिता, तत्वज्ञान और ऋतुम्भरा बुद्धि की प्राप्ति, होती है, जिससे दुःखों का कटना और सुख शान्ति का प्राप्त होना अनिवार्य परिणाम है । जप से मलिनताओं का पर्दा हटकर सद्गुणों का विकास होता है और महानता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । दुर्गुण और दोष कम होने लगते हैं और साधक धीसे-धीरे निर्मल चरित्र की साक्षात् प्रतिमा बन जाता है । वह असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरत्व, निराशा से आशा, सीमित से असीम, शिथिलता से दृढ़ता, नरक से स्वर्ग, तुच्छता से श्रेष्ठता और कुबुद्धि से सद्बुद्धि की ओर कदम बढ़ाता है ।

मन्त्र जप से शक्ति उत्पन्न होती है । शक्ति ही सिद्धि का दूसरा नाम है । योगदर्शन ४।१ में स्पष्ट कहा है कि मन्त्र जप से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । अन्तःकरण की पवित्रता तो श्रेष्ठ सिद्धि हैं, जो जप का स्वाभाविक लाभ है । योगदर्शन १।२८ तो यहां तक कह दिया गया है कि जप साधक धीरे-धीरे इतना ऊँचा उठ जाता है कि वह इसीं साधना से समाधि-अवस्था तक पहुंच जाता है । आगामी सूत्र २६ में महर्षि ने निर्देश दिया है कि साधना-काल में आये विघ्नों का इससे नाश होता है और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है । ईश्वर के साक्षात्कार का मार्ग खुल जाता है और साधक नित्य आनन्द में मग्न रहता है, उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं लगता, वह सम्राटों का सम्राट बनकर सर्वोच्च आसन पर अवस्थित हो जाता है । स्वामी रामतीर्थ इसी स्थिति पर पहुँचकर अपने को राम बादशाह कहा करते थे । हर साधक साधना-तपश्चर्या द्वारा इस साम्रा-का सर्वोच्च अधिकारी बन सकता है, यदि वह शास्त्रों में वर्णित नियमों के अनुसार साधना करता रहे । पर यह अवस्था लम्बे समय के अभ्यास के बाद आती है, जैसा कि योग-दर्शनकार ने १।१४ में लिखा है—'वह अभ्यास बहुत काल तक लगातार विधि-व्यवस्था से ठीक-ठीक किया जाने पर दृढ़ अवस्था वाला होता है ।"

जप से आध्यात्मिक लाभ ही प्राप्त हो, ऐसी बात नहीं है। भौतिक उपलब्धियां भी इसकी विशेषता है । कठिनाइयां, और आपत्तियां तो हर एक के जीवन में आती हैं, मनोबल की वृद्धि कर जप साधक उनको हँसते-हँसते झेलता है, पहाड़ जैसे कष्ट उसे फूल समान लगते हैं । आत्मिक शक्ति के बढ़ने से उसका साहस भी बढ़ता है । आर्थिक अभाव, विवाह, सन्तान मुकदमे, शत्रुता, सङ्घर्ष आदि आपत्तियों का ऐसा सरल समाधान हो जाता है कि वह चमत्कार सा दिखाई देता है । तपस्वी साधक अपने लिए ही नहीं, वरन् दूसरे को लाभ पहुंचाने की स्थिति में रहते हैं । यह किसी के अनुग्रह से अनायास प्राप्त नहीं हो जाते वरन् जप द्वारा प्राप्त शक्ति के ही चमत्कार होते हैं ।

जप द्वारा आयु-वृद्धि के लाभों की वैज्ञानिक व्याख्या भी विद्वानों ने की है । २४ घन्टे में प्रत्येक स्वस्थ्य व्यक्ति २१६०० बार श्वांस लेता है अर्थात् एक मिनट में १५ बार श्वांस लेना स्वाभाविक है । यदि किसी उपाय से इन श्वांसों की संख्या कम हो जायें तो आयु-वृद्धि सुनिश्चित है । प्राणायाम ऐसी योग की सशक्त क्रिया है, जिससे श्वांस-प्रश्वास क्रिया का नियमन किया जाता है । जप से ऐसा भी होता है । जप के समय श्वांसों की संख्या स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है । यह एक मिनट में १५ के स्थान पर ७-८ रह जाती है । यदि साधक एक घंटा प्रतिदिन जाप करता है, तो लगभग ५०० श्वांसों की आयु वृद्धि हो गई । इस तरह से यदि वह इस प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखता है, तो जीवन में कई वर्षों की वृद्धि हो सकती है । यह किसी देव-दानव की कृपा से नहीं, अपने पुरुषार्थ का फल है ।

अर्थ

जप धातु का एक अर्थ से—'जप व्यक्तायां वाचि' स्पष्ट बोलना और दूसरा 'जप मानसे' च मन में उसे कहना । मन्त्र के बार-बार

उच्चारण को जप कहते हैं। अग्निपुराण में इसकी व्याख्या इस प्रकार से की गई है—

जकारो जन्म विच्छेदः पकारः पाप नाशकः।
तस्याज्जप इति प्रोक्तो जन्म पाप विनाशकः ॥

अर्थात् "ज" का अभिप्राय जन्म का विच्छेद और 'प' का अर्थ है पापों का विनाश। जिजसे जन्म, मरण और पापों का विनाश हो—वह जप कहलाता है।"

हृदय में भगवान का नाम लेने को भी जप कहते हैं। एक विद्वान ने इसका अभिप्राय भगवान को प्रत्यक्ष करना वताया है और कहा हैं—'इसकी अत्यावश्यक परिभाषा है—निर्वाध अन्तःकरण प्रकाश'। वह सूक्ष्म करुणाद्र अन्तःकरण की विशुद्धि दीप्ति है। इस निर्णयात्मक स्थिति में सारे बन्धन छिन्न हो जाते है' श्री रामकृष्ण परमहंस ने जप का अर्थ किया है—"एकान्त में बैठकर मन ही मन भगवान का नाम लेना।'

प्रकार

जप विभिन्न प्रकार का होता है, उसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाता है—

१. नित्य जप—जैसे स्थूल शरीर के लिए बाह्य पवित्रता, स्नान, व्यायाम, भोजन और नियमित मल-विसर्जन आवश्यक क्रियायें हैं, उसी तरह सूक्ष्म शरीर के लिए नियमित रूप से उसके अनुरूप पवित्रता के साधन, उसके पोषण और विकास के लिए आध्यात्मिक व्यायाम, जप और मन पर चढ़े मल-विक्षेपों को दूर करने के लिए नित्य अभ्यास अभ्यास है ताकि पुराने संस्कारों का शमन होता रहे और नए आसुरी आक्रमणों के मुकाबिले की तेंयारी होती रहे। अपने इष्टदेव का जो रुचिकर और गुरु प्रदत्त मन्त्र हो, उसका जाप नित्य ही करना चाहिए। रोग या यात्रा की अवस्था में इसकी नित्यता में बाधा न आना चाहिए। संख्या और विधि-विधान में कुछ शिथिलता भले ही आ जाए परन्तु

इसकी नियमितता में कोई अन्तर न आना चाहिये। यह नित्य-जप कहलाता है। नियमित रूप से करने के कारण इससे शीघ्र ही सूक्ष्म शक्ति का विकास होता है।

२. नमित्तिक-जप—कृतज्ञता की भावना का विकास करना हमारी संस्कृति की महान विशेषता है। हम मानते हैं कि आत्मा अजर-अमर है। इसका नाश नहीं होता, केवल शरीर में परिवर्तन हो जाता हैं। अतः-ऋण से उऋण होने के लिए हम पितृ-श्राद्ध आदि कर्म करते हैं, जिसमें पितर जहाँ भी हों, उनके सूक्ष्म शरीर को बल मिलता है और प्रसन्नता हो जाती है। आशीर्वाद देते हैं। देव-पितरों के सम्बन्ध में जो जप की संज्ञा दी जाती है। यह पितृपक्ष में तो किया ही जाता है। इसके अतिरिक्त पर्वतिथियों में अथवा अमावस्था, पूर्णिमा, एकादशी, शिवरात्रि, रामनवमी, नवरात्रि, गणेश चतुर्थी, कृष्णाष्टमी व ग्रहणादि पर्वों पर भी किया जाता है। इस जप से पितरों की सद्गति होती है।

काम्य-जप—जप साधना विभिन्न प्रकार के प्रयोजनों से की जाती है। साधक का मन सकाम और निष्काम—दोनों प्रकार का हो सकता है। मन के स्तर के अनुकूल ही साधना चलती है। जिस तरह आरम्भिक साधक के लिए मूर्ति-पूजा और अन्य बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है क्योंकि उसके लिए ईश्वर के निराकार रूप की कल्पना करना सहज नहीं है, उसी तरह सहज पशु भाव के साधक को ईश्वराधन की ओर आकर्षित करने के लिए पहले भौतिक सिद्धियों की उपलब्धि में सहयो दिया जाता है, जिससे उसके विश्वास में दृढ़ता हो और आत्म-कल्याण की साधना की अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिए तैयार हो किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए जो सकाम साधना की जाती है, वह काम्य जप कहलाता है। इससे देव-शक्तियों को आकर्षित किया जाता है, जो अभीष्ट सिद्धि में सहायक होती है।

निषिद्ध-जप—साधक कि'ी भी क्षेत्र में साधनारत हो, उसका कुछ

भी उद्देश्य हो उसके विधि-विधान का महत्व होता है। यदि उसकी उपेक्षा की जाती है, तो पूर्ण सफलता में सन्देह ही रहता है। आध्यात्मिक साधना में तो इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। पवित्रता, संयम, ब्रह्मचर्य, मिताहार यम-नियमों का पालन, मनोनिग्रह जप-साधना में आवश्यक बताए गए हैं। यदि किसी की साधना के नियमों का पालन पूर्ण रीति से नहीं किया जाता है, तो देव-कृपा संदिग्ध रहती है। अनाधिकारी गुरु से दीक्षा लेकर अशुद्ध उच्चारण के साथ अपवित्र अवस्था में और निकृष्ट स्थान पर यदि अविधिपूर्वक जप किया जाए, तो वह निषिद्ध जप कहलाता है, जिसमें देवता और मन्त्र में भी अनुकूलता न हो और श्रद्धा विश्वास का अभाव हो, ऐसी साधना से कोई लाभ नहीं होता। केवल निराशा ही हाथ लगती है।

८. प्रायश्चित जप :—मानव-शरीर धारण करने से पूर्व हमें ८४ लाख योनियों से होकर आना पड़ता है, जिसमें विभिन्न प्रकार की पशु-योनियाँ होती हैं। उनके संस्कार हमारे मानस-पटल पर अङ्कित रहते हैं। छोटा-सा उत्तेजक कारण मिल जाने पर हमसे बड़े से बड़े दोष, अपराध अथवा पाप हो जाते हैं, जिनके लिए बाद को मन में पश्चाताप भी होता है। दोष और त्रुटि मानव स्वभाव का एक अङ्ग है। पिछले संस्कार और सांसारिक परिस्थितियाँ इसका कारण बन जाती हैं। इन दोषों के परिष्कार के लिए आवश्यक उपाय अपनाना बुद्धिमानी है क्योंकि हर कर्म की प्रतिक्रिया होती है, जो योग और प्रारब्ध के रूप में हमारे सामने आती है। सञ्चित प्रारब्ध कर्मों से ही हमारा जीवन दुःखमय प्रतीत होता रहे तो इन भौतिक दुःखों में भी कमी की जा सकती है। पिछले प्रारब्ध-कर्मों को योग अथवा अन्य साधनाओं द्वारा काम किया जाए और आगे सावधानी बरती जाए, यही ऋषियों का आदेश है। आचार्यों ने संचित व नित्य दोषों के प्रभाव को दूर करने के लिए अनेकों प्रकार के उपायों का दिग्दर्शन किया है, उनमें से एक प्रायश्चित जप है। इसका स्पष्ट अर्थ है—अपने दोष और अपराध को

स्वीकार करना। पाप की गांठ उसके स्वीकार करने से ही खुलती है। इसे स्वीकार न करने न करने से वह और दृढ़ होती है। अतः जाने व अनजाने पापों के परिमार्जन के लिए जो जाप किया है। उसका प्रायश्चित किया जाता है।

६. अचल-जप—अभीष्ट सिद्धि के लिये कुछ विशिष्ट साधना भी आवश्यक होती है। नियम, संयम और सकल्प भी इसके आवश्यक अङ्ग है। बिना सकल्प के कोई भी काम निश्चित समय में पूर्ण नहीं हो पाता। कठिन कार्यों के लिए तो सङ्कल्प अतिवार्य होता है। जप साधना में समय और संख्या की विशेषता रहती है। जब साधक यह निश्चय करता है कि नित्यप्रति वह इतना समय लगाकर इतना जप करके ही आससे से उठेगा—वह अचल जप कहलाता है। इससे साधक को मनो-भूमि में दृढ़ता आती है और किसी भी बड़ी से बड़ी साधना के लिए साहस बटोर सकता है।

७. चल जप—अन्य जप तो विधिपूर्वक आसन पर बैठकर किए जाते हैं, परन्तु चल जप किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। चलते, फिरते यात्रा में या कहीं भी यह हो सकता है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं है। खाली मन को शैतान का घर कहा गया है। उसमें विभिन्न प्रकार के अनावश्यक विचार चक्कर लगाते रहते हैं। कमजोर मन पर आसुरी विचार अपना नियन्त्रण जमा लेते हैं, यो उसके कार्य भी उसी के अनुकूल होने लगते हैं। इससे बचने के लिए आवश्यक है कि मन में बुरे विचारों का आगमन न हो। यह तभी हो सकता है, जब मन खाली न हो और सदैव उसे व्यस्त रखा जाये। अपने इष्ट देवता के स्मरण के अतिरिक्त और कौन सा श्रेष्ठ साधन हो सकता है ? मन्त्र जाप का साधन् हर समय चलता रहे, तो आसुरी वृत्तियों के पोषण, विकास का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मन की पवित्रता को बनाये रखने के लिए निरन्तर साधन चलता रहता है।

इस साधना में प्रदर्शन घातक सिद्ध होता है। प्रदर्शन के बिना यह साधना चलती रहे, तो इसमें अपूर्व सफलता मिलती हैं।

८ वाचिक जप—भगवान मनु ने इस जप की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि यह विधि-यज्ञ से दस गुना श्रेष्ठ है। जिस मन्त्र-उच्चारण को अन्य व्यक्ति भी सुन सकें, उसे वाचिक-जप कहते हैं। आरम्भ में साधक के लिये यही ठीक रहता हैं क्योंकि अन्य जप अभ्यास साध्य है। यह जप निम्न कोटि का जाना जाता हैं। फिर भीं शब्द-विज्ञान की महत्ता स्वीकार करते हुए इसकी उपयोगिता को स्वीकार करना ही होगा। योगियों का कहना है कि इससे वाक्-सिद्धि होती है और षट्चक्रों में विद्यमान वर्णवीज शक्तियाँ जाग्रत होती है।

९. उपांशु जप—मनुस्मृति २।८५ के अनुसार उपाँशु जप उसे कहते हैं कि मन्त्र का उच्चारण होता रहे, होंठ हिलते रहें परन्तु पास बैठा व्यक्ति भी उसे सुन न सके जापक स्वय ही उसे सुने। भगवान मनु ने इसे विधि-यज्ञ की अपेक्षा सौ गुना श्रेष्ठ बताया है। इस जप के प्रभाव से स्थूल से सूक्ष्म शरीर में प्रवेश होती हैं और वाह्य वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं, एकाग्रता बढ़ने लगती है, एक अद्‌भुत मस्ती प्रतीत होती है, जो अनुभव की ही वस्तु है।

१०. भ्रमर जप—भ्रमर के गुन्जन की भाँति गुनगुनाना इस जप की विशेषता है। इसमें होंठ और जिव्हा नहीं हिलानी पड़ती। जिस तरह वंशी बजाई जाती है उसी तरह प्राणवायु के सहयोग से मंत्रावृत्ति की जाती है। योग विज्ञान का मत है कि जो साधक मनोलय के लिये नादानुसंधान की साधना करते है, यदि भ्रमर जप में वह सफलता प्राप्त कर लें, तो उनकी अनाहत नाद की साधना सरल हो जायगी। इस जप से यौगिक तन्द्रा की वृद्धि होती हैं और षटचक्रो का धीरे-धीरे जागरण होने लगता है, प्रकाश की अनुभूति होती है और आन्तरिक तेज की वृद्धि होती है।

११. मानसिक जप--मानसिक जप में होंठ और जिव्हा कुछ भी

नहीं हिलते । मन्त्र के पद और अक्षरों के अर्थ पर मनमें विचार किया जाता है । इसकी महत्ता मनुस्मृति २।८६; विष्णुपुराण ५२।६ वृहद पाराशर ४।५७ में वर्णित की गई है। इनके अनुसार विधि-यज्ञ की अपेक्षा मानसिक जप सहस्र गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है ।

मानसिक जप की उपयोगिता पर पं० दीनानाथ शास्त्री लिखते हैं 'स्पष्ट बोलने से वाणी स्थूलता में रहती है । और उसका प्रभाव भी सीमित स्थल में रहता है । पर मन के द्वारा मन्त्र के उच्चारण से वह वाक् सूक्ष्म हो जाती है । परा, पश्यन्ती, मध्यमा--यह तीन वाक् भी सूक्ष्म होती है । उनके समय में नाभि प्रदेश आदि में प्रयत्न होता है, उससे विद्युत प्रकट होती हैं, उसका प्रभाव अपेक्षित स्थूल पर स्थलवाक की अपेक्षा अधिक पड़ता है । सूक्ष्म की शक्ति स्थूल की अपेक्षा अधिक होती है । मन्त्र में मन्त्रि गुप्त भाषणें धातु है, मन्त्र का मन्त्रत्व इसी गुप्त भाषण मानव जपने से होता हैं । उसका प्रभाव भी बहुत पड़ता है मानस जप का प्रभाव सारे आकाश में व्याप्त हो जाता है, अपेक्षित स्थल पर तो पड़ता ही है ।'

१२. अखण्ड जप—इसका अभिप्राय इसके नाम से ही स्पष्ट है । शरीर को धारण करने के लिये जो आवश्यक कृत्य करने होते हैं. उतना समय इनमें तथा शेष साधना में लगाकर यह अनुभवजन्य है कि हर जप करना सम्भव नहीं है । थकावट भी होती है और मन भी उचटता है । परिवर्तन से मन लगता है, इसलिए गुरुजनों ने यह आदेश दिया है कि जब जप से मन उचट जाये,तो ध्यान करना चाहिए । ध्यान की भी एक सीमा होती है । जब ध्यान से मन उचटने लगे, तो आत्मचिंतन करना चाहिए, आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए । इस तरह से मन को हर समय लगाए ही रहना चाहिए, उसे एक क्षण के लिए भी स्वतन्त्र न छोड़ना अखण्डता की परिभाषा में आता है । शास्त्र का भी यही आदेश है—

जापाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद् ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत् ।
जपध्यानपरिश्रान्त आत्मानं च विचारयेत् ॥

"जप करते-करते जब थके तो ध्यान करना चाहिए, ध्यान से थके, तो पुनः जप करें। इन दोनों से जब थकें तो आत्म-तत्त्व का चितन करें।"

१२ वर्ष की इस अखण्ड साधना को तप की संज्ञा दी गई है। इससे महासिद्धि की उपलब्धि होती है।

१३—अजपा तप—यह जप माला के बिना ही होता है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया हमारे शरीर में बराबर स्वाभाविक रूप से होती रहती है, जो एक अहोरात्र में २१६०० की सख्या में होती है। जो श्वास बाहर निकलता है, उसकी ध्वनि 'हम्' की तरह होती है और जो अन्दर आता है, उसकी ध्वनि 'सः' की तरह होती है। इस तरह से 'हंस' मन्त्र का जप हमारे शरीर में अपने आप होता रहता है। इसे अजपा गायत्री भी कहते हैं। अतः श्वासोच्छ्वास के साथ मन्त्रावृत्ति अजपा जप कहलाती है। योग की भाषा में कहा जाए, तो 'सः' ध्वनि का सम्बन्ध प्राण से और 'ह' ध्वनि का अपान से सम्बन्ध है। प्राण-अपान की क्रिया बराबर चलती रहती है। यही अजपा विद्या कहलाती है। इस जप की यही विशेषता है कि यह अपने आप होता रहता है, इसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। केवल द्रष्टा रूप में इसकी स्वाभाविक क्रिया को देखना होता है। इस जप को अजपा-गायत्री व हंस विद्या के अतिरिक्त आत्म-मन्त्र और प्राण-यज्ञ भी कहा जाता है। गीता के चौथे अध्याय में कहा गया है—"प्राणानि प्रणेषु जुह्वति।" यही प्राणयज्ञ है : इस प्राणयज्ञ को श्री धर स्वामी ने अपनी टीका में अजपा साधन बनाया है। नाथ-सम्प्रकाय में तो यह विशेष रूप से प्रचलित है। नाथ-साहित्य में इसकी महिमा का वर्णम आता है। बौद्ध मत में जो साधना 'आनापानसति' के नाम से प्रसिद्ध थी वह आचार्यों की दृष्टि में अजपा साधना का ही एक भाग थी।

हंसोपनिषद् (५) में हंस मन्त्र की स्वाभाविक क्रिया का वर्णन करते हुए कहा है--

सर्वेषु देवेषु व्याप्त तेर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव । दिवित्वा नमृत्युमेति ।

'समस्त देहों में यह जीव हंस-हंस जपता हुआ व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जैसे काठ में अग्नि रहती है और तिलों में तेल रहता हैं। इसके जान लेने वाला मृत्यु को उल्लङ्घन कर जाता है।'

१४. प्रदक्षिणा जप--इसकी प्रक्रिया नाम से ही स्पष्ट है। वट औदुम्बर व पीपल के वृक्ष को पवित्र माना जाता है। जप करते हुए परिक्रमा करनी पड़ती हे। ज्योतिर्लिंग-मन्दिर की प्रदक्षिणा का भी विधान है। साथ में ब्रह्म-भावना का रहना आवश्यक होता है। इससे भी विशेष लाभ होता है।

जप साधना की सहयोगी प्रक्रियाएं

संकल्प व दृढ़ इच्छा शक्ति

जप में दृढ़ सङ्कल्प और इच्छा शक्ति का विशिष्ट महत्व है। इच्छा, जब बुद्धि द्वारा परिष्कृत होकर दृड़ निश्चय का रूप धारण कर लेती है, तब वह सङ्कल्प कहलाती है। बिना इच्छा के किसी क्रिया का आरम्भ नहीं होता। उस क्रिया में यदि दृढ़ता का समावेश न हो सफलता में संदेह रहता है।

संकल्प सुप्त शक्तियों को जगाने का माध्यम है। विस्फोटक पदार्थ स्वयं नहीं फटते, अग्नि के सहयोग से ही उनकी शक्ति विकसित होती है। मनुष्य से पास अनेक शक्तियाँ हैं, वरन्तु वह उनका उपयोग करना नहीं जानता। सङ्कल्प वह वैज्ञानिक विधि व्यवस्था है जिससे वह उन उपकरणों का उपयोग करता है। सङ्कल्प ही शक्तियों के

एकत्रीकरण का कार्य करता है। सङ्कल्प एक विद्युत है जो प्राप्त शक्तियों के अणु-अणु में गति लाने की सामर्थ्य रखती है। गति ही प्रत्यक्ष शक्ति का दूसरा नाम है।

"सङ्कल्प मातसं देवी चतुर्वर्ग प्रदायकम्।"

"मन के सङ्कल्प में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष दिलाने वाली सभी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं।"

संकल्प शक्ति की अपार सफलताओं के देखकर ही ऋषियों ने इसे ब्रह्म की संज्ञा दी है और सङ्कल्प ब्रह्म की उपासना के लिए प्रेरित किया है। इस मूल्यांकन से स्पस्ट रूप में विदित होता है कि उन्होंने इसकी महान् शक्तियों का अनुमान लगा लिया था।

सङ्कल्प का इच्छा शक्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है वास्तव में जीवन की सफलता, उत्कर्ष-अपकर्ष, उन्नति-अवनति, उत्थान पतन सब मनुष्य की इच्छा शक्ति की सबलता और निर्बलता के ही परिणाम है। सबल और दृढ़ उच्छा शक्ति सम्पन्न लोगों को अभद्र विचार कुकल्पनायें, भयानक परिस्थितियाँ, व उलझनें भी विचलित नहीं कर सकतीं। वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हैं। उनके विचार स्थिर और निश्चित होते हैं। उन्हें बार-बार नहीं बदलते। प्रबल इच्छा शक्ति से शारीरिक कष्ट भी उन्हें अस्थिर नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति हर प्रकार की पपिस्थितियों में अपना रास्ता निकाल कर आगे बढ़ते रहते हैं। अपते व्यक्तिगत हानि-लाभ से भी प्रभावित नहीं होते।

दृढ़ इच्छा-शक्ति मानसिक क्षेत्र का वह दुर्ग हैं जिसमें किसी भी बाह्य परिस्थिति, कल्पना, कुविचारों का प्रभाव नहीं हो सकता। दृढ़ इच्छा-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति जीवन की भयङ्कर झझावतो में भी अजेय चट्टान की तरह अटल और स्थिर रहता है। ऐसा मनुष्य सदैव प्रसन्न और शान्त रहता है। जीवन का सुख, स्वास्थ्य, प्रसन्नता, शान्ति ऊसके साथ रहते हैं।

संसार में जितने भी महान कार्य हुए हैं, वे मनुष्य की प्रबल

इच्छा शक्ति का संयोग पाकर ही हुए हैं। दृढ़ इच्छा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही महान् कार्यों का संचालन करता है। वही नव सृजन, नव-निर्माण नवचेतना का शुभारम्भ करता है। अपने और दूसरों के कल्याण, विकास एवं उत्थान का मार्ग खोजता है।

अटूट श्रद्धा

श्रद्धा साधना की नींव है। जहाँ श्रद्धा है, वही सिद्धि है। जहाँ श्रद्धा का अभाव है, वही सन्देह कुतर्क आदि की उपत्ति होती है, जो सफलता के प्रतिबन्ध माने जाते हैं। अतः श्रद्धा के बिना सफलता की आशा करना व्यर्थ है। जिसकी साधना से सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ किया जा रहा है, उसके प्रति दृढ़ आस्था (महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में अगर बुद्धि के साथ-सत्कार से) होनी चाहिए जो साधना का मेरुदण्ड मानी जाती है। जिस साधना पर श्रद्धा नहीं है, उसे केवल परीक्षा के लिये करना अपना समय व्यर्थ खोना है क्योंकि उससे विशेष लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए। जब सफलता का प्रथम सोपान ही साधना में सम्मलित नहीं तो सफलता और सिद्धि कैसी ? सिद्धि के द्वार की पहली शर्त है श्रद्धा। अतः जो साधक सिद्धि प्राप्त करना चाहता हो, उसे इष्टदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए और यदि उसे कोई सन्देह है तो गुरुजनों से कुतर्क और दुराग्रह से नहीं—जिज्ञासा की दृष्टि से अपनी शंकाओं और भ्रमों को दूर कर लेना चाहिए। सद्गुरु शिष्य के सभी भ्रमों को दूर करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। सन्देह दूर होने पर ही श्रद्धा में दृढ़ता आती है। यह दृढ़ता ही अपनी सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत करने का माध्यम बनती है। इसलिए हमारे शास्त्रों ने एक स्वर से इसकी परम आवश्यकता को अनुभव किया है।

भावना शक्ति

मन्त्र साधना और भावना का घनिष्ट सम्बन्ध है। साधक जैसी भावना करता है, वैसी ही सफलता उसे प्राप्त होती है। भावना से

साधना में गति आती है। मंत्र सिद्धि के लिए भावना शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।

'मन्त्र, तीर्थे द्विजे देवे दवज्ञे भैषजे गुरौ।
याहृशो भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताहृशो ॥"

"मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, दवा तथा गुरु में जिस तरह की भावना होती है, उसके अनुसार उसे सिद्धि प्राप्त होतीं है।"

साधक की सुप्त शक्तियों को जाग्रत करने का काम भावना करती है।

भावना से आरोग्य व अन्य प्रकार के लाभ उठाने की भी एक वैज्ञानिक पद्धति है। अभाव की पूर्ति के लिये गिड़गिड़ाना उचित नहीं है। उससे आत्म-हीनता की भावना उत्पन्न होती है और आशाजनक लाभ भी नहीं होता। भावना के समय अशुभ के स्थान पर शुभ के, रोग के स्थान पर निरोगता के, अभाव के स्थान पर वैभव और ऐश्वर्य के संकेत मन को देने चाहिए। जिस इष्ट की पूर्ति करने की इच्छा है, उसे अपने भावना नेत्रों से पूरा होता देखें। यह संकेत जितना तीव्र और सुदृढ़ विश्वास पर आधारित होगा, सफलता उतनी ही शीघ्रता न प्राप्त होगी।

इन शुभ संकेतों का सीधा प्रभाव हमारे गुप्त मन पर पड़ता है। गुप्त मन ईश्वर प्रदत्त शक्ति का भंडार है, दैवी शक्तियों का वह मूल स्रोत है। ईश्वर से उत्तराधिकारी में मिली समस्त शक्तियाँ वहीं सोई पड़ी है। उन्हें प्राप्त करने के लिए उन्हें जगाना होगा। उसका उपाय शुभ संकेत ही है। यह हमारे गुप्त मन का नव-निर्माण करते हैं और हमारे चारों ओर का ससार वैसा ही बनता चला जाता है। भावना का यह मनो वैज्ञानिक आधार है :

तपश्चर्या

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करना अनिवार्य है। छप्पर फाड़कर देने वाली कहावत कहीं-

कहीं आकस्मिक ही चरितार्थ होती हैं। इसी परिश्रम करने को धार्मिक भाषा में तप कहते है। सिद्धि व वरदान अनायास ही नहीं मिल जाते। उनके लिये घोर तप करने पड़ते हैं। आज जब कि सारा वातावरण दूषित हो चुका है, लोग कुछ दिन ही उल्टे सीधे, बिना विधि विधान के, अधूरी श्रद्धा भावना से, मन्त्र जप करके ही सिद्धि प्राप्त करने की बात सोचते हैं और कुछ प्राप्त न होने पर अविश्वास करने लगते हैं। परन्तु प्राचीन काल में सात्विक वातावरण में ऋषि कितनी घोर तपस्यायें लम्बे समय तक किया करते थे, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। च्यवन और बाल्मीकि के उदाहरण समक्ष हैं। उन्होंने इतने लम्बे समय तक तन्मयता से तप किया कि शरीर के आस-पास धूल की चट्टान-सी बन गई, उस पर छोटे-छोटे पेड़ पौधे उगने लगे और पक्षी चहचहाने लगे। आज इसे – असम्भव और कल्पना की संज्ञा ही दी जायगी। जिस तरह यह तप कल्पना माने जाते हैं, उस तरह यह सिद्धियाँ भी कल्पना बर गई हैं क्योंकि सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसके अनुरुप जब तप नहीं किया जायेगा तो निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त करना भी अशक्य रहेगा। सिद्धि दैवी वरदान के रूप में नहीं मिला करती, उसके लिए उसका मूल्य चुकाना पड़ता है।

जहाँ तप है, वहीं शक्ति, मुक्ति, स्वंग, सुख, शान्ति, आनन्द, धन ज्ञान, कीर्ति और संसार का सब कुछ है। जो जीने योग्य जीवन जीना चाहता है, उसे तप को अपना जीवन साथी बना लेना चाहिए। जो इस विवेकपूर्ण निर्णय की उपेक्षा करता है, वह आज नहीं तो कल दीन, हीन दुःखी और विपत्तिग्रस्त बनकर रहेगा।

एकाग्रता

साधना के लिए चित्त का स्वस्थ व शान्त होना आवश्यक है। हृदय में श्रद्धा और भक्ति भावना हो, मन को सब ओर से हटाकर तन्मय किया जाये और चित्त को एकाग्र किया जाए, तभी साधना में

सफलता और सिद्धि प्राप्त होती है अन्यथा निराशा ही हाथ लगती। जब मन में अशान्ति, चिन्ता, उत्तेजना, भय व सन्देह हो, उसका एक स्थान पर स्थिर होना कठिन है। वह इधर-उधर भागेगा। ऐसी स्थिति में न जप में मन लगता है न ध्यान में साधक माला तो घुमाता रहता है, मन्त्र भी बोलना रहता है, चित्त इधर-उधर भागता है। सफलता की आशा रखने वाले साधक के लिए यह अच्छे लक्षण नहीं हैं। सब ओर से मन हटाकर, श्रद्धा भक्ति से तन्मयता पूर्वक साधना से ही वह आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है जिससे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो।

मन को एकाग्र व स्थिर करने के लिए लम्बे समय के अभ्यास की अपेक्षा है। संसार के बड़े से बड़े, कठिन, असम्भव कार्य भी अभ्यास से पूर्ण हो जाते हैं। अभ्यास से मनुष्य तो क्या पशु भी आश्चर्यजनक, प्रकृति विरुद्ध काम करते हैं। यदि चिरसंचित बहिर्मुखी ससकार इस कार्य में बाधक होते है, फिर भी दृढ़ता पूर्वक अभ्याज करते रहने से वह भी नष्ट हो जाते हैं। परन्तु योग दर्शनकार चेतावनी देते हैं कि यह अभ्यास बहुत काल तक लगातार सत्कार से ठीक-ठीक किया जाये सभी इसमें दृढ़ता आती हैं (१।१४) अभ्यास और वैराग्य के इस मिले-जुले प्रयत्न से चित वृतियों का निचिश्त रूप से निरोध होता है और मन एकाग्र होता है। यही मन्त्र सिद्धि का मार्ग है।

प्राणायाम

मन्त्र साधना का एक आवश्यक अङ्ग प्राणायाम है। साधक अपने इष्ट देव का ध्यान करता है। मन को उस पर जमाता है। मन चञ्चल है। वह इधर-उधर भागता है। उसी एकाग्रता में ही शक्ति का रहस्य छिपा है। वही साधक को साधना की सफलता है। प्राणायाम से मन को स्थिर रखने में सहायता मिलती है। धीरे-धीरे एकाग्रता बढ़ने लगती है। शास्त्र का भी यह वचन है 'मन प्राण के अधीन है। जैसे पक्षी रज्जु से बँधा रहताहै, वैसे ही चित्त प्राण से सम्बन्धित है। विचार

द्वारा मन को वश में करना असम्भव ही होता है। मन को एकाग्र करने का एक मात्र उपाय प्राणायाम है।' भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—'प्राणायाम के द्वारा ध्यान करने से वशीभूत हो जाने पर जैसे एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है, ऐसे ही साधक अपने में मुझे और मुझ परमात्मा में अपने को मिला देता है।' योग दर्शन २।५३ में भी कहा गया है कि प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मन की चञ्चलता नष्ट होती है और उसमें धारणा की योग्यता आ जाती है। अतः प्राणायाम साधक अपना शारीरिक मानसिक विकास करता और आत्मिक क्षेत्र में प्रवेश करता है।

ध्यान

संसार के सभी महत्वपूर्ण कार्यों की सफलता के लिए मनोयोग अथवा ध्यान की, एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इसमें भी आध्यात्मिक ज्ञान तो बिना ध्यान के निश्चल हुये हो ही नहीं सकता। ध्यानपूर्वक विचार करने से ही हम किसी वस्तु के मूल स्वरूप और उसकी वास्तविकता को जान सकते हैं। यदि हमारा ध्यान इधर उधर बंटा रहता है, तो हम किसी विषय का गहराई में ठँठकर यथातथ्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जिस तरह से आतशी शीशे से सूर्य की बिखरी किरणों को एकत्रित करके किसी कपड़े या कागज पर फैंका जाता है तो वह जलने लगता है, पर बिना एकत्रित हुये साधारणतः वह उसे जलाने की सामर्थ्य नहीं रखती, इसी तरह किसी समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर, एकाग्रता पूर्वक मनन करने पर उलझी हुई गुत्थियों का भी सरल समाधान प्राप्त हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित हो जाती है। एकता शक्ति का दूसरा नाम हैं। मन की अपार सामर्थ्य को एक निश्चित मार्ग में लगा देने से शक्ति के द्वार खुल जाते हैं। इसी को सिद्धि कहा जाता है। इसलिए ध्यान योग का साधक सिद्धि के मार्ग की ओर पग बढ़ाता है, उसे हर

क्षेत्र में सिद्धि ही दिखाई देती है। असफलता या असम्भव का एक कण भी उसे सारी सृष्टि में दृष्टिगोचर नहीं होता। वह सफलता के झण्डे गाढ़ता हुआ निरन्तर आगे ही बढ़ता रहता है।

अर्थ चिंतन

ध्वनि समूहों की शक्तियो के अतिरिक्त मन्त्रों में उत्तम शिक्षायें और प्रेरणायें भी होती हैं जिनका मनन, चिन्तन करने से वह जीवन का कायाकल्प ही कर देती हैं। मन्त्र का अर्थ ही मनन, विद्या और ज्ञान होता हैं। यदि उसके अर्थों का मनन न किया जाये तो साधना अधूरी ही रहती हैं। जब इष्ट मन्त्र का जप किया जाता है, तो नेत्र बन्द करके मन्त्र में एक-एक अक्षर के अर्थ पर रुक-रुक कर विचार करना चाहिये और मनः क्षेत्र पर उसे प्रतिष्ठित करना चाहिए जैसे वह मूर्त रूप में सामने आ रहे हैं और साधक उनका श्रद्धा पूर्वक ध्यान और चिन्तन कर रहा है। जिस विचारों का नित्यप्रति बार-बार चिन्तन किया जाता है, उनका मनमें पहले से स्थित विचारों से सघर्ष आरम्भ हो जाता है। जो समूह प्रभावशाली होता है, उसी की विजय होती हैं। मनमें जो पहले जन्मों के संस्कार जमे होते हैं, वह उखड़ने लगते है और नये संस्कार उदीप्त होना आरम्भ होते हैं और साधक अपने लिए एक नई सृष्टि का निर्माण करता है। यह तभी होना सम्भव होता है जब वह नियमित रूप से लम्बे समय तक निरन्तर उन्हीं विचारों को मनोभूमि में विकसित करने का प्रयत्न करता रहता है। चिन्तन की प्रक्रिया से जिस मन्त्र में अगाध श्रद्धा और विश्वास होता है, उसके अर्थ तो जीवन का एक अङ्ग बन जाते हैं। साधना की सफलता इसी में है। जब साधक मन्त्र के साथ एक कार कर लेता हैं। उसकी विधि एकाग्रता पूर्वक जप के साथ अर्थ-चिन्तन की है। जप की प्रमुखता तो है ही। उससे लाभ होता ही है परन्तु उनके अर्थों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। साधना की पूर्णता इसी में है कि जप के साथ अर्थों का चिंतन हो।

द्वारा मन को वश में करना असम्भव ही होता है। मन को एकाग्र करने का एक मात्र उपाय प्राणायाम है।' भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—'प्राणायाम के द्वारा ध्यान करने से वशीभूत हो जाने पर जैसे एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है, ऐसे ही साधक अपने में मुझे और मुझ परमात्मा में अपने को मिला देता है।' योग दर्शन २।५३ में भी कहा गया है कि प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मन की चञ्चलता नष्ट होती है और उसमें धारणा की योग्यता आ जाती है। अतः प्राणायाम साधक अपना शारीरिक मानसिक विकास करता और आत्मिक क्षेत्र में प्रवेश करता है।

ध्यान

संसार के सभी महत्वपूर्ण कार्यों की सफलता के लिए मनोयोग अथवा ध्यान की, एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इसमें भी आध्यात्मिक ज्ञान तो बिना ध्यान के निश्चल हुये हो ही नहीं सकता। ध्यानपूर्वक विचार करने से ही हम किसी वस्तु के मूल स्वरूप और उसकी वास्तविकता को जान सकते हैं। यदि हमारा ध्यान इधर उधर बंटा रहता है, तो हम किसी विषय का गहराई में ठँठकर यथातथ्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जिस तरह से आतशी शीशे से सूर्य की बिखरी किरणों को एकत्रित करके किसी कपड़े या कागज पर फैंका जाता है तो वह जलने लगता है, पर बिना एकत्रित हुये साधारणतः वह उसे जलाने की सामर्थ्य नहीं रखती, इसी तरह किसी समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर, एकाग्रता पूर्वक मनन करने पर उलझी हुई गुत्थियों का भी सरल समाधान प्राप्त हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित हो जाती है। एकता शक्ति का दूसरा नाम हैं। मन की अपार सामर्थ्य को एक निश्चित मार्ग में लगा देने से शक्ति के द्वार खुल जाते हैं। इसी को सिद्धि कहा जाता है। इसलिए ध्यान योग का साधक सिद्धि के मार्ग की ओर पग बढ़ाता है, उसे हर

क्षेत्र में सिद्धि ही दिखाई देती है। असफलता या असम्भव का एक कण भी उसे सारी सृष्टि में दृष्टिगोचर नहीं होता। वह सफलता के झण्डे गाड़ता हुआ निरन्तर आगे ही बढ़ता रहता है।

अर्थ चिंतन

ध्वनि समूहों की शक्तियो के अतिरिक्त मन्त्रों में उत्तम शिक्षायें और प्रेरणायें भी होती हैं जिनका मनन, चिन्तन करने से वह जीवन का कायाकल्प ही कर देती हैं। मन्त्र का अर्थ ही मनन, विद्या और ज्ञान होता है। यदि उसके अर्थों का मनन न किया जाये तो साधना अधूरी ही रहती है। जब इष्ट मन्त्र का जप किया जाता है, तो नेत्र बन्द करके मन्त्र में एक-एक अक्षर के अर्थ पर रुक-रुक कर विचार करना चाहिये और मन: क्षेत्र पर उसे प्रतिष्ठित करना चाहिए जैसे वह मूर्त रूप में सामने आ रहे हैं और साधक उनका श्रद्धा पूर्वक ध्यान और चिन्तन कर रहा है। जिस विचारों का नित्यप्रति बार-बार चिन्तन किया जाता है, उनका मनमें पहले से स्थित विचारों से संघर्ष आरम्भ हो जाता है। जो समूह प्रभावशाली होता है, उसी की विजय होती हैं। मनमें जो पहले जन्मों के संस्कार जमे होते हैं, वह उखड़ने लगते हैं और नये संस्कार उदीप्त होना आरम्भ होते हैं और साधक अपने लिए एक नई सृष्टि का निर्माण करता है। यह तभी होना सम्भव होता है जब वह नियमित रूप से लम्बे समय तक निरन्तर उन्हीं विचारों को मनोभूमि में विकसित करने का प्रयत्न करता रहता है। चिन्तन की प्रक्रिया से जिस मन्त्र में अगाध श्रद्धा और विश्वास होता है, उसके अर्थ तो जीवन का एक अङ्ग बन जाते हैं। साधना की सफलता इसी में है। जब साधक मन्त्र के साथ एक कार कर लेता हैं। उसकी विधि एकाग्रता पूर्वक जप के साथ अर्थ-चिन्तन की है। जप की प्रमुखता तो है ही। उससे लाभ होता ही है परन्तु उनके अर्थों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। साधना की पूर्णता इसी में है कि जप के साथ अर्थों का चिन्तन हो।

संस्कारित साधन स्थल

स्थान का चुनाव मन्त्र साधना का एक आवश्यक अङ्ग है । शास्त्रों में सिद्धि के जो साधन बताए गये हैं वह किसी भी स्थान पर केवल जप की संख्या पूरी करने पर अनुकूल परिणाम प्रस्तुत कर दें, यह आवश्यक नहीं हैं । साधना के लिए एकाग्रता चाहिए और एकाग्रता की प्राप्ति के लिए एकान्त, शान्त, पवित्र और संस्कारित भूमि चाहिए । जिस स्थान में यह गुण हों, वही स्थान साधना के लिये उपयुक्त माना जाता है ।

शास्त्रों में इन स्थानों को अनुष्ठान के लिए विहित माना गया है— एकान्त, उद्यान, पवित्र वन, सङ्गम, तीर्थ, गुहा, सरिता तट, पुण्यक्षेत्र, सिद्धपीठ, विल्व वृक्ष, पर्वत की तराई, तुलसी कानन, गोशाला जिसमें बैल न हों, अपने घर के एकान्त स्थान में, जल में. पीपल या आंवले के नीचे, देवालय आदि ।

उपरोक्त घोषणा का यह अर्थ नहीं है कि घर पर की गई साधना निकृष्ट होती है और उसका कोई विशेष लाभ नहीं होता । मुख्य सिद्धाँत तो यह है कि जहाँ चित्त की एकाग्रता प्राप्ति में सहायता मिलती है,वही स्थान उसके लिए उपयुक्त है । घर का साधना स्थल यदि एकान्त, शाँत और दिव्य वातावरण से ओत-प्रोत है और कभी-कभी वहाँ हवन होता रहता है तो उसी स्थान से अभीष्ट लाभ की आशा की जा सकती है । वहाँ पर परिवार के सदस्यों का आना जाना कम हो, कोलाहल कम हो ताकि साधना में बाधा न पड़े । निरन्तर साधना करते रहने पर वह स्थान भी संस्कारित होने लगता है और फिर कम समय में अधिक लाभ की भी सम्भावना हो सकती है । सिद्ध पीठ, पुण्य क्षेत्र और तीर्थ पर साधना करने पर इसलिए सिद्धि मिलती है क्योंकि उस भूमि पर सिद्ध साधकों ने लम्बे समय तक घोर तपश्चर्याएं की है, उनका प्रभाव

वह भूमि ग्रहण किये रहती है। जिस भूमि पर जितनी श्रमिक साधना की जाती है, वहाँ पर उतनी ही शीघ्रता से सिद्धि मिलती है।

असंक्रामक आसन

आसन उस वस्तु का बनाया जाता है। जो असंक्रामक (नानकन्ड-क्टर) हो। इससे पार्थिव विद्युत पृथ्वी में प्रवाहित नहीं हो सकती। बिजली वाले बिजलो की फिटिंग व मरम्मत करते हुए ऐसी वस्तुओं को माध्यम बनाते हैं जो असंक्रामक हों जैसे—रेशम, मिट्टी, चीनी, रबड़, लकड़ी आदि। इसमें विद्युत दूसरी ओर प्रवाहित नहीं हो सकती। लोहा, पीतल आदि धातुएं ऐसी हैं जिन्हें संक्रामक (कन्डक्टर) की संज्ञा दी जाती है। यदि इन्हें माध्यम बनाया जाय तो विद्युत से हानि हो सकती है।

इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए कुश का आसन, मृगचर्म, व्याघ्र चर्म, ऊन का आसन, काष्ठ की चौकी और गोबर के चौके का पूजा—पाठ के कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि वह असंक्रामक—नान-कन्डक्टर गुण से युक्त है और पृथ्वी और साधक में एक ऐसे माध्यम का काम देते हैं जिससे शक्ति का प्रवाह नीचे की ओर न हो। इसके विपरीत वस्त्र और पत्थर के आसन वर्जित माने गये हैं क्योंकि यह दोनों संक्रामक (कन्डक्टर) है। इनसे पार्थिव विद्युत प्रवाहित हो सकती है। पत्थर पर घण्टों उपासना के लिये बैठा जाये तो उसके कड़ेपन के कारण गुदा सम्बन्धी रोगों की सम्भावना भी हो सकती है।

दिशा

मन्त्र जाप में दिशा का भी विशिष्ट स्थान है। अपनी इच्छा से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी दिशामें बैठकर वाञ्छित लाभ की प्राप्ति करना कठिन है। हर प्रकार की साधना के लिए अलग अलग दिशाओं का निर्धारण किया गया हैं।

प्रातःकालीन संन्ध्या, जप के लिये पूर्व की ओर मुख करने का

विधान है। पूर्व देवताओं की दिशा मानी गई है। शतपथ ब्राह्मण (१।७।१।१२) में कहा है--

'प्राची हि देवानां दिक्।'

'देवताओं की दिशा पूर्व ही है।'

सन्ध्या में पूर्व की ओर बैठने का प्रमुख कारण यह है कि सूर्य पूर्व की ओर से उदय होता है। सूर्य अग्नि और तेजस्विता का प्रतीक और प्राण शक्ति का महाभण्डार है, उसकी हर किरण में आरोग्य ओत प्रोत है। इसलिए सूर्य को स्थावर जङ्गम की आत्मा कहा जाता है। सूर्य से प्राण शक्ति को आकर्षित करने के लिए आवश्यक है कि उसकी ओर ही मुख किया जाये। सूर्य शाम को पश्चिम की ओर चला जाता है। इसलिए सायंकालीन साधना पश्चिम की ओर मुख करके की जाती है। अपनी प्राण विद्युत को विश्व की महानतम प्राणविद्युत के स्रोत सूर्य के अनुकूल प्रवाहित करने से साधना की सफलता में सुविधा रहती है। विपरीत धारा में चलने से कठिनाई स्वाभाविक है। ईसाई अपने गिरजाघरों के द्वार पूर्व की ओर ही रखते हैं। पारसी बौद्ध और जैनियों की भी यही मान्यता है।

सायंकालीन सन्ध्या पश्चिम की ओर मुख करके होती है क्योंकि सूर्य पश्चिम में अस्त होता है। जिधर सूर्य की दिशा होगी उधर ही मुख करने का विधान है। प्रातः पूर्व की ओर, सूर्य की ओर मुख करके साधना करने से जो लाभ प्राप्त होने चाहिये, वही लाभ सायं पश्चिम की ओर मुख करने से प्राप्त होने स्वाभाविक है।

उपवास

उपवास का विधान विशेष प्रकार से आत्मिक उत्थान के लिये ही निर्धारित किया गया था क्योंकि उपवास काल में साधक की आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत, चैतन्य, व तीव्र होती हैं। यह एक प्रकार की तपश्चर्या है जिसमें सोई हुई शक्तियाँ क्रियाशील हो उठती हैं, विचारों से नवोत्थान आता है, विवेक, बुद्धि का विकास होता है, विषयों और वास-

नाओं के प्रति विद्रोह खड़ा करने का साहस उत्पन्न होता है, एक क्रम बद्ध जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलती हैं, अपनी आत्मिक मलिन-ताओं के प्रति घृणा जाग उठती हैं और उनके बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के लिये मन बद्ध पक्षी की तरह छटपटाता है। विषय भोगों की जकड़ से मुक्त होने की तीव्र इच्छा होना शुभ लक्षण माने जाते है। उपवासकाल में ऐसे ही अनुभव होते हैं।

उपवास मन को गीली मिट्टी की तरह बना देता हैं। गीली मिट्टी से कुम्हार जैसे बर्तन चाहे बना सकता है। उपवास के साथ स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, ध्यान आदि जो भी साधनायें की जाती हैं, उनकी अमिट छाप मन पर पड़ती है। उपवास की अग्नि मन को पिघला देती है, उस समय उसका जैसा भी आकार बनाना चाहें. बन सकता है। उपवास के दिन जो व्यक्ति अपनी सकाम साधना करते हैं तो उनकी इच्छा पूर्ति होती है। सदाचार, ब्रह्मचर्य, संयम कामवासनाओं पर नियन्त्रण करना चाहें तो यह आशीर्वाद भी प्राप्त हो सकता है। ऋषिसिद्धियों का भी यह मार्ग है। अपने आन्तरिक शत्रु जो हमें दिन रात घुन की तरह खाते रहते हैं और शारीरिक व आत्मिक दृष्टि से खोखला बना देते हैं, उन पर विजय प्राप्त करना भी सरल हो जाता है। उपवास शक्ति का भण्डार है।

यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि उपवास के साथ की गयी साधना शीघ्र फलदायक होती है। इन दिनों जो भी मनन, चिन्तन और विचार साधना की जाती है, उसकी एक अमिट छाप मानसिक क्षेत्र पर अङ्कित हो जाती है और साधक का व्यवहारिक जीवन उसी ओर प्रवाहित हो जाता है। प्राणायाम, ध्यान, धारणा समाधि व मन्त्र सिद्धि में उपवास एक सहायक साधन है क्योंकि अन्न विभिन्न प्रकार के तपों की तरह उपवास भी एक प्रकार का तप है जिसकी अग्नि में जलकर मन पर जमे मल विक्षेप घुलने लगते हैं। मन की पवित्रता और शुद्धता ही

शक्ति और सिद्धि की ओर ले जाती है। अतः सिद्धि के इच्छुक साधक उपवास की साधना को न भूलें।

संयम

इन्द्रिय निग्रह को ही संयम कहते हैं। संयम का अभिप्राय है--शक्तियों के अपव्यय को रोकना, हमारे शरीर व मन में ईश्वर प्रदत्त अपार शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यदि इनका उचित रीति से उपयोग किया जा सके तो हर व्यक्ति महानतम कार्यों का सम्पादन कर सकता है। शक्ति नाश का मार्ग है--यह इन्द्रियाँ। यदि इनका असंयम बरता गया तो अपनी सारी सामर्थ्य की बर्बादी हो जायेगी और शारीरिक, मानसिक बौद्धिक व आत्मिक हर दृष्टि से व्यक्ति दिवालिया हो जायेगा। ऐसा व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो संयम का पालन करता है, वह अपनी शक्तियों का संचय करता है। इस सचय में वह अपनी शक्तियों के अकूत भण्डार को सुरक्षित रखता है और किसी भी अभीष्ट दिशा में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकता है।

मन्त्र साधना का उद्देश्य अपनी सुप्त शक्तियों को जाग्रत करके अभीष्ट कार्यों की पूर्ति करना है। शक्ति विकास के पथ पर चलने वाले साधक की दृष्टि चारों ओर से अपनी अमूल्य सम्पदा को सुरक्षित रखने की ओर ही रहती है। शक्ति तब बढ़ती है जब शक्ति का सहयोग मिलता है। यदि अपने शक्ति भण्डार में से शक्तियों का ह्रास होता रहे, तो शक्ति विकास साधना में बाधा पड़ती है। शक्ति विकास की विशिष्ट साधना-अनुष्ठान में ऐसे नियमों के पालन का आदेश दिया गया है जिनसे संयम का अभ्यास बढ़ता है। जो साधक इनका पूर्ण रूप से पालन कर पाता है, वह सिद्धि के मार्ग को प्रशस्त करने में सफल हो जाता है। उपेक्षा करने वाले की सिद्धि भी उपेक्षा करती है। मन्त्र साधक को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यदि वह मन्त्र साधना में सफलता प्राप्त करना चाहता है तो उसे इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना होगा। यदि इन्द्रियों को मनमानी करने दी गई तो मन्त्र सिद्धि में व्यवधान

खाना स्वाभाविक है। अतः मन्त्र साधना में सफलता के लिए संयम अनिवार्य है, जो इसका मेरुदण्ड है।

मौन

मौन से शक्ति का ह्रास रुकता है, उसकी सुरक्षा रहती है। शारीरिक अङ्गों में नई फुर्ती आती है, मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है, बुद्धि का विकास होता है, आत्म बल बढ़ता है। यह सभी शक्तियाँ मनुष्य-जीवन के विकास में सहायक होती हैं। इनका अभाव जीवन की असफलता है और बुद्धि सफलता की सूचक है। जिस तरह बैटरी को चार्ज करके उसे पुनः काम के लिए बनाया जाता हैं, इसी तरह जब शरीर में विद्युत कम होने लगती है, तो उसे पुनः लाने के लिए मौन रूपीं चार्ज की आवश्यकता रहती है। अतः मौन हर प्राणी के लिए आवश्यक और अनिवार्य हैं। इस अस्त्र का प्रयोग अचूक और लाभदायक रहता है।

मौन व्रत मन्त्र साधना का एक आवश्यक अङ्ग माना गया है। मौन रहना शक्ति संचय की साधना है। उपवास, ब्रह्मचर्य व्रत, अस्वाद व्रत, आदि अनेकों ऐसे साधन है जिनका उपयोग मन्त्र उपासना काल में किया जाता है। उनके साथ-साथ मौनाबलम्न भी साधका की सफलता के लिए सहायक सिद्ध होता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि बिना मौन रहने के मन्त्र सिद्धि दुर्लभ है परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मौन के अभ्यास से शक्तियाँ सुरक्षित रहती है जो मन्त्र सिद्धि को सुलभ बनाती हैं। जो साधक इष्ट मन्त्र से शीघ्र सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इस सहायक साधना का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

आहार शुद्धि

यह निश्चित सिद्धान्त है कि मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बनता है। सात्विक अन्न खाने से सात्विक व राजसिक

तामसिक अन्न ग्रहण करने से राजसिक व तामसिक मनोभूमि तैयार होती है। इसलिए विधान बताया गया कि जो साधक अपने जीवन का निर्माण करना चाहते हैं उन्हें सात्विक प्रकृति का व शुद्ध कर्मादि का अन्न ही खाना चाहिए क्योंकि दुःख सुख और बन्धन मुक्ति का यही कारण है। अस्वस्थ मन में ही चिन्ता, निराशा, दुःख, कलह, क्लेश, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि की दुर्भावनायें उपज सकती हैं। स्वस्थ मन इन वृत्तियों के लिए बन्जर भूमि सिद्ध होता है और इनके लिए आहार की पवित्रता आवश्यक है।

शिव पार्वति सम्वाद में एक स्थान पर शिव ने कहा है—"जिनकी जिह्वा परान्न से जल गई है, जिनके हाथ प्रतिग्रह से जले हुए हैं और जिनका मन परस्त्री के चिन्तन से जलता रहता है, उन्हें भला मन्त्र सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है।

अतः मन्त्र साधना में सफलता प्राप्ति के लिए आहार शुद्धि को साधना का एक आवश्यक अङ्ग माना जाना चाहिए। यदि उसकी उपेक्षा की गई तो इसे साधना में एक व्यवधान समझना चाहिए।

ध्वनि समूह को मन्त्र कहते हैं। ध्वनि का प्रभाव निश्चित रूप से होता है, यह वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर पहले सिद्ध किया जा चुका है। परन्तु उन विशिष्ट ध्वननियों का प्रयोग जिस माध्यम से किया जाता है, उसका भी सबल होना आवश्यक है। प्रयोग का विधि विधान भी ऐसा हो कि उसका निशाना लक्ष्य स्थल पर अचूक रहे। यह तभी सम्भव है जब मन्त्र शक्ति के विकसित व जाग्रत होने के आधारभूत तथ्यों की ओर ध्यान दिया जायेगा। अतः यह सहयोगी प्रक्रियायें मन्त्र सिद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदर्शित करती हैं।

अभ्यास

मन ऐसा ही भूत है जो जब भी निरर्थक बैठता है, तभी कुछ न कुछ खुराफात करता है। इसलिए यह जब भी काम से छुट्टी पाए, तभी

इसे जप पर लगा देना चाहिए। जप केवल समय काटते के लिए ही नहीं है, वरन् वह एक बड़ा ही उत्पादक एवं निर्माणात्मक मनोवैज्ञानिक श्रम है। निरन्तर पुनरावृत्ति करते रहने से मन में उस प्रकार का अभ्यास एवं संस्कार बन जाता है, जिससे वह स्वभावतः उसी ओर चलने लगता है।

पत्थर पर बार-बार रस्सी की रगड़ लग जाने से उसमें गड्ढा पड़ जाता है। पिंजड़े में रहने वाला कबूतर बाहर निकाल देने पर भी उसी में वापिस आ जाता है। गाय को जङ्गल में छोड़ दिया जाय तो वह रात को स्वयमेव लौट आती है। निरन्तर अभ्यास से मन भी ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपने दीर्घकाल तक किए गये कार्यक्रम में अना-यास ही प्रवृत्त हो जाता है।

अनेक निरर्थक कल्पना प्रपञ्चों में उछलते कूदते फिरने की अपेक्षा आध्यात्मिक भावना की एक सीमित परिधि में भ्रमण करने के लिए जप का अभ्यास करने से मन एक ही दिशा में प्रवृत्त रहने लगता है। आत्मिक क्षेत्र में मन का लगा रहना, उस दिशा में एक दिन पूर्ण सफ-लता प्राप्त होने का लक्षण है। मन रूपी भूत बड़ा बलवान है। यह सांसारिक कार्यों को बड़ी सफलतापूर्वक करता है और जब आत्मिक क्षेत्र में जुट जाता है, जो भगवान के सिंहासन को हिला देने में भी नहीं चूकता। मन की उत्पादक एवं प्रेरक शक्ति इतनी विलक्षण है कि उसके लिए संसार की कोई वस्तु असम्भव नहीं। भगवान को प्राप्त करना भी उसके लिए बिल्कुल सरल है। कठिनाई केवल एक नियत क्षेत्र में जमने की है, सो जप के व्यवस्थित विधान से वह भी दूर हो जाती है।

हमारा मन कैसा ही उच्छृङ्खल क्यों न हो, पर जब उसको बार बार किसी भावना पर केन्द्रित किया जाता रहेगा, तो कोई कारण नहीं कि कालान्तर में उसी प्रकार का न बनने लगे। लगातार प्रयत्न करने से सरकस में खेल दिखाने वाले बन्दर, सिंह, बाघ, रीछ जैसे

उदण्ड जानवर मालिक की मरजी पर काम करने लगते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं तो कोई कारण नहीं कि चञ्चल और कुमार्गगामी मन को वश में करके इच्छावर्ती बनाया जा सके। पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी नियत मर्यादा में दण्ड बैठक आदि करते हैं, उनकी इस क्रिया-पद्धति से उनका शरीर दिनों-दिन हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और एक दिन वे अच्छे पहलवान बन जाते हैं। नित्य का जप एक एक आध्यात्मिक व्यायाम है, जिससे आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ और सूक्ष्म शरीर को बलवान बनाने में महत्वपूर्ण सहायता मिलती है।

एक-एक बूँद जमा करने से घड़ा भर जाता है। चींटी एक-एक दाना ले जाकर अपने बिलों में मनों मनाज जमा कर लेती है। एक-एक अक्षर पढ़ने से, थोड़े दिनों में विद्वान बना जा सकता है। एक-एक कदम चलने से लम्बी मंजिलें पार हो जाती हैं। एक-एक पैसा जोड़ने से खजाने जमा हो जाते हैं। एक एक तिनका मिलने से मजबूत रस्सी बन जाती है। जप में भी वही होता है। माला का एक एक दाना फेरने से बहुत जमा हो जाता है—और इतना जमा हो जाता है कि उससे आत्म-कल्याण हो जाता है, इसलिए योग ग्रन्थों में जप को, यज्ञ बताया गया है। उसकी बड़ी महिमा गाई गई है और आत्म मार्ग पर चलने की इच्छा करने वाले पथिकों के लिये जप करने का कर्तव्य आवश्यक रूप से निर्धारित किया गया है।

शब्द शक्ति के चमत्कार

शास्त्रों ने शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी है और इसकी उपासना का निर्देश भी दिया है। शब्द अच्छा हो या बुरा, उसे ब्रह्म मानना ही इस उपासना का लक्ष्य है। इससे शब्द मात्र में समबुद्धि उत्पन्न हो जाती है और वह निन्दा स्तुति से अप्रभावित होता है। यह समवृत्ति उसके अन्तःकरण को शुद्ध करती हुई आनन्द और शान्ति के मार्ग पर ले जाती है।

मन्त्र का आधार शब्द इसलिए माना है कि यह अन्य तत्वों की अपेक्षा शक्तिशाली है। शास्त्रों ने इसकी शक्ति और सामर्थ्य को देखकर इसे ब्रह्म ही कह डाला। वास्तव में शब्द में अपार सामर्थ्य है। जब शब्दों का उच्चारण होता है, तो उनसे कम्पन्न उत्पन्न होते हैं, वह कम्पन विश्व यात्रा की तैयारी करते हैं और ईथर-तत्व के माध्यम से परिभ्रमण करके कुछ ही क्षणों में इस परिक्रमा को समाप्त कर लेते हैं। इस यात्रा में अनुकूल कम्पनों से मिलन होता है। अनुकूलता में एकता का सिद्धान्त प्राकृतिक है। इन कम्पनों का एक पुञ्ज सा बन जाता है और अपने केन्द्र तक लौटते-लौटते वह अपनी शक्ति को काफी बढ़ा लेते हैं। यह कार्य इतनी तीव्रता से हो जाता है कि साधक को इसका अनुभव भी नहीं हो पाता कि शब्दों के उच्चारण मात्र से यह चमत्कार कैसे उत्पन्न हो रहे हैं।

लोक में भी शब्द के अनेकों चमत्कार प्रत्यक्ष रूप से हम देखते हैं। बीन बजाने से सर्प को मोहित किया जाता है। शब्दों के प्रभाव से हाथी जैसे विशालकाय पशुओं को वश में किया जा सकता है, सङ्गीत से मृग तन्मय हो जाते हैं, गायों का दूध बढ़ाया जाता है। मेघ-मल्हार से वर्षा की जाती है, दीपक राग से बुझे हुए दीपक जलाये जाते हैं। थाली बजाकर सर्प, बिच्छु आदि के विष उतारे जाते हैं और भूतोन्माद व कण्ठमाला जैसे रोगों का शमन किया जाता है। सैनिकों को पुल पर से पग मिलाकर चलने का निषेध रहता है क्योंकि इससे पुल के गिरने की सम्भावना होती है। आधुनिक विज्ञान ने भी संङ्गीत के प्रभाव की अनेकों प्रकार से परीक्षा की है।

सङ्गीत का केलों पर प्रभाव का परीक्षण अन्तमलाई विद्यालय के वनस्पति अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष टी० सी० एन० सिंह की देख-रेख में किया गया। तंजोर जिले के एक गाँव में किये गये परीक्षण से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि सङ्गीत का केले के वृक्ष पर अनुकूल

प्रभाव पड़ता है। वह न केवल सङ्गीत का रसास्वाद ही करना है, वरन् उससे खूब फलता-फूलता भी है।

केलों के बगीचे में जहाँ ३॥ महीने नादस्वरम् नामक प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय वाद्य प्रतिदिन आधा घन्टे तक बजाया जाता था—केले के पेड़ बढ़े, साथ-साथ उनकी पैदावार भी बढ़ी। वहाँ से सौ मीटर दूर, उसी तरह की भूमि तथा वैसी ही स्थिति के अन्तर्गत उगे हुए केले के वृक्षों की पैदावार के मुकाबले में दुगुनी पदावार हुई।

पशुओं पर भी इसके अनुभव किए हैं। शैले इग्लैंड की प्रसिद्ध संगीतज्ञ है। वह प्लाईमौथ के चिड़िया घर में जाकर झील के किनारे अपना साज बजाना आरम्भ कर देती है। उसकी आकर्षक ध्वनि से अनेकों पशु किनारे पर आ जाते हैं और जब तक वह साज बजता रहता है, वह तन्मय होकर सुनते रहते हैं। सील मछली की सङ्गीत-प्रियता जगत् प्रसिद्ध है। उसकी इस वृत्ति से लाभ उठाकर शिकारी अपनी नाव या जहाज में देना बजाते हैं, तो स्वर लहरी की माधुरी से मुग्ध होकर सील अपना मुख पानी से निकालकर संगीत सुनने में इतनी तन्मय हो जाती है कि उसे अपने प्राणों की सुध-बुध तक नहीं रहती और शिकारी के जाल में फँस जाती है।

पशु मनोविज्ञान के विशेषज्ञ डा० जार्ज फेरविन्सन की खोजों के परिणामस्वरूप यह पता चला है कि पियानो के बजते ही कमरे के सब चूहे अपनी संकोचशीलता तथा भय की भावना को दूर करके दिन में भी पियानो के पास आ जाते हैं और बड़े ध्यान से सङ्गीत सुनते हैं। कुत्तों पर भी सङ्गीत का प्रभाव देखा गया है। उल्लू और गरुड़ को संगीत विशेष रूप से आकर्षित करता है। चिड़ियों को भी संगीत बहुत प्रिय है। नार्वे के डा० हन्सन ने पता लगाया है कि शहद की मक्खी सङ्गीत के स्वर का आनन्द उठाने में सबसे तेज होती है। मच्छर तो मनुष्य की आवाज से भी प्रभावित होते हैं। अतः सिद्ध है कि शब्द

प्राणी मात्र को प्रभावित और आकर्षित करते हैं, क्योंकि उनमें एक अद्भुत शक्ति होती है।

ग्राहम और नील नाम के दो वैज्ञानिकों ने आस्ट्रेलिया के मेलबोर्न नगर की एक भारी भीड़ वाली सड़क पर शब्द शक्ति का वैज्ञानिक परीक्षण किया और वह सार्वजनिक प्रदर्शन में सफल रहे। परीक्षण की माध्यम थी एक निर्जीव कार जिसे अपने इशारों पर वह नचाना चाहते थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि शब्द शक्ति की सहायता के बिना किसी ड्राईवर के वह कार चल सकती है। हजारों की भीड़ ने आश्चर्य चकित नेत्रों से देखा कि सञ्चालक के 'स्टार्ट' करते ही वह कार चलनी आरम्भ हो गई और 'गो' के सुनते ही उसने गति पकड़ ली। लोग देख रहे थे कि क्या निर्जीव वस्तुओं में भी कान होते है और सुनकर वह उस कार्य का सम्पादन भी कर सकती है। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने यह देखा कि सामने से एक मार्ग आता देखकर जब सञ्चालक ने 'हाल्ट' का आदेश दिया तो वह वहीं तुरन्त रुक गई।

यह कोई जादू या हाथ की सफाई का काम नहीं था वरन् इसके पीछे विज्ञान का एक सिद्धान्त काम कर रहा था। यह स्पष्ट रूप से शब्द शक्ति का एक वैज्ञानिक प्रयोग था। ग्राहम के हाथ से एक छोटा सा ट्रांजिस्टर था जिसका काम यह था कि आदेशकर्त्ता की ध्वनि को एक निश्चित्त फ्रीक्वेन्सी पर विद्युत शक्ति के द्वारा कार में 'डैश-बोर्ड' के नीचे लगे 'नियन्त्रण कक्ष' (कन्ट्रोल यूनिट) तक पहुँचा दे। उसके आगे 'कार रेडियो' नाम का एक दूसरा यन्त्र लगा हुआ था। इस यन्त्र से जब शब्द की विद्युत चुम्बकीय तरङ्ग टकराती तो कार के सभी पूर्जे अपने आप संचालित होने लगते थे। इन्जन तो काम कर ही रहा था, इसके साथ हार्न, बत्तियाँ, वाईपर आदि यन्त्र भी आज्ञा का पालन कर रहे थे। लोगों ने उसे चमत्कार की संज्ञा दी पर वास्तव में यह शब्द शक्ति विकसित प्रयोग था जिसे आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों का आधार प्राप्त था।

जर्मनी में प्रथम युद्ध के बाद की बात है। शब्द शक्ति के माध्यम से सेनाओं के नाश के यन्त्र का आविष्कार हुआ था। इस यन्त्र के द्वारा एक सैकिन्ड में दस लाख में अधिक ध्वनि कम्पन्न उत्पन्न करने पर व्यक्ति के ज्ञान तन्तु शीघ्र ही नष्ट कर दिये जाते थे और उसके प्राण शरीर से अलग हो जाते थे। इस यन्त्र के आविष्कार के अनुसार शब्द तरंगे जिन व्यक्तियों पर भी सक्रिय की जाती थी, वे व्यक्ति तुरन्त मर जाते थे।

शब्द तरङ्गों के जिस चमत्कारिक प्रभाव का वर्णन यहाँ किया गया है, उनका संचालन विद्युत शक्ति द्वारा ही होता है। यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है शब्द तरङ्गों को बदलने के लिए मन्त्र में कोई बाहरी शक्ति नहीं होती तो वैज्ञानिक चमत्कारों की तरह इससे विशिष्ट लाभ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं। इसका उत्तर विज्ञान ही देता है। एक 'रेट्रीमीटर' नाम के यन्त्र का आविष्कार हो चुका है। इसमें किसी बाहरी शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती बल्कि ध्वनि तरङ्गों की ऊर्जा विद्युत ऊर्जा का भी काम करती है अमेरिका के नेशनल एरोनोटिक्स एण्ड स्पेस ईडमिनिस्ट्रेशन' रिचर्स सेन्टर के आविष्कारक प्रो० थामस का कहना है कि यन्त्र में किसी भी माध्यम के प्रकाश फोटोसेंस्टिव सेन भेजकर विद्युत उर्जा में परिवर्तित कर दिया जाता है और फिर रिसीवर यन्त्र में विद्युत ऊर्जा में बहती तरङ्गों को ध्वनि में रूपान्तरित करके सुन लिया जाता है।

शब्द की सामर्थ्य सभी भौतिक शक्तियों से बढ़कर सूक्ष्म और विभेदन क्षमता वाली है, इस बात की निश्चित जानकारी होने के बाद ही मन्त्र विद्या का विकास भारतीय तत्व-दर्शियों ने किया। यों हम जो कुछ भी बोलते हैं, उसका प्रभाव व्यक्तिगत और समष्टिगत रूप से सौर ब्रह्माण्ड पर पड़ता है, तालाब के जल में फेंके गये एक छोटे से कम्पन को लहरें भी दूर तक जाती हैं, उसी प्रकार हमारे मुख से निकला हुआ, प्रत्येक शब्द आकाश से सूक्ष्म परमाणुओं में कम्पन

उत्पन्न करता है, इस कम्पन से लोगों में अदृश्य प्रेरणायें जागृत होती हैं, हमारे मस्तिष्क में विचार न जाने कहां से आते हैं, हम समझ नहीं पाते पर मन्त्र-विद् जानते हैं कि मस्तिष्क में विचारों की उपज कोई आकस्मिक घटना नहीं वरन् शक्ति की पर्तों में आदि काल से एकत्रित सूक्ष्म कम्पन है जो मस्तिष्क के ज्ञान-कोषों में टकराकर विचार के रूप में प्रकट हो उठते हैं, तथापि अपने मस्तिष्क में एक तरह के विचारों की लगातार धारा को पकड़ने या प्रवाहित करने की क्षमता है। एक ही धारा में मनोगति के द्वारा एक सौ विचार-धारा निरन्तर प्रवाहित करके सारे ब्रह्माण्ड के विचार जगत् में क्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उन विचारों को वाणी या सम्भाषण के द्वारा व्यक्त ही किया जाये।

शब्द की शक्ति पर विचार करते हुए हमारा ध्यान भारतीय मनशास्त्र की तरफ आता है। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थ मन्त्रों की महिमा से भरे पड़े हैं और आज भी करोड़ों व्यक्ति मन्त्रों के जप और प्रयोग द्वारा अपनी तरह-तरह की कामनाओं को पूरा करने का उद्योग करते रहते हैं। यहाँ की साधारण जनता का तो मन्त्रों में अटल विश्वास है, पर आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति मन्त्र-शक्ति का कोई तर्क और बुद्धि-युक्त प्रमाण न मिलने से उसको मानने से इनकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि एक व्यक्ति द्वारा कुछ शब्दों के उच्चारण करने से दूसरे व्यक्ति का सिर का दर्द मिट जाये या बिच्छू आदि का विष उतर जाय ? मंत्र द्वारा सन्तान होना, शत्रु पर विजय प्राप्त करना या लक्ष्मी की प्राप्ति आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में लोगों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है और प्रायः वादविवाद भी होने लगता है। एक मन्त्र-शक्ति का पूर्णतः समर्थन करता है। और दूसरा उसे कोरा वहम या कल्पना बतलाता है।

मन्त्र शास्त्र का समर्थन करने से हमारा आशय यह नहीं कि आज कल जो ओझा स्याने—भोपा आदि 'मन्त्र' का व्यवसाय करते हैं, वे

सब वास्तव में उसके जानकर हैं और जो कुछ क्रिया वे करते हैं, वह पूर्णतया सच्ची होती हैं। जिस प्रकार आजकल सभी प्राचीन विद्याओं का लोप हो गया है, उसमें वास्तविकता के बजाय ढोंग और छल का प्रवेश अधिक हो गया है, वही दशा मन्त्र-शास्त्र की भी समझनी चाहिए। लोग न तो उसके तत्व को समझते हैं और न परिश्रम पूर्वक पूरा विधि-विधान करते हैं, उन्होंने तो इसे केवल पेट भरने का धन्धा बना लिया है। अन्यथा जिस प्रकार विदेशों के विद्वान् पुरुष विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की खोज कर रहे हैं और वास्तविकता का पता लगाने के लिए तन, मन, धन सब कुछ अर्पण कर देते हैं, इसी प्रकार यदि हमारे यहाँ भी शब्द विज्ञान और उसके अन्तर्गत मन्त्र-विज्ञान की खोज की जाती तो सैकड़ों ऐसे आश्चर्य जनक तथ्यों का पता लगता, जिससे हमारा व्यक्तिगत कल्याण होने के साथ ही भारतीय संस्कृति का भी मुख उज्ज्वल होता।

भारतीय-दर्शन के मत से शब्द की शक्ति सबसे अधिक है, क्योंकि वह आकाशतत्व से सम्बन्धित है जो सर्वाधिक सूक्ष्म होता है और सूक्ष्म तत्व की शक्ति स्थूल-तत्व की शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक होती है, बारूद या किसी अन्य स्फोटक पदार्थ को जब विशाल शक्ति के रूप में परिणति करना होता है, तो उसमें चिनगारी लगाकर उसे स्थूल से सूक्ष्म गैस के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। आज हम आश्चर्य करते हैं कि प्राचीन ऋषि-मुनि किस प्रकार किसी मन्त्र या कुछ गूढ़ शब्दों का उच्चारण करके विनाश और निर्माण के बड़े-बड़े काम क्षण-मात्र में कर दिखाते थे ? इसका रहस्य यही था कि आज जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने पिछले सौ वर्षों में स्फोट करने वाले स्थूल पदार्थों की खोज करते करते भयङ्कर बम और घण्टे में आठ हजार मील दौड़ने वाले राकेट बना डाले। उसी प्रकार भारतीय ऋषि मुनियों ने स्थूल पदार्थों के बजाए सबसे सूक्ष्म तत्व आकाश से उत्पन्न शब्द शक्ति का अनुसंधान किया था और उसके उसके प्रयोग की ऐसी विधियाँ मालूम थी कि जिस

के प्रभाव से विश्व ब्रह्माण्ड में भी हलचल उत्पन्न की जा सकती थी। आज भी जो लोग इस विद्या की एकाध छोटी मोटी विधि को भली प्रकार सीख लेते हैं, वे आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाते हैं।

मन्त्र गठन का विज्ञान

मन्त्रों के निर्माण का भी एक स्वतन्त्र विज्ञान है। मन्त्र अर्थपूर्ण तो होते ही हैं और वह उत्तम शिक्षाओं के साथ ही वह मानवोपयोगी सिद्धान्तों से ओत-प्रोत भी रहते हैं, परन्तु उनमें भी महत्वपूर्ण उनमें भरी शक्तियां हैं, क्योंकि वेदों के प्रत्येक मन्त्र का गठन कुछ ऐसे चमत्कारी ढङ्ग से किया गया है कि उनका सीधा प्रभाव हमारी सूक्ष्म ग्रन्थियों, षट्चक्रों और शक्ति-केन्द्रों पर पड़ता है जिससे सूक्ष्म जगत् के शक्ति-केन्द्र जाग्रत होते हैं। मन्त्रों के विधिपूर्वक गठन से वह शब्द उनसे सम्बन्धित यौगिक ग्रन्थियों को गुदगुदाते हैं। उनकी सोई हुई शक्तियों को जगाते हैं। उन ग्रन्थियों में स्फूर्ति आने से वह क्रियाशील हो जाती है। जिस प्रयोजन के लिए जो मन्त्र होते हैं, वह उसी प्रकार की ग्रन्थियों को जगाते हैं, उन्हीं पर वह शब्द आघात करते हैं। इन ग्रन्थियों की क्रियाशीलता से ही साधक की विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो दूसरों को चमत्कार दिखाई देती हैं। परन्तु वास्तव में वह शब्दों की वैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है। विदेशी विचारक 'आर्टी में ब्लेकबर्न' ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'संस्कृत भाषा के अक्षरों में भाव और अर्थ दोनों होते हैं। इन अक्षरों के युक्ति-पूर्ण गठन से अनेक बार जादू का सा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।'

मन्त्र की सफलता उसके शुद्ध उच्चारण में है, तभी उनमें गुथे शब्दों का प्रभाव विभिन्न शक्ति केन्द्रों पर पड़ना सम्भव होता है। मन्त्र की सफलता में भावना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। श्रद्धा और विश्वास इसके मेरुदण्ड हैं।

विज्ञान के इस युग में शब्द-विज्ञान पर अनेकों वैज्ञानिकों के सफल

परीक्षणों के बाद भी यदि हम शब्द-विज्ञान पर आधारित मन्त्रगठन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर अविश्वास करें, तो हमें वैज्ञानिक तथ्यों से अनभिज्ञ ही समझा जायगा। सूक्ष्म जगत् की सोई हुई सूक्ष्म शक्तियों को जगाकर भौतिक और आध्यात्मिक लाभ उठाने की विधियों को खोज निकालने का श्रेय हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों को ही है। इन विभिन्न प्रकार की विधियों में मन्त्र भी एक है जिससे अपने शक्तिकोषों को विकसित करके अणु से महान् बना जा सकता है और मानव-जीवन की सभी उलझी गुत्थियों को सुलझाकर पृथ्वी पर ही अपना स्वर्ग बनाने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है।

जप की वैज्ञानिक प्रक्रिया

शास्त्रकारों ने जिन लाभों का वर्णन किया है, उसका विशेष वैज्ञानिक कारण है। स्थूल शरीर की तरह ही सूक्ष्म शरीर में भी नाड़ी तन्तुओं का जाल बिछा रहता है और सभी एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और उनके सुसञ्चालन के लिए अनेकों केन्द्रों की व्यवस्था की गई है, जहाँ से सम्बन्धित क्षेत्रों का नियन्त्रण होता है। जब जप आरम्भ होता है तो सूक्ष्म शरीर में एक अद्भुत प्रक्रिया का श्रीगणेश होता है। जिस तरह कि वीणा से एक प्रकार की स्वर-लहरी उत्पन्न होती है, उसी तरह से जप से भी सारे शरीर में एक झंकार उत्पन्न होती है, जिसका विशेष प्रभाव उन शक्ति-केन्द्रों पर पर पड़ता है जो सूक्ष्म शरीर की शक्तियों के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये हैं। इस बार-बार के आघातप्रतिघात से वह जाग्रत होते हैं और साधक अपने में अपार शक्ति की अनुभूति करता है। वह समझता है कि यह शक्तियां उसे देव-कृपा से प्राप्त हुई हैं, परन्तु वास्तव में यह उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का सुफल है, जो जप आरम्भ करते ही शुरू हो जाती है। शब्द की शक्ति को आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है और उससे लाभ उठाने की विभिन्न विधिया खोज निकाली हैं। भारतीय विज्ञान ने तो शब्द-शक्ति का प्रयोग आध्यात्मिक उत्थान के लिए किया था कि यहाँ का हर नागरिक इसका

श्रद्धा और विश्वासपूर्वक अभ्यास करता था और अपना नैतिक उत्थान करता हुआ देवता की श्रेणी में पहुंच जाता था, तभी तो भारत में ३३ करोड़ देवताओं की कल्पना की गई है। विधि-व्यव था और मन्त्र आज भी हमें उपलब्ध हैं, उन पर चलकर हम भी पशुत्व से ऊँचे उठकर सच्चे अर्थों में मानव बन सकते हैं और देवत्व की भूमिका में प्रवेश कर सकते हैं।

जप साधना के नियम

साधना की सिद्धि के लिए नियमों का पालन आवश्यक है। अतः उनकी जानकारी यहाँ दे रहे हैं—

१—शरीर की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि स्नान द्वारा ही मानी जाती है। अतः स्नान करके ही साधना पर बैठना चाहिए। अधिक सर्दी हो. ऐसा रोग हो जिसमें स्नान न किया जा सके या कोई विवशता हो तो हाथ-मुँह धोकर या गीले कपड़े से शरीर पोंछना ही पर्याप्त समझना चाहिए।

२—शरीर पर कम से कम वस्त्र रखने चाहिए। सर्दी के मौसम में कम्बल का प्रयोग किया जा सकता है।

३—साधना का स्थान शान्त व सात्विक हो। वैसे तो सरिता तट, मन्दिर, बाग आदि ही उपयुक्त रहते हैं। परन्तु ऐसी सुविधा न बन पड़े तो अपने घर में ही एकान्त स्थान चुन लेना चाहिए जहां अन्य सदस्यों का अधिक आना जाना न हो।

४—दिन भर पहने हुए वस्त्रों को पहन कर ही साधना नहीं करनी चाहिए।

५—साधना के लिए ऐसे आसन पर बैठना चाहिए जिसमें अधिक देर तक बैठने में कष्ट न हो। पालथी मारकर सीधे-सीधे ढङ्ग से बैठना उपयुक्त रहता है।

६—मेरुदण्ड सदा सीधा हो ताकि सुषुम्ना में प्राण का प्रवाह सुविधा पूर्वक हो सके ।

७—कुश के आसन पर बैठकर साधना करनी चाहिए । इसका प्रयोग सात्विक उपासना में चलता है । रजोगुणी उपासना में सूत का आसन और तमोगुणी उपासना में ऊन के आसन का विधान है । बिना आसन बिछाए नग्न भूमि पर न बैठना चाहिए ।

८—साधारण: तुलसी की माला का प्रयोग होता है । सकाम साधना में चन्दन की माला और तमोगुणी साधना में रुद्राक्ष की माला प्रयुक्त होती है ।

९—प्रात:काल का समय श्रेष्ठ माना जाता है । ब्रह्ममुहूर्त में उठकर साधना करनी चाहिए । कोई विवशता हो तो सूर्यास्त होने के एक घण्टे बाद तक की जा सकती है ।

१०—साधना नियमित और निश्चित समय पर होनी चाहिए ।

११—जप माला से करना चाहिए । मन्त्र शक्ति का अनुभव करने के लिये कम से कम ११ माला नित्य करनी ही चाहिए । अपनी सुविधा के अनुसार १, ३, ५, ७, ९ मामा का जप किया जा सकता है ।

१२—दिशा का विचार आवश्यक है । प्रातः काल पूर्व की ओर और सायंकाल पश्चिम की ओर मुख करके बैठना चाहिए । विशिष्ट साधनाओं में साधना के अनुसार दिशा का विचार करना चाहिए ।

१३—सामूहिक साधना में या जहाँ और व्यक्तियों का आना-जाना हो माला वस्त्र से ढक लेना चाहिए या गोमुखी में रखनी चाहिए । एकान्त स्थान होने पर इसे खुले रूप में जा सकता है ।

१४—जप इस तरह से करना चाहिए कि कण्ठ से ध्वनि तो होती रहे और होंठ भी हिलते रहें परन्तु पास में बैठा व्यक्ति उसे सुन न सके ।

१५—एक माला पूरी होने पर सुमेरु का उल्लंघन नहीं किया

जाता बल्कि उसे मस्तक तथा नेत्रों से स्पर्श करके पीछे की तरफ उल्टा कर पुनः जप आरम्भ कर दिया जाता है ।

१६—मन्त्र साधना में और लोगों को प्रेरित करना ही परमार्थ का कार्य है परन्तु अपनी साधना और अनुभवों से दूसरों को परिचित कराना न आवश्यक है और न अभीष्ट ।

१७—साधारणतः पूजा में पुष्पों का प्रयोग होता है । इनके अभाव में चावलों का प्रयोग किया जा सकता है ।

१८—जैसा अन्न होता है । वैसा ही मन बनता है । इसलिये तमोगुणी और रजोगुणी आहार से यथा सम्भव बचना चाहिए और सात्विक आहार करना चाहिए ।

१९—व्यवहार जितना सात्विक हो, उत्तम है । झूठ, छल, कपट, निन्दा, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि से बचना चाहिए ।

२०—कामोत्तेजक चल चित्रों और उपन्यासों से बचें । धार्मिक व अन्य प्रेरक पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए । अध्ययन में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए । अध्ययन के साथ मनन चिन्तन भी होना चाहिए ।

२१—पूजा से बचे पदार्थों को जहाँ-तहाँ नहीं फेंकना चाहिए । इन्हें किसी तीर्थ, नदी, मन्दिर आदि में विसर्जित करना चाहिए । चावल चिड़ियों को खिला देने चाहिए । नैवेद्य का बच्चों में प्रसाद के रूप में वितरण कर देना चाहिए । जल से सूर्य को अर्घ्यदान देना चाहिए ।

२२—किसी अनुभवी गुरु के निर्देशन में साधना करनी चाहिए जो साधना में आने वाले विघ्नों और बाधाओं को दूर करने की क्षमता रखते हों ।

२३—सफर में या रोग की स्थिति में जब विधि विधान से जप करना सम्भव न हो तो मानसिक जप चलते फिरते अथवा बिस्तर पर भी किया जा सकता है ।

२४—वैसे तो साधना से उठना उपयुक्त नहीं माना जाता परन्तु जब मल मूत्र त्याग या और किसी विवशता से उठना पड़े तो हाथ मुँह धोकर पुनः साधना पर बैठ जाना चाहिए । और एक माला प्रायश्चित स्वरूप अतिरिक्त जपनी चाहिए ।

२५—वैसे तो प्रतिदिन की नियमित साधना ही श्रेष्ठ स्वीकार की गई है परन्तु कोई बाधा उपस्थित हो जाय और साधना न हो सके तो दूसरे दिन एक माला प्रायश्चित स्वरूप जपनी चाहिए ।

२६—जन्म या मृत्यु के सूचक होने पर विधि विधान से की गई साधना का निषेध है । इस काल में मानसिक जप किया जा सकता है।

२७—इष्टदेव के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास होना अनिवार्य है । यही साधना की नींव है ।

२८—साधना में अनेकों विघ्न आते हैं । उनसे निराश नहीं होना चाहिए । शीघ्र लाभ प्रतीत न होने पर साधना पर अविश्वास नहीं करना चाहिए वरन् अपनी साधना की कमियों का गम्भीरता पूर्वक निरीक्षण करना चाहिए । और उन्हें दूर करके पुनः साधना में लग जाना चाहिए । साधना में दृढ़ता पूर्वक लगे रहना आवश्यक है ।

२९—नित्य प्रति निर्धारित समय पर ही साधना करनी चाहिए । समय बदलना नहीं चाहिए ।

३०—मन के चञ्चल स्वभाव से वह इधर-उधर घूमता रहता है, उसे बार-बार इष्टदेव के चित्र पर जमाने का अभ्यास करना चाहिए ।

उपरोक्त नियमों का पालन करने पर ही साधना में सफलता मिलती है ।

———

ध्यान

सिद्धि का साधन

संसार के सभी महत्वपूर्ण कार्यों की सफलता के लिए मनोयोग
अथवा ध्यान की, एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इसमें भी आध्या-
त्मिक ज्ञान तो बिना ध्यान के निश्चल हुये हो ही नहीं सकता । ध्यान-
पूर्वक विचार करने से ही हम किसी वस्तु के मूल स्वरूप और उसकी
वास्तविकता को जान सकते हैं। यदि हमारा ध्यान इधर-उधर बँटा
रहता है, तो हम किसी विषय का गहराई में बैठकर यथातथ्य ज्ञान
प्राप्त नहीं कर सकते। जिस तरह से आतशी शीशे से सूर्य की बिखरी
किरणों को एकत्रित करके किसी कपड़े या कागज पर फेंक जाता है तो
वह जलने लगता है, पर बिना एकत्रित हुए साणारणतः वह उसे जलाने
की सामर्थ्य नहीं रखती, इसी तरह किसी समस्या पर गम्भीरतापूर्वक
विचार करने करने पर, एकाग्रतापूर्वक मनन करने पर उलझी हुई गुत्थियों
का भी सरल समाधान प्राप्त हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि मन की
बिखरी हुई शक्तियों एकत्रित हो जाती है। एकता शक्ति का दूसरा
नाम है। मन की अपार सामर्थ्य को एक निश्चित मार्ग में लगा देने से
शक्ति के द्वार खुल जाते हैं। इसी को सिद्धि कहा जाता है। इसीलिए
ध्यान योग का साधक सिद्धि के मार्ग की ओर पग बढ़ाता है, उसे हर
क्षेत्र में सिद्धि ही सिद्धि दिखाई देती है। असफलता या असम्भव काएक
कण भी उसे सारी सृष्टि में दृष्टिगोचर नहीं होता। वह सफलता के झंडे
गाढ़ता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता ही रहता है।

पाश्चात्य विचारक श्री आर्टो ब्लैकबर्न ने लिखा है कि "मन की वृत्तियों के विश्रृङ्खल होने से ही सब प्रकार की हानि होती है। मन की वृत्तियों को एक स्थान पर एकत्रित करने से समस्त प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। इस विधि व्यवस्था से व्यक्ति युद्धों में विजय प्राप्त करता है, शक्ति का विकास करता है, आर्थिक रूप में प्रगति करता है और अपनी भौतिक इच्छाओं को मूर्त रूप इने में सफल होता है। जो लोग अपनी आत्मा के विकास के इच्छुक हैं, वह इस उपाय में सुविधा पूर्वक ईश्वर से एकता स्थापित करते हैं।"

त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार—

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वां हश्यन्हृदयपंकजे॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेवा प्रकाशते।
अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते॥

अर्थात्—'विश्वरूप देव का जो स्थूल, सूक्ष्म या अन्य प्रकार का रूप है, उसका अपने हृदय-कमल में जो योगी ध्यान करता है, वह साक्षात् उन्हीं के रूप का हो जाता है और अणिमादि सिद्धियों के फल को अनायास ही प्राप्त कर लेता है।'

चित्त की स्थिरता ध्यान के बिना सम्भव नहीं है। 'मुण्डकोपनिषद्' ने मन की तन्मयता रे ध्यान की सिद्धि की है। यथा—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यम् शरवत्तन्मयो भवेत्॥

अर्थात्—ब्रह्मरूपी लक्ष्य को बींधने के लिए प्रणव रूपी धनुष प्रयुक्त होता है। किन्तु उस लक्ष्य बींधने के लिए अप्रमादी होना आवश्यक है। 'अप्रमत्त' शब्द से उपनिषष्कार का तात्पर्य चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर परमात्मा के ध्यान में लगाना ही है क्योंकि ध्यान के बिना ध्येय की सिद्धि में सम्भव नहीं है। इसलिए विद्वानों ने ध्यान की अधिक आवश्यकता स्वीकार की है।

परिभाषा

योग दर्शन (३।२) के अनुसार "जहाँ चित्त को ठहराया जाय, उसी में वृत्ति का एक सा बना रहना ध्यान है" धारणा के बाद ध्यान होता है। अर्थात् धारणा से जिस देश में चित्त लगाया जाता है, उसी ध्येय में जिसका ध्यान लगा रहे, चित्त वृत्ति समान प्रवाह से निरन्तर लगी रहे, दूसरी कोई वृत्ति बीच में न आवे वही ध्यान है। अर्थात चित्त की वृत्तियां ध्येय में ऐसी तन्मय हो जायें कि जैसे भौंरा कमल पुष्प में तन्मय होकर बेसुध हो जाता है और सूर्यास्त में कमल का मुख बन्द हो जाने पर स्वय ही बन्द हो जाता है।

धारणा की परिपक्व अवस्था को ही ध्यान कहते हैं। जहाँ धारणा परिपक्व की जाती है, तैल धारा की तरह उसी स्थान पर एक गति से प्रवाह का चलना ही ध्यान कहलाता है। सांख्यकार (६।२५) ने मन को निर्विषय करना ही ध्यान बतलाया है जिसमें मन बाह्य विषयों की ओर आकर्षित न हो और उस आकर्षण से वह उनका चिंतन न करे। ध्यान का उद्देश्य मन को आज्ञा चक्र, ब्रह्मरन्ध्र या हृदय में जमाना होता है ताकि उसकी उमल-कूद धीरे-धीरे संयमित होती जाए और विषय वासनाओं पर मण्डराने की उसकी स्वाभाविक वृत्ति पर नियन्त्रण रहे। जब मन भौतिक विषयों से हटकर अन्तःप्रदेश में प्रवेश करने लगता है तो समझना चाहिए कि ध्यान का उद्देश्य पूर्ण हो रहा है ।

आत्मदर्शन की अनुभूति

जब बाह्य वृत्तियाँ एकाग्र करके ध्यान द्वारा स्थिर करली जाती है तो साधक आत्म दर्शन और ब्रह्मतत्व की अनुभूति की ओर बढ़ता है। शास्त्र में इसकी पुष्टि करते हुए लिखा गया है कि 'ध्यान योगे न सम्पश्येदगति भस्मान्तरारत्मनः" अर्थात ध्यान योग के द्वारा ही अन्तरात्मा का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार होता है। इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए भगवान मनु ने (६।७२) लिखा है कि 'ध्यान से मोहादि

गुण जल जाते हैं। ध्यानविन्दूपनिषत (१) के ऋषि ने भी सशक्त शब्दों में कहा है "यदि पर्वत के समान अनेक योजन विस्तार वाले पाप भी हों तो भी वे ध्यान योग से नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त और किसी तरह उनका नाश नहीं होता।" पापों को जला कर भस्म करने का उत्तम साधन ध्यान है। पापों से ही मनुष्य दुर्बल होता है। ध्यान द्वारा जितने-जितने पाप दग्ध होते जाते हैं, उतना ही साधक शक्तिशाली होता जाता है। ध्यान योग का सफल साधक स्पष्ट रूप से यह अनुभव करता है कि शक्ति के द्वार उसके लिये खोल दिये गये हैं। वह अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को जाग्रत करने की स्थिति में हो जाता है आत्मिक शक्तियों को जागरण से वह महान् से महानतम् बनने की ओर अग्रसर होता है। शक्ति के मूल स्रोत के द्वार खुल जाने पर उसके लिए ईश्वरीय साम्राज्य में प्रवेश पाने की आज्ञा मिल जाती है। इस स्थूल शरीर के रहते भी वह जीवन मुक्त हो जाता है, वह आनन्द के समुद्र में ही समाधिस्थ रहता है। अशान्ति और दुःख की हलकी किरणों का भी उसके अन्तःकरण में प्रवेश नहीं हो पाता। ऐसा साधक धन्य हो जाता है।

भगवान् में अनन्य भाव की प्राप्ति के लिए ध्यान-योग का आश्रय परमावश्यक है क्योंकि ध्यान की स्थिति मन के राग-रहित होने पर ही बनती है। महर्षि कपिल ने इस विषय में स्पष्ट कहा है।—

ध्यानं निर्विषयं मनः।

—सांख्य दर्शन ६। ५

अर्थात्—"मन का विषय-रहित हो जाना ही ध्यान है।" इसका कारण व्याख्याकार ने बताया है कि जब तक विषयों में वासना रहेगी तब तक मन की चंचलता नहीं मिट सकती। इसीलिए मन को बाह्य विषयों से हटा कर आत्म-चिन्तन में लगाना चाहिए क्योंकि मन से विषय-वासना के हट जाने पर ही एकाग्रता हो सकती है और मन की एकाग्रता वाली अवस्था को ही ध्यान कहा जाता है।

इससे अगला सूत्र इस विषय पर और भी प्रकाश डालता है :—

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ।

—सांख्य दर्शन ६।२६

अर्थात्—"ध्यान या चंचलता—दोनों अवस्थाओं में ही आत्मा में कोई विशेषता नहीं होती, यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि इस प्रकार उपराग यानी विषयों के निरोध से आत्मा की विशेष अवस्था का अनुभव होता है।" इसका तात्पर्य हुआ कि चाहे ध्यान की अवस्था हो अथवा मन की चंचलता रहे, दोनों ही स्थितियों में चित्त पर प्रभाव पड़ता है। विषयों के चिंतन और सम्पर्क से दुःख क्लेश आदि के कारण मन में अशान्ति रहेगी और ध्यान की अवस्था में सांसारिक रोगों से निवृत्ति होने के कारण शान्ति और आनन्द की अनुभूति होगी। ध्यान की यही अवस्था आत्मज्ञान को प्राप्ति कराने वाली है।

तेज की वृद्धि

ध्यान योग के अनुभवी साधकों का कहना है कि ध्यान के निरन्तर अभ्यास से योगी में एक अद्भुत तेज की उत्पत्ति होती है। वह तेज इतना तीव्र और शक्तिशाली होता है कि कामदेव रूपी कैसी भी शक्तिशाली पाप वृत्तियाँ उसकी साधना में बाधा डालने के लिये आ जाए वह क्षण भर में अपने त्रिनेत्र रूपी तेज से अपने शत्रु को जला कर राख कर देता है। इस प्रचण्ड तेज के सामने पापों का अस्तित्व वैसे ही असम्भव है जैसे प्रकाश के सामने अन्धकार का। पश्चिमी वैज्ञानिकों ने भी इसका परीक्षण किया है और वैज्ञानिक ढङ्ग से इसकी व्याख्या की है। श्री विक्टर० ई० क्रोमर ने अपने अनुभव से लिखा है कि "ध्यान करने पर ओज शक्ति उत्पन्न होती है। जब साधक किसी वस्तु पर ध्यान एकाग्र करता है तो ऐसा लगता है कि ओज शक्ति उसकी ओर दौड़ी आ रही है। यदि ईश्वर का ध्यान जमाया जाय तो मस्तिष्क के मार्ग से यह शक्ति अवतरित होती है। इससे एक प्रकार की चुम्ब-

कीय शक्ति की एकतानता का धारावत अनुभव होता है । सूक्ष्मदृष्टा योगी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इन रङ्गों को भी देख सकते हैं । ऊपर से शक्ति के अवतरण के सौन्दर्य का वर्णन असम्भव है ।'

एकता की प्राप्ति

ध्यान योग की महिमा को 'तिलचट्टे' के उदाहरण से सुविधा पूर्वक समझा जाता है । कहते हैं तिलचट्ते के कीड़ों को भौंरा पकड़कर अपने स्थान पर ले जाता है और उसके हाथ पैर तोड़कर उनके चारों ओर भों भों करके मण्डराता है । तिलचट्टे को अपनी मृत्यु सामने दिखाई देती है । भय से उनका चित्त भौंरे की ओर ही लगा रहता है और कुछ समय में तदाकार बन जाता है । साधक की ध्यानावस्था जब परिपक्व हो जाती है तो उसका अपनापन समाप्त हो जाता है ईश्वर की ओर निरंतर चित्त वृत्तियों में लगे रहने से उसकी आकृति का भी परिवर्तन हो जाता है और जिसका वह ध्यान करता है, वह स्वयं भी वही बन जाता है ।

क्लेशों की निवृत्ति

सांसारिक राग क्लेश स्वरूप हैं । उनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, ईर्ष्य आदि विभिन्न विकारों की वृद्धि होती है और जब वे अपना विकराल रूप धारण कर लेते हैं, तब मनुष्य पतनोन्मुख होकर अपना सर्वनाश करने पर स्वयं उतारू हो जाता है। इन क्लेषों से छुटकारा पाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है । महर्षि पतञ्जलि इसका उपाय ध्यान ही बताते हैं । यथा—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।।२ ११।।

अर्थात्—'उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियां ध्यान द्वारा त्यागी जा सकती हैं ।' इस प्रकार ध्यान की महत्ता सर्व सम्मत है । किन्तु इसकी सिद्धि के लिए आवव्यक है कामनाओं का त्याग । महाभारत के अनुसार "भूयोभूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद् योगी योगं सरमार्ग विचिन्त्य" अर्थात्

'योगी पुरुष जन्म-जन्म के अभ्यास से योग को ही मोक्ष मार्ग निश्चित करके कामनाओं का नाश कर डालता है।

वृत्तियों का शमन

यह मानना पड़ता है कि चित्तों के अभिप्राय भिन्न-भिन्न होने से योग की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है। योग दर्शन के अनुसार—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेकेषाम्।
—योग० ४।५

अर्थात्—'प्रवृत्ति-भेद से एक ही चित्त अनेक वृत्तियों का प्रवर्त्तक होता है।' किन्तु ध्यान से उन वृत्तियों का शमन किया जाना सम्भव है। यथा—

तत्रध्यानजमनाशयम्।
—योग० ४।६

अर्थात्—'उनमें ध्यान से उत्पन्न चित्त कर्म संस्कारों से रहित होता है।' अर्थात् उनमें कर्मों की प्रवृत्ति नहीं होती और जब कर्म-प्रवृत्ति का नाश हो गया, तब परम श्रेय की प्राप्ति सहज है। अन्य वचन है :-

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानञ्च शेषेऽन्यो ग्रन्थ विस्तरः॥

अर्थात्—'मन का निरोध तब तक करें, जब तक वासनायें नष्ट न हो जायें। यही ज्ञान है, यही ध्यान है, शेष तो अन्य ग्रन्थों का विस्तार मात्र है।'

मन का निरोध जिन क्रियाओं से सम्भव है, उसमें ध्यान का अत्यधिक महत्व है। 'श्रीमद्भागवत्' (३।२८।३) के अनुसार—

ध्यानायनं प्रहसितं बाहुलाधरोष्ठ-
भाष्यारुणायित तनुद्विजकुन्दपंक्ति।
ध्यायेत् स्वदेह कुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पित मना न पृथग्दिदृक्षेत्॥

अर्थात्—'ध्यान के स्थान रूप अधरों की मुसकान का, जिसके निचले होठ की लाली भीतर की कुन्द कली जैसी दन्त-पंक्ति का हृदयाकाश में ध्यान करे। उस समय प्रेम-रस पूर्ण भक्ति से उसी में मन लगाकर उससे पृथक् अन्य पदार्थों के देखने की इच्छा न करे।'

उच्चतम स्थिति तक पहुँचने की क्षमता

ध्यान की यथार्थता शरीर, प्राण और मन का संयम करने के अभ्यास से सिद्ध होती है। उक्त अभ्यास के द्वारा ही चित्त वृत्तियों का निरोध हो पाता है। वही अवस्था है, जब कि चित्त को यत्र-तत्र भटकने से रोका जा सकता है और चित्त का विकेन्द्रीकरण समाप्त हो जाता है। इस विकेन्दीकरण के समाप्त होने का अर्थ है वृत्तियों का एक स्थान पर केन्द्रित होना। वह अवस्था वास्तव में योग की उत्कृष्ट अवस्था है, जिसे योगशक्ति कहना अत्युक्ति पूर्ण नहीं होगा।

उपरोक्त अवस्था ही ध्यान की अवस्था है। इसके लिए भी प्राणमय शरीर से बढ़कर मनोमय शरीर को पार करने की आवश्यकता होती है। इस समय श-रीरिक क्रियाओं के निष्क्रय होने के कारण उनका अन्त हुआ समझिये। तब केवल मानसिक शक्ति ही साधक को प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करती है।

तात्पर्य यह है कि मानसिक दृढ़ता के कारण साधक का यथार्थ चिन्तन प्रबल हो जाता है। अयथार्थ को छोड़कर निरन्तर उसी में चित्त को रमाये रखना ध्यान समझना चाहिए। इस अवस्था की सिद्धि से ही समाधि की सिद्धि है। जहाँ ध्यान है, वहाँ समाधि है। ध्यान के बिना समाधि कदापि संभव नहीं है। यही कारण है कि योगीजन ध्यान को योग का प्रमुख अङ्ग मानते है क्योंकि वही मोक्ष-मार्ग के अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचने की प्रमुख प्रक्रिया है। कठोपनिषद् के अनुसार—

यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥

अर्थात्—"जो विज्ञासी साधक मन को वश में रखने वाला और शुद्ध अन्तःकरण वाला होता है, वह उस परमपद को अवश्य प्राप्त कर लेता है, जहाँ से लौटकर किसी आना नहीं होता अर्थात् पुनः जन्म लेता है।' यदि यही मुक्ति है, यही श्रेय है तो यह स्पष्ट हो गया कि मन का वश में रखना हो ध्यान की अवस्था है -

इसी उपनिषद् के अनुसार—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।

अर्थात्—"जो ज्ञानी पुरुष वैराग्य द्वारा निरुद्ध किये गए मन से युक्त होता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथि के श्रेष्ठ अश्वों के समान उसी के वश में हो जाती हैं।'

उक्त उक्तियाँ भी ध्यान को ही प्रमुख अङ्ग सिद्ध करती हैं। इसी कारण योग्य अंगों अथवा साधनों पर विद्वानों ने कम बल दिया है। उनके नत में अन्य साधनों द्वारा काया को कष्ट देना कुछ बहुत आवश्यक नहीं है। जो साधक हठयोग जैसे घोर परिश्रम वाले साधनों को करते हैं, वे साधन में भूल ही जाने से कभी-कभी भारी हानि भी उठा बैठते हैं। यही कारण है कि द्वैतवादियों ने भक्ति को प्रधानता देकर साधक को योग के कठोर परिश्रम से बचा लिया है। बल्कि गीता में श्रीकृष्ण तो कर्मफल के त्याग को ही परम श्रेय मानते हैं और कर्म फल के त्याग के लिए योग जैसे घोर कष्टों के सहने की आवश्यकता नहीं है। गीता के अनुसार—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।

—गीता १२।१२

अर्थात्—"अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, (किन्तु) ध्यान से भी श्रेष्ठ हैं सब कर्मों के फलों का त्याग करना। क्योंकि त्याग के द्वारा तुरन्त परम शान्ति की प्राप्ति होती।"

भागवत् में भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है—

केचिद्देहमिमंधीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जान्यि सिद्धये ।।४१
नहितत् कुशलादृश्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्वोच्छरीरस्य फलत्येव वनस्पतेः ।।४२
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत कल्पतामितात् ।
तच्छद्दध्यान मतिमान योग्यमत्सृज्य मत्परः ।।४३

अर्थात्–"कोई-कोई ज्ञानी पुरुष इस देह का कल्प करने और चिरायुष्म प्राप्त करने के लिए योग के विविध उपाय करते हैं । परन्तु विवेकी पुरुष इस कार्य को महत्व नहीं देते । यह सभी प्रयास व्यर्थ जाने वाला है, क्योंकि वृक्ष के फल के समान शरीर नाशवान है । योग-साधन से शरीर कल्प के अन्त तक भी जीवित रहे तो भी भगवत् प्रेमी व्यक्ति भगवान की प्राप्ति को छोड़कर उसमें कभी श्रद्धा नहीं करेगा ।"

इस प्रकार शरीर को विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा व्यथित करने का कोई महत्व सिद्ध नही होता । गीता में ध्यान से बढ़कर कर्म-फल त्याग की बात कही गई हैं । किन्तु फर्म फल के त्याग में शारीरिक कष्ट के अधिक न होने पर भी मानसिक उद्वेग की जनुभूति रह सकती है क्योंकि चित्त वृत्तियों का निरोध न होने से लिप्सा शान्त नहीं होती और लिप्सा है तो फल का त्याग ही किस प्रकार बन सकेगा ? इसलिए कर्म-फल के त्याग के लिए भी चित्त वृत्तियों का निरोध आवश्यक है । यदि चित्त वृत्तियों के निरोध से ही कर्म-फल का त्याग सम्भव होता है तो ध्यान का महत्व और भी बढ़ जाता है । गीता का निम्न उपदेश इसमें प्रमाण हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानत्मामना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।

—गीता १३।२४

अर्थात्—"अनेक विद्वान् उस ब्रह्म को ध्यान के द्वारा (हृदय में) देखते हैं। कितने ही ज्ञान-योग के द्वारा और कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।"

ज्ञान से अधिक ध्यान को पहिले ही गीता (१२।१२) में स्वीकार किया जा चुका है और कर्म के साथ आत्मा के अकर्त्तव्य की मान्यता है, यथा—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

—गीता १३।१९

अर्थात्—'जो व्यक्ति सभी कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

तो यह प्रमाण हुआ आत्मा के अकर्त्तापन का। किन्तु आत्मा के अकर्त्ता होने पर भी मनुष्य अपने को कर्त्ता मान बैठता है। यह मैंने किया है, ऐसा अभिमान होने पर उस कर्म के फल की आकांक्षा उत्पन्न होना स्वाभिविक है ही। ऐसी आकांक्षा का दमन भी सरलता से नहीं हो पाता।

ध्यान का अभ्यास इसी इसी प्रकार के विघ्नों को दूर करने के अचूक प्रयोग है। इसीलिए ज्ञानियों ने ध्यान के महत्व को सर्वोपरि स्वीकार किया है। वह योग का सातवाँ अङ्ग हैं तो भक्ति का भी प्रमुख अङ्ग है। इसे द्वैत और अद्वैत दोनों ही मतों में प्रमुखता दी गई है।

यह विचारणीय तथ्य है कि चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करने की चेष्टा की जाय तो कुछ समय के अभ्यास से ही सांसारिक विषयों के प्रति मन में वैराग्य उत्पन्न होने लगेगा और आश्चर्य नहीं कि उनसे बिलकुल ही मुक्त हो जाय। इस स्थिति पर पहुँचने पर चाहे योग की समाधि वाली अवस्था प्राप्त की जाय, चाहे कर्म फल-त्याग वाले लक्ष्य पर पहुंच जाय, सफलता अवश्यभावी है।

योगी हो चाहे अन्य मार्ग का अनुगामी, सङ्कल्पों का त्याग तो उसे करना ही होगा। जब तक चित्त में सङ्कल्पों का आविर्भाव होता रहेगा, कर्म-फल का त्याग कदापि न बन पावेगा और न समाधि की अवस्था ही प्राप्त हो सकेगी। गीता में कहा है—

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विधि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

— गीता ६:२

अर्थात् 'हे पांण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को तू योग समझ, क्योंकि सङ्कल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी व्यक्ति योगी कदापि नहीं होता।'

यदि संकल्पों का त्याग करना है तो उसके लिए प्रयत्न करना होगा। वह प्रयत्न ही अभ्यास है। कैसा अभ्यास? चित्त वृत्तियों के निरोध का और यही अभ्यास ध्यान-योग वाली अवस्था है। किसी भी ओर जाइये, घूम-फिर कर वहीं आना होता है? श्रेय मार्ग के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वही एक ऐसा साधन है जिसका किया जाना आवश्यक है क्योंकि विभिन्न विषयों में फँसा हुआ मन अनेक अधार्मिक चेष्टाएँ करता है, उसमें संशय, भय, क्रोध, लिप्सा आदि अनेक भावों की उत्पत्ति होती रहती है, वे भाव ही मन की चंचलता को दूर नहीं होने देते। यही वृत्तियाँ मनुष्य को अधोगामी चक्र में भ्रमण करने को बलात् विवश करती रहती हैं। किन्तु ध्यानाभ्यास के द्वारा उस चक्र में भ्रमण वाले विपरीत प्रवाह को रोका जा सकता है।

इस प्रकार विपरीत प्रवाह का अवरोध ही परमेश्वर में आस्था उत्पन्न कर सकता है। विद्वानों ने आस्था को ही जीवन और सर्व प्राप्ति माना है। तो इसका तात्पर्य हुआ कि विपरीत प्रवाह रुकने में सर्वप्राप्ति हो सकती है। क्या है वह सर्व प्राप्ति? अध्यात्म दृष्टि से उसे ही मोक्ष या श्रेय कहा जा सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष की प्राप्ति के

लिए ध्यान योग का साधन अत्यन्त आवश्यक है, उसके बिना ब्रह्म-पद संभव नहीं है । 'मुण्डकोपनिषद्' के अनुसार :—

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः
　　संन्यासं योगाद् यतयः शुद्धतत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्त काले
　　परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

अर्थात—'वेदान्त रूप ज्ञान के द्वारा जो परमेश्वर के सुनिश्चित अर्थ को समझ चुके हैं एवं सन्यास तथा योग के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं, ऐसे साधक ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर परमामृत का लाभ लेते हुए जीवन्मुक्त हो जाते हैं ।'

उपरोक्त उक्ति में भी ध्यानयोग का महत्व न्यून नहीं माना है । ज्ञान से परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान होने पर ध्यान में प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है । और ध्यान के बिना ध्येय का स्वरूप दर्शन सम्भव नहीं, इसीलिये यहाँ योग के द्वारा शुद्ध होने का तात्पर्य भी ध्यानाभ्यास से ही है । कठोपनिषद् ने इसे और भी स्पष्ट किया है । यथा—

तं दुर्दर्श गूढ़मनुप्रविष्टं
　　गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं
　　मत्वा धीरो हर्ष शोकौजहाति ॥

अर्थात् — जो सनातन ब्रह्म दुर्लभ दर्शन, गूढ़, सर्वव्यापक, हृदयरूप गुहा में विद्यमान है, उसे मेधावी पुरुष आध्यात्मिक योग के द्वारा समझ कर हर्ष-शोक जैसे विकारों से मुक्त हो जाता है ।'

उक्त पंक्तियों में भी ध्यान का प्रभाव कम नहीं है । अध्यात्म योग में योग के आठों अङ्गों का समावेश है, जिसमेंध्यान का अपना विशेष स्थान है । इससे उच्चतम अवस्था की प्राप्ति हो सकती है ।

अमरत्व की प्राप्ति

भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।

—गीता १०।७

अर्थात्—'मेरी परमैश्वर्यंयुक्त विभूति और योगशक्ति को जो कोई तत्व पूर्वक जानता है, वह निश्चल ध्यान योग के द्वारा मुझ में एकीभाव से स्थित होता है, इसमें संशय नहीं है ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।

(१२।३-४)

अर्थात्–'मुझ में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो पुरुष परम श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुण परमात्मा की उपासना करके हैं, वे मुझ योगियों में श्रेष्ठ योगी मान्य है तथा जो अपने इन्द्रिय-समूह को भले प्रकार वश में करके सर्वव्यापक अकथनीय स्वरूप और सदैव एकरस रहने वाले नित्य, अचल निराकार, अविनाशी ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासते हैं, वे सभी प्राणियों के हित में लगे हुए, सब में समान भाव वाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ।'

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ।।

और यह हृदय की ग्रन्थियाँ साधना से ही खुल सकती है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति भी प्रयत्न के बिना कदापि सम्भव नहीं। 'तैतरीयोपनिषद्' ने ब्रह्म-प्राप्ति के प्रयत्न में ध्यान को ही प्रमुखता दी है और ध्यान के द्वारा ही ब्रह्म में मिल जाने का प्रतिपादन किया है। यथा—

पूर्वकर्माणि दग्ध्वा च परकर्मनिकृन्तनम्।
कुरुते चिन्येन्मां च ह्यायाति मम मन्दिरम्॥

ब्रह्मवैवर्त्त ८२।८३

अर्थात्—'जो संन्यासी मेरा ध्यान करता है, वह अपने पूर्व कर्मों को दग्ध करके वर्तमान जन्म के कर्मों का उच्छेद कर डालता है और अन्त में उसे मेरे लोक की प्राप्ति होती है।

त्रिगुणाततीत अवस्था से ही पर में लक्ष्य की प्राप्ति

अभीष्ट लाभ की प्राप्ति तभी सम्भव है जब यह भजन सात्विक गुण से युक्त हो। जब तक मनुष्य में तामसी और राजसी वृत्तियाँ विद्यमान रहेंगी, तब तक योग की अवस्था की प्राप्ति यथार्थ रूप में नहीं हो सकती। ईश्वर की साधना में प्रवृत्त होने वाला मन धीरे-धीरे तामसी राजसी वृत्तियों से निवृत्त होता जाता है और अन्त में सात्त्विकी वृत्ति भी समाप्त कर देता है, तभी वह जीवन्मुक्त वाली अवस्था पर पहुंच पाता है। तीनों गुणों का अभाव होने पर ही परम मोक्ष की स्थिति स्वीकार की गई है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं :—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्वं सत्वेन चैव हि॥
सत्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो भद्भक्तिलक्षणः
सात्विकोपासया सत्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सष्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥

आगमोऽयं प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो शशँते गुणहेतवः ॥
तत्तत् सात्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तान् राजस तदुपेक्षितम् ॥
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरयोहनम्।
वेणुसंघर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥

भाग० ११।१३।१७

अर्थात् सत्व, रज और तम—यह तीनों बुद्धि के गुण हैं, आत्मा के नहीं। सत्व गुण के द्वारा रज और तम दोनों गुणों को जीतना चाहिप्र। फिर सत्वगुण की शान्तवृत्ति के द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियों को भी शान्त कर दे। सत्वगुण की वृद्धि होने पर ही जीव को मेरी भक्ति-रूप स्वधर्म की प्राप्ति होती है। सात्विक वस्तुओं के निरन्तर सेवन करने से ही सत्वगुण की वृद्धि होती है, तभी मेरे भक्तिरूप स्वधर्म में प्रवृत्ति होने लगती है। जिस धर्म का पालन करने से सत्वगुण की वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ हैं, वही धर्म रजोगुण और तमोगुण का नाश कर देता है। उन दोनों के नष्ट होने पर, उनके कारण होने वाला अधर्म भी शीघ्र ही नष्ट होता है) शस्त्र जल, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—यह दस वस्तुएँ सात्विक हों तो सत्वगुण की और राजसिक हों तो रजोगुण की तथा तामसिक हों तो तमोगुण की वृद्धि करती हैं। इनमें से शास्त्र वेत्ताजन जिन वस्तुओं की प्रशसा करते हैं, वे सात्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे पदार्थ राजसिक हैं। जब तक आत्म साक्षात्कार न हो तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर उनके कारण रूप तीनों गुणों की निवृत्ति न हो, तब तक उचित है कि सत्वगुण की वृद्धि के लिए सात्विक शास्त्र आदि का सेवन करना चाहिए, क्योंकि उसके द्वारा

धर्म की वृद्धि होती है । इससे अन्तकरण शुद्ध होकर आत्मतत्व का ज्ञान होता है । बाँसों की परस्पर रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है और वह सम्पूर्ण वन को भस्म करके शान्त हो जाती है । वैसे ही यह शरीर गुणों के वैषम्य से उत्पन्न हुआ है । विचार द्वारा मन्थन करने पर ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होती हैं और वह सब शरीरों और गुणों को भस्म करती हुई स्वयं भी शान्त हो जाती है ।

इसका तात्पर्य हुआ कि सभी कार्य तीन गुणों के आधीन हैं । सत्व-गुण सर्वश्रेष्ठ, रजोगुण मध्यम और तमोगुण निकृष्ट है । अभ्यास द्वारा तमोगुण को दबाते हुए रजोगुण की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जब तमोगुण का शमन और रजोगुण की वृद्धि हो जाय, तब रजोगुण का भी शमन और सत्वगुण की वृद्धि के लिए चेष्टा करे । इस प्रकार धीरे-धीरे तीनों गुणों का दमन करना चाहिए । इसी से लक्ष्य-प्राप्ति हो सकती है ।

उपरोक्त श्लोकों में शास्त्र, जल, प्रजा आदि जिन दस वस्तुओं का वर्णन हुआ है, उनकी प्रवृत्ति तमोगुण युक्त हो तो वह निकृष्ट कही जायगी । रजोगुण युक्त होने पर मध्यम और सतोगुण सम्पन्न होने पर उत्कृष्ट समझना चाहिए । किन्तु, इन तीनों गुणों से रहित होने पर ही वह अवस्था आती है, जिसे परम श्रेय कहा जा सकता है । गीता में श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के साधकों का वर्णन किया है । यथा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥
गीता ९।२५

अर्थात्—'देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ।'

और भगवान् के भक्त जब भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं, तब उनका

पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् वे आवागमन के चक्र से नितान्त मुक्त हो जाते हैं। गीता में ही श्रीकृष्ण ने कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म नं विद्यते ।।

गीता ८। १६

अर्थात्—ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। परन्तु जो मेरे को प्राप्त हो जाते हैं, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

तो इसका अर्थ हुआ कि भूतों के पूजक तामसी प्रवृत्ति वाले और पितरों के पूजक राजसी प्रवृत्ति वाले होते हैं। सात्विकी प्रवृत्ति वाले साधक देवताओं के पूजक होने चाहिये तथा तीनों गुणों का दमन कर साधना करने वाले भगवान् के भक्त होंगे, 'जो पुनर्जन्म आदि के बन्धनों से मुक्त हो जाते है।

इससे समझना चाहिए कि उपासना के विभिन्न अङ्गों का विपरीत प्रयोग, विपरीत परिणाम उपस्थित करेगा। कामना सहित किया गया ध्यान काम्य फल की प्राप्ति में सहायक हो सकता है, श्रेय की प्राप्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती। तीनों गुणों में से किसी एक गुण की भी विशेषता उसी गुण के अनुसार कार्य करेगी, इसलिए गुण के त्याग का विधान स्वीकार किया गया है। विद्वज्जनों के अनुसार मोक्ष की अवस्था पर पहुँचने के लिये केवल पापों का ही क्षय आवश्यक नहीं है, अपितु पुण्यों का भी क्षय होना चाहिए। जब पाप या पुण्य कुछ भी शेष नहीं रहता, तभी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होने पर ही परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसी स्थिति तक पहुँचाने में ध्यान का प्रमुख स्थान रहता है।

ध्यान और भक्ति का सम्बन्ध

श्रीमद्भागवत में योगाभ्यास द्वारा मन को शुद्ध करके मन्त्र जाप करने का विधान किया है। यथा—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृत्तं ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमाविस्मरन् ॥

अर्थात्—'योगाभ्यास करता हुआ तीन अक्षर वाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर (प्रणव) का मन से जप करे। इस ब्रह्म बीज को विस्मृत किये बिना श्वांस को जीत कर मन को एकाग्र करना चाहिये।'

रामचरित-मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने नवधा भक्ति का इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रथम भगति सन्तन करि संगा।
दूसर रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरुपद-पंकज-सेवा, तीसरि भवति अमान।
चौथि भगति मम गुन गान, करै कपट तजि गान।
मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
षट दम शील बिरत बहु कर्मा।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥
सतईं सब मोहिमय जग देखे।
मोते सन्त अधिक कर लेखे॥
अठई जथा लाभ सन्तोषा।
सपनेहु नहिं देखै पर दोषा।
नवम सरल सब सों छल हीना।
मम भरोस हिय हरष न दीना।

अर्थात्—'प्रथम प्रकार की भक्ति है सन्तों की सङ्गति। दूसरे प्रकार की है कथा-प्रसङ्गों का श्रवण करना। तीसरी भक्ति गुरुदेव के चरण-कमलों की सेवा, चौथी मेरे गुणों का गान और पाँचवी भक्ति मुझ में दृढ़ विश्वास सहित तथा वेद विहित मन्त्र-जप और भजन है। छटवें प्रकार की भक्ति है शील, संयम, बहुत प्रकार के कर्मों से विरक्ति तथा सज्जनों के धर्म का निरन्तर पालन करना। सातवें प्रकार की भक्ति

वालों को सम्पूर्ण संसार मेरे में देखना और सन्तजनों को मुझसे भी अधिक मानता है। आठवें प्रकार की भक्ति में वह उपाय करे। जिनसे सन्तोष की प्राप्ति हो और पराये दोषों को कभी न देखे। इसके अतिरिक्त नवें प्रकार की भक्ति वाले का कर्तव्य है कि वह सबके प्रति निष्कपट रहे, दीन-भावों का ध्यान कर मेरे भरोसे रहता हुआ प्रसन्न चित्त रहे।'

उपरोक्त विवेचन में पाँचवें प्रकार की भक्ति में ध्यान का भी समावेश है। परमात्मा में दृढ़ विश्वास के साथ मन्त्रादि का जप और भजन ध्यान के बिना कभी सफल नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवत में ऋजुयोग का उल्लेख हुआ है—

भक्त्या पुमाज्जातविरागऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रच नानु चिन्तया।
चित्तस्यत्तो ग्रहणे योग युक्तो
यतिष्यते ऋजुभियोगमार्गैः॥

अर्थात्—'भगवान् के कथा-प्रसङ्गों को श्रवण करने से हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति के उत्पन्न होने पर देखे सुने इन्द्रिय-जन्य सुखों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसा योग युक्त पुरुष आत्म-साधन के उद्योग में तत्पर होकर ऋजु-योग द्वारा ईश्वर-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है।'

यहाँ कथा-श्रवण से भक्ति और भक्ति से उत्पन्न वैराग्य के द्वारा योग की सम्पन्नता बताई हैं, इसमें भी ध्यान की प्रमुखता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि भक्ति में तन्मयता तभी प्राप्त होगी जब भगवान् के रूप दर्शन के प्रति आस्था होगी और रूप-दर्शन में सिद्धि ध्यान के बिना हो नहीं सकती। अनेक विद्वानों ने इसे स्वीकार किया हैं कि ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी की एकात्मता से ही साधक अपने लक्ष्य पर पहुँच कर कृतकृत्य हो सकता हैं। इनमें से एक का भी अभाव भगवत् प्राप्ति में बाधक सिद्ध होगा।

ध्यान और मनोजय

चित्त के भ्रमित हो जाने पर, प्राप्त ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इसे अर्जुन का श्रीकृष्ण के प्रति किया गया निवेदन और भी स्पष्ट कर देता है। उन्होंने कहा :—

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः॥

महा० आश्व १६।६

अर्थात्—'हे केशव ! आपने सौहार्दवश पहिले मुझे जो ज्ञानोपदेश किया था, वह मेरा सम्पूर्ण ज्ञान अब चित्त के विचलित हो जाने से नष्ट हो गया (भूल गया)।' इसका समाधान महाभारत के उक्त पर्व में ही इस प्रकार हुआ है—

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत्।
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः॥
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत्।
एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव।
आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित्॥

महा० आश्व० १६।४५-४७

अर्थात्—'जैसे अपने घर का बर्तन आदि सामान किसी कोठे में (सुरक्षित) रख कर भी मनुष्य का मन उन्हीं के चिन्तन में लगा रहता है, वैसे ही इन्द्रिय रूप चञ्चल द्वारों से विचरने वाले मन को अपनी ही काया में स्थिर करके वहीं आत्मानुसंधान करता हुआ प्रमाद को त्याग दे। इस प्रकार सतत ध्यान के लिए प्रयत्नशील पुरुष का चित्त प्रसन्न हो जाता है और वह उस परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, जिसके साक्षात् से मनुष्य को प्रकृति और उसके विकारों का स्वयं ही ज्ञान हो जाता है।'

उपरोक्त उद्धरण प्रमाणित करते है कि मन की चञ्चलता ही जीव को इस अथाह भवसागर में भ्रमाती रहती है। वही पाप का मूल और

दुःखदायी बन्धन है। उससे छुटकारा पाने के लिये मन को जीतना आवश्यक है, और इसकी सम्भावना में ध्यान योग का अत्यन्त योग होता है।

ध्यान और संयम

गीता (३।४०) में कहा गया है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के निवास स्थान है और यह काम इन इन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित कर (ढक कर) शरीरधारी को मोहित करता है। यथा —

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

अब इस काम के दमन करने का उपाय बताते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

गीता ३। ४१-४३

अर्थात्—'इसलिए हे भरतश्रेष्ठ ! तू प्रथम इन्द्रियों को ही वश में करके ज्ञान विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी (काम) को ही मार। इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ और सूक्ष्म) कहते हैं। इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि है। तथा जो बुद्धि से भी परे है, वह आत्मा है। इस प्रकार अपने आत्मा को बुद्धि से भी परे (श्रेष्ठ और सूक्ष्म) जान कर बुद्धि द्वारा मन को वश में करके दुर्जय (कठिनता से जीते जाने योग्य) काम रूप शत्रु का नाश कर।'

तो उपरोक्त रीति से मन और इन्द्रियादि को जीतने की ही बात

कहीं गई। किन्तु मन और इन्द्रियों पर विजय करना कोई सामान्य बात नहीं है। इसके लिए आवश्यकता है अभ्यास की, जिसे योग अथवा तप भी कह सकते हैं। महाभ.रत में बन्धन से मुक्त होने वाले के जो लक्षण कहे हैं, उनके अनुसार—

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः॥
महा० आश्व० १९। १३

अर्थात्—'जो सब प्रकार क संस्कारों से रहित तथा द्वन्द्व और परिग्रह से विरत होगया है एवं तपस्या के द्वारा (अपनी) इन्द्रियों को वश में करके (अनासक्त) भाव से विचरण करता है, वह मुक्त ही है।'

योग-साधन से आत्म साक्षात्कार होता है, यही अवस्था जीवन्मुक्त, पुरुष की है। आत्म साक्षात्कार के बिना, मोक्ष की उपलब्धि नहीं समझी जा सकती। महाभारत में आत्म-साक्षात्कार के उपायों का वर्णन हुआ है, उन पर भी ध्यान दिया जाना उचित होगा।

इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत्।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत्॥
तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत्।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि॥
स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि॥
संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति॥
महा० आश्व० १९। १७-२०

अर्थात्—'इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोक कर मनमें स्थापित करे तथा मन को आत्मा में स्थापित करे। इस प्रकार पहिले तीव्र तपस्या करे और मोक्ष के लिये उपयोगी उपायों का अवलम्बन करे। मनीषी विप्र को उचित है कि वह सदैव तप में प्रवृत्त और यत्नवान् रह

कर योगशास्त्र के अनुसार आचमन करे। इससे वह मन के द्वारा अपने अन्तःकरण में आत्मा का साक्षात्कार करता है। यदि एकान्त में रहने वाला साधक अपने मन को आत्मा में लगाये रखने में सफल होता है तो वह अपने में आत्मा का दर्शन अवश्य कर लेता है। जो संयमसे रहने वाला, योग-युक्त, मन को वश में रखने वाला एवं जितेन्द्रिय है वही आत्मा से प्रेरित होकर बुद्धि के द्वारा उसका (आत्मा का) साक्षात्कार करने में सफल होता है।'

उक्त श्लोकों में एकान्त में रहते हुए मन को आत्मा में लगाये रखने का उपदेश निहित है। इसका संकेत भी स्पष्ट रूप से ध्यान के लिए ही हुआ है क्योंकि एकान्त स्थान में मन का आत्मा में लगे रहना ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। ध्यान से संयम प्राप्ति में निश्चय रूप से सहयोग मिलता है।

ध्यान का स्वरूप

ध्यान के लिए ध्येय का कुछ स्वरूप होना आवश्यक हैं। स्वरूप के बिना ध्यान कदापि संभव नहीं। विषयों का ध्यान करने से विषयों के प्रति आकर्षण बढ़ता है, इसलिए ईश्वर के स्वरूप का ध्यान करना ही परमश्रेय का मार्ग है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भी —

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
ममानुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रवलीयते॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥

भागवत ११।१४।२७-२८

अर्थात्—'विषय के ध्यान से चित्त विषय में ही लगा रहता है और मेरे ध्यान से चित्त शुद्ध होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इसलिए स्वप्न के मनोरथों के समान मिथ्या विषयों का ध्यान छोड़कर मेरी भावना के द्वारा चित्त की शुद्धि करे और उसे मेरे स्वरूप में स्थित करें।'

ध्येय के बिना ध्यान का संभव न होना सभी स्वीकार करते हैं, वे भी, जो ब्रह्म के स्वरूप की साकारता को नहीं मानते। उनके मत में पहिले पांच प्राणों का ज्ञान प्राप्त करे फिर दश इन्द्रियों का, फिर मन का और फिर अन्तःकरण आदि को। इस प्रकार से ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही प्रत्येक पदार्थ को ध्येय रूप में स्थापित करे। यही उपाय अपने स्वरूप की ज्ञान प्राप्ति का है, जिसे आत्म-ज्ञान कहा जाता है। अतः ध्यान का स्वरूप निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है।

ध्यान के लिये ध्येय का निर्धारण

जो लोग ईश्वर की प्रतिमा में विश्वास नहीं करते, उनके लिये भी यह आवश्यक होगा कि अपने ध्येय की कोई मूर्ति कल्पित करें। पहिले कहा जा चुका है कि ध्येय के बिना ध्यान के अभ्यास की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए किसी भी स्थूल अथवा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ को निरन्तर ध्येय बनाकर अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। कुछ लोग परमात्मा को निराकार मानते हुए भी उसे ज्योति-स्वरूप आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। अतः और कोई स्वरूप कल्पित न करके, केवल ज्योति को ही ध्येय मान लें तो अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। अभ्यास की उत्तरोत्तर वृद्धि से प्राणी को अपने हृदयस्थ जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होने लगता। इस प्रकार अपने स्वरूप का ज्ञान होने से परमात्मा-स्वरूप के ज्ञान में कुछ कठिनाई शेष नहीं रह जाती, क्योंकि आत्मा और परमात्मा में समानता है। शास्त्रज्ञों के अनुसार जीवात्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है। जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ लेता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति होनी ही चाहिए। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मन के स्वच्छ होने पर ब्रह्म में तदाकार होना संभव है। यथा—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। १।४१।

अर्थात्--'वृत्तियों के क्षीण हो जाने से जब मन स्फटिक मणि के समान हो जाता है और वह ग्रहीता (आत्मा), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियां) तथा ग्राह्य (पंचभूत व उनके विषय) में स्थिर होकर तदाकार हो जाता है तो यही समापत्ति (सम्प्रज्ञात समाधि) है।'

चित्त की स्वच्छता-अस्वच्छता उसके उपलब्ध विषय के अनुसार होती है। जैसे, दर्पण के सामने जो वस्तु आयेगी, उसकी वैसी ही छाया पड़ेगी। यदि कोई वस्तु सामने नहीं होगी तो दर्पण का स्वच्छ रहना स्वाभाविक है। उसी प्रकार मन के विषय में समझना चाहिये। उसे स्वच्छ करने के लिये सांसारिक आकांक्षाओं का त्याग करना होगा। किन्तु आकांक्षाओं का त्याग योगाभ्यास से होगा, जिसमें ध्यान की उपयोगिता भी प्रमुख रूप से स्वीकार की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने युधिष्ठर को मन के जीतने का ही आदेश दिया है :—

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम्॥
यस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः॥

— महाभारत आश्वमेधिक० १२। १२-१३

अर्थात्--द्रोणाचार्य और भीष्म के मध्य जो युद्ध हुआ था, वही तुम्हारे सामने है। इस समय तुम्हें अकेले ही अपने मन के साथ युद्ध करना है। उसके लिये तैयार हो जाओ, और अपना कर्त्तव्य पालन रूप योग के द्वारा मन को जीत कर माया-रहित परब्रह्म को प्राप्त करो।

योग-दर्शन के अनुसार 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' अर्थात् 'राग रहित' पुरुषों का विषयों में लगा हुआ चित्त भी स्थिर हो जाता है और यह स्थिति अभ्यास से ही सिद्ध होती है।

महर्षि पतजंलि ध्यान की आवश्यकता स्पष्ट रूप से स्वीकार करते

हैं। जिस ध्येय में जिसकी अभिरुचि हो, उसके ध्यान से भी मन में स्थिरता आती है। यथा—

यथाभिमत ध्यानाद्वा।

—योग दर्शन १। ३९

अर्थात्—'जिनका जो अभिमत हो, उसका मन उसके ध्यान से स्थिर होता है।' तात्पर्य यह है कि साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपन मन को किसी ऐसी स्थूल मूर्ति में लगाना चाहिए, जो उसे सबसे अधिक प्रिय हो। वह मूर्ति अपने किसी आदरणीय स्वजन अर्थात् पिता, माता, बन्धु बहिन आदि भी हो सकती है। इस प्रकार स्थूल मूर्ति के प्रति चित्त में स्थिरता की उपलब्धि होने पर सूक्ष्म के प्रति आस्था की सहज वृद्धि सम्भव है।

ध्याता, ध्यान और ध्येय का सम्बन्ध

ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रुपुटी क्या है ? इस पर भी विचार-करना उचित होगा।

१—ध्याता उसे कहते है जो किसी का ध्यान करने के लिए तत्पर हो अथवा ध्यान के अभ्यास में लगा हो।

२—ध्यान उस क्रिया को कहते हैं, जिसके द्वारा सांसारिक रागों से चित्त वृत्तियों को हटाकर ध्येय पदार्थ के यथार्थ ज्ञान के लिए प्रयत्न किया जाय।

३—ध्येय उसे कहते है, जिसका इष्ट मानकर ध्यान किया जाय।

जब तक साधक की चित्त वृत्तियाँ चञ्चल रहती हैं, ध्येय के ध्यान में मन नहीं लगता, तब तक ध्यान और ध्येय तीनो की पृथक्-पृथक् स्थिति रहती है। अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे मन लगने लगता है और अन्त में सासांरिक विषयों के प्रति नितान्त विरक्ति हो जाती है, तब ध्याता को ध्येय के अतिरिक्त किसी का भी भान नहीं रहता, यही अवस्था ध्यान के उद्देश्य को पूर्ण करती है। इससे भी ऊपर उठकर

अर्थात् ध्यान की ध्येय में तन्मयता होने पर समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है। यही योग का अन्तिम चरण है। ज्ञानियों ने इसी को मोक्ष की अवस्था स्वीकार किया है। इसी अवस्था को अनन्य मन वाली समझा जाता है और अनन्य मन से ध्येय में तन्मयता ही परम लक्ष्य है। गीता में श्रीकृष्ण भी अनन्य मन से साधना करने वाले की प्रमुखता प्रदर्शित करते हैं। यथा—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

अर्थात्— 'दैवी प्रकृति के आश्रित हुए महात्माजन मुझे सब भूतों का कारण और अविनाशी जानकर अनन्य मन से युक्त हुए मेरा ही भजन करते हैं।'

स्थूल और सूक्ष्म ध्यान

ध्यान दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल ध्यान निम्न प्रकार से किया जाता है। आरम्भ से साधक को इसी विधि का अवलम्बन करना चाहिए।

पिता, माता गुरु आदि किसी पूजनीय व्यक्ति की मूर्ति जिसे हम पहले से भली प्रकार देख चुके हैं, अथवा राम, कृष्ण, शिव आदि किसी देवता की मूर्ति जिससे हमारा हार्दिक अनुराग हो अथवा नदी, पर्वत, सागर, वन उपवन, नगर, महल जो हमें सबसे उत्तम रमणीक जान पड़ता है—ऐसी कोई भी मनोनुकूल वस्तु या पदार्थ ध्यान के लिये ग्रहण करना चाहिए। हमको बार-बार उसी पदार्थ का ध्यान, उसकी याद करते रहना चाहिए। ऐसा लगातार करते रहने से हमको स्थूल ध्यान का अभ्यास हो जायगा। हमारे अन्नमय शरीर की प्रधान वृत्ति स्मृतिशील हैं। यदि हम किसी पदार्थ के लिए बार-बार स्मृतिशीलता का प्रयोग करते रहेंगे तो वह मूर्ति अथवा पदार्थ हमको स्पष्ट रूप से प्रयत्क्ष दिखलाई पड़ेगा। जब हमारा यह अभ्यास पक्का हो जायेगा तो हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों का निरोध करके अथवा निद्रित होकर उस मूर्ति

या व्यक्ति से बातचीत भी कर सकते हैं। यह एक प्रकार से स्वप्न के मध्य में किये गये भाषण की तरह होता है। कारण यह है कि प्राणमय शरीर में अथवा प्राकृतिक प्राणमय क्षेत्र में निद्रावृत्ति को प्रधान माना गया है। साथ ही भाषण आदि भी प्राण के ही कार्य हैं। इसलिए स्वप्न में मूर्ति की बातचीत सुन सकना अथवा उसके अङ्ग सचालन आदि को देख सकना सम्भव होता है। इसी तथ्य को समझ कर साधकगण ध्यान के लिए अपने गुरु अथवा किसी वीतराग पुरुष की मूर्ति को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था में साक्षात्कार स्थूल ध्यान से सम्बन्ध रखता है और उसके लिये केवल चित्तवृत्ति के प्रयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करते समय साधक के लिए कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पर उनकी तरफ से उदासीन रहना ही श्रेयस्कर है। अपने साधक की सफलता के विषय में ऐसी कोई परीक्षा लेना या ऐसी सिद्धियों के विषय में किसीं अन्य व्यक्ति से बातचीत करना उचित नहीं है। ऐसा करना अपने प्रगति मार्ग में कांटे बोना है। ध्यान का अभ्यास करते समय प्रतिदिन ध्यान में अनुभव आये विषयों को ध्येय वस्तु से सामञ्जस्य करके उसका पर्यालोचन करना लाभजनक है। जब तक साधन में इस प्रकार का सामञ्जस्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक उसे पूर्ण नहीं समझना चाहिये और बारम्बार अपने कार्यक्रम में दत्तचित्त रहना चाहिये। इस कार्य में त्राटक कर्म का अभ्यास बहुत अच्छा समझा जाता है। ध्यान योग का अभ्यास बढ़ने पर साधक को उन पदार्थों का भी ध्यान करना चाहिये, जिसको अभी तक नहीं देखा है, पर भविष्य में जिनके देखने की सम्भावना है, उनको भी प्रत्यक्ष देखकर वास्तविक वस्तु से उनका मिलान करना चाहिये। इस प्रकार अतीत (भूत) वर्तमान और भविष्यत् पदार्थों का ध्यान करके इनकी ध्यान में प्रत्यक्ष देखा और समझा जा सकता है। इतना हो जाने पर ध्यानयोग का स्थूल साधन सम्पन्न हुआ समझा जा सकता है।

सूक्ष्म ध्यान के लिए पहले सूर्य मण्डल जैसे विषय का ध्यान करना चाहिये। साधक को विचारना चाहिये कि सूर्य में ऐसीं कौन-सी शक्ति विद्यमान है जिसके द्वारा उसमें ऐसी तेजी और जीवन शक्ति भरी हुई है। ऐसे गूढ़ विषयों का ध्यान करके उनको जानना ही सूक्ष्म ध्यान के अभ्यास की प्रणाली है।

स्वामी दयानन्द ने ध्यान की उत्तम विधि का प्रतिपादन करते हुए ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका मे लिखा है--'धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है। उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार, प्रेम और भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना चाहिए किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना चाहिये, इसी का नाम ध्यान है।

ध्यान से तेज, ओज, शक्ति और सिद्धि के लाभ तभी प्राप्त होते हैं जब उसका अधिकार पत्र प्राप्त कर लिया जाय। अधिकार पत्र प्राप्त करने का अभिप्राय उसके नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करना है। नियमों की अवहेलना करने से उपरोक्त लाभों की आशा करना व्यर्थ हैं।

अतः ध्यान योग के सफल अभ्यास से तेज ओर ओज की वृद्धि होती है, शक्ति केन्द्रों का जागरण होता है, मन निर्विषय और एकाग्र होकर अनन्त शान्ति प्रदान करता है, आत्म-दर्शन और ब्रह्म साक्षात्कार होते हैं। साधक शक्तियों के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। शक्ति और सिद्धि उसके आज्ञा पालन की प्रतीक्षा में रहती है। उसे कुछ शेष प्राप्त करना नहीं रह जाता। इससे नर से नारायण बनने का क्रम पूरा होता है। इसलिये प्रत्येक श्रेय पथ के पथिक को ध्यान योग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण

ध्यान से उपरोक्त वर्णित लाभों का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण करते हुए परम पूज्य पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने लिखा है—

'मानव मस्तिष्क बड़ा ही आश्चर्यजनक, शक्तिशाली एवं चुम्बक गुण वाला यन्त्र है। उसका एक-एक परमाणु इतना विलक्षण है कि उसकी गतिविधि, सामर्थ्य और क्रियाशीलता को देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक हैरत में रह जाते हैं। इन अणुओं को जब किसी विशेष दिशा में नियोजित कर दिया जाता है तो उसी दिशा में एक लपलपाती हुई अग्नि जिह्वा अग्रगामी होती है। जिस दिशा में मनुष्य इच्छा, आकाँक्षा और लालसा करता है, उसी दिशा में, उसी रङ्ग में उसी लालसा में शरीर की शक्तियाँ नियोजित हो जाती हैं।

पहले भावनायें मन में आती है। फिर जब उस भावनाओं पर चित्त एकाग्र होता है तब वह एकाग्रता, एक चुम्बक शक्ति आकर्षण तत्व के रूप में प्रकट होती है और अपने अभीष्ट तत्वों का अखिल आकाश में से खींच लाती हैं। ध्यान का यही विज्ञान हैं। इस विज्ञान के आधार पर प्रकृति के अन्तराल में निवास करने वाली सूक्ष्म आद्यशक्ति को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। उसके शक्ति भण्डार को प्रचुर मात्रा में अपने अन्दर धारण किया जा सकता है।'

ध्यान के आवश्यक नियम

ध्यानाभ्यास का उत्तम समय प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त है। मध्यान्ह और सन्ध्या समय भी किया जा सकता है। बिना कुछ खाये पिये ध्यान पर बैठना चाहिये। स्थान पवित्र व स्वच्छ हो, वातावरण अनुकूल हो। ध्यान योग के साधक को यम नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। उसका आहार सात्विक और सूक्ष्म हो। मादक द्रव्यों का बहिष्कार आवश्यक है। माँस, मच्छी, गरम मसाले और उत्तेजक

पदार्थों का सेवन न करना चाहिये । छल, कपट, झूठ, क्रोध, शोक, भय आदि द्वन्द्वों से दूर रहना चाहिये । ध्यानाभ्यासी के लिए वाक् संयम आवश्यक है । अपशब्द, गाली गलोच, व्यर्थ और झूट बोलने का त्याग करना चाहिऐ । आसन का भी अभ्यास होना आवश्यक है । सफलता की उच्च सीढ़ियों तक पहुँचने के लिए ३ घन्टे तक के आसन का अभ्यास होना चाहिए । इसे धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए ।

परमात्मा का ध्यान किस प्रकार करे, इस विषय में 'भगवत् गीता' (६।१०) ने कहा :—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितिः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

अर्थात्—"जिसका जीता हुआ चित्त है वह वासना-रहित और संग्रम से विमुख योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित हुआ आत्मा को परमात्मा के ध्यान में निरन्तर लगावे ।"

एकान्त सेवन की आवश्यकता क्यों होती है ? इसलिए कि अन्य व्यक्तियों के संसर्ग में रहने से रागादि दोषों से छुटकारा नहीं मिल सकता और मन को निश्चिल करना भी एकान्त में ही सम्भव है । यदि एकान्त नहीं है तो बिभिन्न प्रवृत्तियों का उत्पन्न होना, उभरना स्वाभाविक है । इस प्रकार मन और बुद्धि का शुद्ध रखना एकान्त में ही अधिक सम्भव है । और मन, बुद्धि के शुद्ध हुए बिना आत्मा या परमात्मा के दर्शन हो नहीं सकते, इसीलिए एकान्त में ध्यान को अधिक मान्यता दी गई है, कठोपनिषद् के अनुसार :—

एष सर्वेषु भुतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यतेत्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि; ॥

—कठ० ३।१२

अर्थात्—"सब प्राणियों में व्याप्त होने के कारण गुप्त प्रायः वह परमात्मा इन्द्रियों में लिप्त विषयासक्त बुद्धि के कारण प्रकट नहीं

होता, केवल सूक्ष्मदर्शी ही उसे अपनी शुद्ध एवं सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा देख सकते हैं।

इसका तात्पर्य हुआ कि सूक्ष्मदर्शिता की उपलब्धि बुद्धि के शुद्ध होने पर ही सम्भव है और बुद्धि की शुद्धि होगी योगाभ्यास से। उस योगाभ्यास में ध्यान को प्रमुखता दी गई है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि ध्यान के बिना योग की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। ध्यान के द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान तो हो ही सकता है, परमात्मा के स्वरूप को भी जान लेने में साधक को सामर्थ्य प्राप्त होती है। किन्तु, इसके लिए आवश्यक है ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों का एकरस हो जाना, तीनों का ही इतना एकाकार हो जाना, जिससे कि उनमें पृथकत्व का अंशमात्र भी शेष न रहे।

ध्यान की इस अवस्था के लिए बारम्बार अभ्यास करना होता है, तभी सिद्धि होती है। वेदान्तदर्शक (४।१) के अनुसार 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' अर्थात् 'साधन का बार-बार अभ्यास करे, ऐसा बार-बार उपदेश हुआ है। किन्तु उत्कृष्ट ध्यान के लिए 'आसीनः सम्भवात्' (वे० द० ४।७) अर्थात् 'बैठकर ही उपासना सम्भव है क्योंकि चलते-फिरते आदि में भाव की चंचलता रहेगी और लेटने पर नींद आ सकती है, तो ध्यान की स्थिति बन ही नहीं सकती। इसीलिए बैठकर 'ध्यानाच्च' (वे० द० ४।८) अर्थात् 'ध्यान करने से ही उपासना होती है।' गीता में भी कहा है :—

वेदान्त दर्शनकार ने ही आगे चल कर और भी स्पष्ट किया है, यथा :—

अचलत्वं चापेक्ष्य। स्मरन्ति च। यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्। आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्। तदधिगमे उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष विनाशौ तद्व्यपदेशात्।

—वेदान्त दर्शन ४।९-१३

अर्थात्—"ध्यानावस्था में निश्चल रहना अपेक्षित है, ऐसा ही

स्मरण के विषय में समझिये। यह आवश्यक नहीं कि किसी स्थान विशेष पर ही बैठा जाय, बल्कि जहाँ मन की एकाग्रता हों, वहीं बैठ कर उपासना करनी चाहिए।"

भगव्द्गीता में योग की इन क्रियाओं के विषय में इस प्रकार कहा गया है :—

शुचो देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रि तं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणहरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

—गीता ६।११।१५

अर्थात्—"किसी पवित्र भू-खण्ड में कुश, मृगछाला और वस्त्र को क्रमशः एक के ऊपर एक बिछाकर ऐसा आसन बनाये जो न अधिक नीचा हो न अधिक ऊँचा। उस पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में करता हुआ आन्तरिक शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे। इसके लिए काया, शिर और ग्रीवा को समान अर्थात् सीधे और स्थिर रखे और अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे, अन्य दिशाओं की ओर न देखे। ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहता हुआ निर्भय और शान्त अन्तःकरण से सावधान रहे तथा मन को वश में रखता हुआ मुझ में ही चित्त लगावे। इस प्रकार आत्मा को परमेश्वर के स्वरूप में निरन्तर युक्त करता हुआ स्थिर चित्त वाला

योगी मेरे में अवस्थिति-रूप परम निर्वाण वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

उपरोक्त श्लोकों से भी सिद्ध हुआ कि ध्यान योगाभ्यास का आवश्यक अङ्ग है। ध्यान के बिना ईश्वर में चित्त लगना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। गीता के छठे अध्याय में ही इसको और भी स्पष्ट किया गया है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं :—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृह सर्व कामेभ्यो युक्त इत्युच्चते तदा ॥१८

अर्थात्—"अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जब परमात्मा में ही भले-प्रकार स्थित हो जाता है, तब भी कामनाओं से स्पृहा-रहित पुरुष योग युक्त कहा जाता है।"

आदर्श ध्यान योग की विधि

एक अधिकारी विद्वान् ने आदर्श ध्यान योग की विधि इस प्रकार से वर्णित की है :—

"अपने सामने एक आदर्श या आईना रक्खे और घी का दीया इस तरह उसके सामने रक्खे कि उसकी ज्योति दर्पण के मध्य भाग पर प्रतिबिम्बित हो। दर्पण के मध्य भाग में सुगन्धित तेल की एक बूँद डाल दें। अनन्तर दर्पण के मध्य भाग में जहाँ ज्योति दिख रही हो, वहाँ उस ज्योति की शंखाकृति पर दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास करे। इस अभ्यास के समय मौन रहे, मन में कोई विचार न आने दे और बाहर से आने वाले शब्दों की ओर जिसमें ध्यान न जाय, इसके लिये आगे लिखे अनुसार कर्णमुद्रा का उपयोग करे। केसर, इलायची और जायफल समभाग लेकर उसे वस्त्र से छानकर किसी रेशमी कपड़ें के टुकड़े में रखकर उसकी पोटली पोटली बनाकर इस तरह उसे सीये कि कान में उसका डाट दिया जा सके। डाट देकर उस पर मोमें लगा दे। यह कर्ण मुद्रा कान में लगाकर तब दर्पण में ज्योति के प्रतिबिम्ब की शंखा-

कृति पर दृष्टि स्थिर करे। शुरू-शुरू में उष्णता के कारण आँखों से गरम पानी जायेगा, उसे जाने दें, बन्द न करें। लगभग एक सप्ताह के अन्दर ही पानी का जाना बन्द हो जायेगा। पानी से यदि आंखें बीच में ही बन्द हो जायें तो कोई हर्ज नहीं। आँखें पोंछकर फिर से अभ्यास आरम्भ करे। चित्तवृत्ति को स्थिर करके, बिना पलक गिराये जितनी ही अधिक देर तक अभ्यास किया जा सके, उतना ही अधिक लाभप्रद है। पहले प्रति दिन दस ही पन्द्रह मिनट अभ्यास करे, पीछे धीरे-धीरे घण्टे सवा घण्टे तक बढ़ा ले जाय। जब आध घण्टे तक चित्त को स्थिर रखकर बिना पलक गिराये एकाग्र दृष्टि से देखने का अभ्यास हो जाता है तब इष्टदेवता के दर्शन होते हैं, उनसे सम्भाषण होता है और भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान आदि अनेक विध चमत्कार देख पड़ते हैं। परन्तु इन चमत्कारों में न फँसकर साधक भगवद्रूप की भावना को दृढ़ रखकर उसका प्रत्यक्ष होते ही उसमें तन्मय हो जाय और इस तरह कृतार्थता लाभ करे।"

अनुभव सिद्धि विधि

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती ने ध्यानावस्थित होने की अनुभवसिद्ध विधि का इस प्रकार मार्गदर्शन किया है :—

'जप करते हुए जब आधा घण्टा या एक घण्टा व्यतीत हो जाए तो जप छोड़ दीजिए और भृकुटि में यह धारणा कीजिए कि यहाँ दीप शिखावत् या चन्द्रवत् कोई ज्योति है। बार-बार ऐसी धारणा करने से थोड़े दिनों या सप्ताहों या महीनों के पश्चात् यह ज्योति अन्दर की आंखों में दिखलाई देने लगती है। समय कितना लगेगा, यह तो अपने चित्त की अवस्था पर निर्भर है। जितनी अधिक निर्मलता होगी, उतनी ही शीघ्रता से ज्योति दीखने लगेगी। कुछ साधकों को ज्योति दिखलाई नहीं देती और उसके स्थान में भृकुटि में खिचावट सी, सनसनाहट सी प्रतीत होने लगती है। यह चिह्न भी अच्छा है। इससे यह

जान लेना चाहिए कि सूक्ष्म प्राण की गति वहाँ होने लगी है और ज्यों-ज्यों भृकुटि की विशेष नाड़ी ध्यान से शुद्धि होती जायेगी, यह सूक्ष्म प्राण ललाट चक्र ब्रह्मरन्ध्र में चला जायेगा। सूक्ष्म प्राण की गति के साथ चित्त भी वहीं बाँधा जायेगा। इस प्रकार प्रतिदिन कम से कम एक घण्टा अवश्य धारणा ध्यान कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय दिया जा सके तो लाभ अधिक होगा।

निरन्तर ध्यानावस्थित होने का अभ्यास करने से और ज्योति अथवा सनसनाहट को अनुभव करने से बुद्धि की मलीनता दूर होने लगती है। ज्योति जितनी शुभ्र अथवा सनसनाहट जितनी तीव्र होती जायेगी, निर्मलता, पवित्रता भी उतनी मात्रा में बढ़ती जायेगी।"

योग में ध्यान के पूर्व आसन पर स्थित होकर १०—१५ मिनट तक त्राटक करना आवश्यक बताया है। त्राटक अपने गुरु के चित्र, अपनी इष्टदेव मूर्ति अथवा स्फटिक मणि का श्रेष्ठ बताया गया है। त्राटक का यह लाभ होता है कि दृष्टि इधर उधर से हटकर एक ओर केन्द्रित हो जाती हैं, मन की चञ्चलता कम होने लगते है त्राटक के बाद नेत्र बन्द कर लेने चाहिए क्योंकि नेत्र खुले रहने से मन बाह्य वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है और नाना प्रकार के विचार मन में आने लगते हैं।

ध्यान से पूर्व मन में दृढ़ सङ्कल्प करना चाहिए कि ध्यान के समय में किसी सांसारिक विषय को मन में नहीं आने दूँगा। न तो कोई सङ्कल्प विकल्प हो पायेगा मैं केवल ध्यान ही करूँगा।

जप के समय या किसी अन्य सुविधा के समय भी ध्यान किया जा सकता है। ध्यान के लिए एकान्त व शान्त स्थान का चुनाव करना चाहिए। जप समय की विधि तो पालती मारकर करने की है परन्तु यदि इसे किसी अन्य समय करना हो तो दीवार, वृक्ष के सहारे मसनद के साथ या आराम कुर्सी पर लेटकर ध्यान साधना की जा सकती है। लेटकर देह को इस प्रकार से शिथिल कर दिया जाए जैसे निर्जीव

अनुभव हो रहा हो। अब दोनों नेत्रों को बन्द करके दोनों हाथों को गोदी में रखकर ध्यान करना चाहिए कि चारों ओर नील गगन है। दूर तक कोई भी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। प्रलयकाल में सृष्टि का नाश हो जाता है, केवल आकाश ही शेष रह जाता है। कोई भी वस्तु कहीं नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति का कल्पना चित्र बनाना चाहिए। जब यह भावना स्थिर हो जाए तो यह अनुभव करें कि आकाश में बहुत दूर एक छोटा सा ज्योति पिण्ड दिखाई दे रहा है। यह सूर्य के समान चमकता है। अभ्यास होने पर यह निकट आ जाता है, आकार बड़ा हो जाता है, तेज में भी वृद्धि हो जाती है। यदि किसी मूर्ति का ध्यान करना हो तो एक छोटे नक्षत्र के रूप में उनका ध्यान करें। यहाँ ओंकार का ध्यान भी किया जा सकता है। यह चुनाव अपनी रुचि के अनुसार ही करना चाहिए।

आरम्भ में तो अपने इष्टदेव की मूर्ति की छाया धुन्धली सी दिखाई देगी। बार-बार ओझल हो जायेगी। पुनःपुनः उसका ध्यान करना होगा। अभ्यास से यह प्रतिमा पहले से अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगती है और अधिक समय तक दिखती है। जब ध्यानावस्था सफलता की ओर बढ़ती है तो वह शिव मूर्ति या चित्र हँसता बोलता और विभिन्न प्रकार की चेष्टायें करता दिखाई देता है।

ध्यान जितना परिपक्व होता जाता है, अन्तःकरण में उतना ही ब्रह्मतेज बढ़ता जाता है। इससे एक अनुपम दिव्यता का अनुभव होता है जो सूर्य के सामने प्रकाशवान होती है। यह तेज शरीर के रोम-रोम में बढ़ता जाता है। ऐसा अनुभव होता है कि विशाल सृष्टि में जैसे करोड़ों सूर्य विद्यमात्र हैं, वैसे ही इस लघुसृष्टि पिण्ड में करोड़ों सूर्यों का प्रकाश हो रहा है। हर रोम उससे प्रकाशित हो रहा है। अंधकार व अज्ञान का कहीं नाम-निशान तक नहीं है। मन पर जो मैल के पर्त जमे हुए थे, वह सब नष्ट नष्ट हो गए हैं, भस्म हो गए हैं, अथवा धुल गए हैं। अब स्वच्छता, निर्मलता, निष्पापता और दिव्यता की स्थिति ही

रह जाती है। वह स्थिति आने पर साधक अपने को ब्रह्मरूप ही अनुभव करने लगता है।

यह तो ध्यान साधना की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँचने तक अनेकों प्रकार के अनुभव साधक को होते हैं, जब वह तेज धारण करने की प्रक्रिया को अपनाता हुआ अभ्यास करता है तो अनेकों बार भिन्न-भिन्न रङ्ग व आकार की ज्योतियाँ दिखाई देती हैं। उनकी गति इधर से उधर होती रहती हैं। कभी तो वह सूर्य की तरह चमकता हुआ पिण्ड होता है, कभी चन्द्र मण्डल के से प्रकाश सा होता है, कभी हीरे की सी ज्योति चमकती दिखाई देती है। कभी छोटे-छोटे तारागण चमकते और ओझल होते दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी विभिन्न प्रकार की गतिविधियां होती रहती हैं। वे एक ओर से दूसरी ओर भागते हैं, बीच में मार्ग बदलते हैं और फिर वापिस अपने मूल स्थान की ओर लौट आते हैं। इनकी चक्राकार गतियाँ भी दिखाई पड़ती हैं। वाण के आकार का प्रकाश होता रहता है। वह ज्योतियाँ और प्रकाश पिण्ड सफलता की निशानियाँ हैं। यह शक्ति और सिद्धि की सूचक होती हैं।

यह परिणाम एक दो दिन की साधना के नहीं हैं। लम्बे समय तक f रन्तर साधना करनी पड़ती है।

ओंकार का ध्यान

शास्त्रों ने 'ॐ' के ध्यान का आदेश दिया है और उसे सर्वश्रेष्ठ बताया है। योग दर्शन १।२८ में दर्शनकार ने अपने प्रणव जप की साधना का निचोड़ ही दे दिया है कि "प्रणव के जप और उसके अर्थ चिंतन से समाधि लाभ होता है।" अगले सूत्र में कहा है—"उक्त साधन के बाद विघ्नों का अभाव और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान भी होता है।"

उपनिषदों में ओंकार के ध्यान की काफी चर्चा है। मुण्डकोपनिषद् में प्रणव के ध्यान का आदेश दिया गया है। ब्रह्मविद्योपनिषद् (१२)

में कहा है "कांसे के घण्टा का शब्द जिस प्रकार शान्ति में लय हो जाता है, उसी प्रकार ओंकार की योजना द्वारा समस्त इच्छाएं शान्त हो जाती हैं।" प्रणव के ध्यान को अन्तिम सीढ़ी तक पहुंचने का साधन यानविन्दूपनिषद् में घोषित किया गया है कि "सब मोक्षाभिलाषी व्यक्ति ओंकार रूप एकाक्षर ब्रह्म का ही ध्यान करते हैं। इस प्रणव के प्रथम अंश 'अ'कार में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, यजुर्वेद, भूः तथा पितामह का लय होता है। दूसरे अंश 'उ'कार में अंतरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवः और विष्णु का लय होता है, तीसरे अंश 'म'कार में द्यौ, सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर का लय होता है। (६-१२)।" इस प्रकार से ओंकार को जो नहीं जानता, वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। यह प्रणव धनुष है आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है, बाण से सावधानी के साथ तन्मय होकर इस लक्ष्य को वेध डालने और 'अवर' को जान लेने से सब क्रियाओं से निवृत्ति हो जाती है (१५—१५)।" आत्मा को नीचे की अरणी के रूप में ग्रहण करके प्रणव को ऊपर की अरणी बनावें। इस दोनों के मंथन रूप दर्शनाभ्यास से गूढ़ तत्व का दर्शन करें (२२)।" "गमनागमन में स्थित और गमनादि से शून्य ऐसे करोड़ों सूर्य की दीप्ति के सदृश्य सबके हृदय में रहने वाले हंसात्मक ॐकार का जो दर्शन करते हैं, वे निष्पाप हो जाते हैं (२४)।"

प्रश्नोपनिषद में सत्यकाम के प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलाद ने कहा—"यह ॐकार परब्रह्म है और यही अपर ब्रह्म भी है ऐसा जानने वाला मनुष्य इस एक प्रयास से ही ब्रह्म के एक रूप को पा लेता है (१)। यदि एक मात्रा वाले ओंकार का ध्यान करे तो वह उनके द्वारा शीघ्र ही पृथ्वी पर प्रकट हो जाता है। ऋग्वेद की ऋचाएं उसे मनुष्य देह की प्राप्ति कराती हैं। वह ब्रह्मचर्य से युक्त एवं श्रद्धान्वित होकर महिमा युक्त हो जाता है। (३)। यदि दो मात्राओं वाले ओंकार का ध्यान करे तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। यजुर्वेद के मन्त्र उसे वहाँ ले जाते हैं। वह वहाँ का सुख भोगकर फिर इस मनुष्य

लोक में आ जाता है (४)। त्रिमासिक ओंकार के परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने वाला पुरुष तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त होता है। सर्प के केंचुली से छूटने के समान वह पापों से छूटकर सामदेव द्वारा ब्रह्मलोक में पहुंचाया जाता है। वह इन पापियों से अत्यन्त श्रेष्ठ परमेश्वर से साक्षात्कार करता है (५)।"

ओंकार के ध्यान की उत्तम विधि का निर्देश भगवान कृष्ण ने उद्धव को भागवत में दिया है। "सुख पूर्वक आसन में सीधा बैठकर और दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रख कर अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करना चाहिए और पुनः पुनः रेचक पूरक नाड़ी को शुद्ध कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् प्रणव के जाप के साथ प्राणायाम करना चाहिए प्राण के रोध से जब मन शान्त हो जाए तब हृदय कमल में निहित ओंकार का ध्यान करके अनाहत ध्वनि, ओंकार एवं घण्टादि नादों का श्रवण करना चाहिए, इस तरह से नित्य प्रति प्रणव के जप के साथ प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से प्राणों का निरोध होने लगता है और इससे मन शान्त होने लगता है।

"ॐ' के नाद से ध्यान बाँधने की बात शास्त्रों में कही गई है—

हृद्यविच्छिन्नमोकारं घण्टानादं विसोर्णवत्।
प्राणोनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्।
(भागवत ११।१४।३४)

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युज्जतो योगिनो मनः।
संपास्यत्पाशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥
(भागवत ११।१४।४६)

'हृदय में घण्टानाद की तरह ओंकार का अविच्छिन्न पद्मनालवत अखण्ड उच्चारण करना चाहिए। प्राण वायु के सहयोग से पुनः पुनः 'ॐ' का जप करके बार-बार हृदय में गिनाना चाहिए। इस तीव्र ध्यान विधि से योगाभ्यास करने वाले का मन शीघ्र ही शान्त हो जाता है और सांसारिक भ्रमों का निवारण हो जाता है।'

योगवासिष्ठ भी इसका साक्षी है—

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।
एकतत्वघनाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥
(योगवा० उपशम प्र० स० १८, १९)

"लम्बे समय तक एकाग्र रूप परिणाम को प्राप्त कर उदित हुए अभिवांछित ध्यान से, जो एक वस्तु स्वरूप का लगातार बार-बार अनुसन्धान होता है। इसी से प्राणों का निरोध होता है।"

एक और स्थान पर योगवासिष्ठ में कहा है—

ओंकारोच्चारणसान्तशब्दतत्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

"ऊँचे स्वर से ओंकार का जप करने पर शान्त में जो शेष तुर्यमात्रा रूप शब्द तत्व की अनुभूति होती है, उसका अनुसन्धान करने से बाह्य चित्त वृत्तियों का जब बिल्कुल उपराम हो जाता है, तब प्राण वायु का निरोध हो जाता है।"

ओंकार के ध्यान की सरल विधि इस प्रकार है :—

नेत्र बन्द करके कल्पना करनी चाहिए कि दूर नीला आकाश है। उसमें प्रलय की सी स्थिति की तरह चारों ओर कोई भी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही हैं। अब नील गगन को चीरते हुए एक विस्तृत ज्योतिमण्डल की कल्पना करें जिसके बीच में से सहस्रों सूर्यों के समान चमकते हुए 'ॐ' कार को देखें जिसके चारों ओर प्रकाश की किरणें फैल रहीं हैं, जो सारे आकाश मण्डल में व्याप्त हो रहीं हैं। इस ध्यान से ओंकार का मानसिक जप करना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि उस ज्योतिमंडल की दिव्य किरणें मेरे मन पर पूर्ण रूप से पड़ रहीं हैं। इस आलोक से अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वच्छ—पवित्र बन रहे हैं, मन के सभी पाप, ताप मल विक्षेप दुर्गुण नष्ट होते जा रहे हैं।

जब ध्यान में तन्मयता बढ़ती है तो जप अपने आप छूट जाता है।

केवल ध्यान ही शेष रह जाया है। ध्यान की परिपक्वता के लिए लम्बे समय तक निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा है। जब ध्यान जमने लगता है तो साधक का ध्यान उस कल्पित ज्योतिर्मय मण्डल तक ही सीमित नहीं रह जाता वरन् वह एक अचिन्त्य ज्योतिर्मय जगत्, अन्तर्जगत में प्रविष्ट कर जाता है। यह स्थिति आने पर अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुभूति होने लगती है और साकार ध्यान से निराकार ध्यान की ओर साधक बढ़ता है।

यह ओंकार के जप के साथ ओंकार के ध्यान की विधि है। इसका अभ्यास करके साधक प्रगति पथ पर आरूढ़ हो सकता है।

उपासना का यह अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है। इसके बिना, उपासना का तेज अधूरा ही रहता है और सफलता में सन्देह ही समझना चाहिए। उपासना में गति लाने का श्रेय ध्यान को ही प्राप्त है। जब मानसिक वृत्तियां बिखरी रहती हैं तो शक्ति विकास की योजना धूमिल हो जाती हैं। शक्तियों को एकत्रित करने के लिए ध्यान का सहारा लेना पड़ता है। यह नवसृजन का मूल कारण सिद्ध होता है। अतः उपासना में सफलता के इच्छुक साधक को इस ओर विशिष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है।

मंत्र सिद्धि की एक सशक्त प्रक्रिया

मन्त्र सिद्धि में एकाग्रता का उच्चतम स्थान है। इसके बिना मंत्र शक्ति बिखर जाती है। यह शक्तियों की एकत्रित करने का काम करती है। इसीलिए ज्यान की एक सशक्त क्रिया के रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि वह एकाग्रता सिद्धि में सहायक होता है और सुप्त शक्तियों को प्रस्फुरित करता है। मन्त्र शक्ति को अंकुरित विकसित व स्थिर रखने में इसका विशेष हाथ रहता है। यह कहने में भी संकोच नहीं है कि ध्यान के बिना मन्त्र शक्ति को पूर्णरूप से प्रस्फुरित नहीं किया जा सकता। ध्यान के बिना साधक अपनी साधना में एक अभाव सा अनुभव करता है क्योंकि उसमें अधिक सफलता प्राप्त होती दिखाई नहीं देता। इसलिए मन्त्र साधना का यह एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है।

समाधि

परिभाषा

योग दर्शन के समाधिपाद (१।४।१) में महर्षि पतञ्जलि ने समाधि की परिभाषा करते हुए लिखा है "वृत्तियों के क्षीण हो जाने से स्फटिक मणि के समान जब मन हो जाता है और वह ग्रहिता (आत्मा) ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियां) तथा ग्राह्य (पंचभूत और उनके विषय) में स्थित होकर तदाकार हो जाता है तो यही सम्प्रज्ञात समाधि है। "जब मन में रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियाँ का अभाव हो जाता है, तब केवल सतोगुण ही शेष रह जाता है। जब चित्त पवित्र और शुद्ध हो जाता है तो उसके सामने जो भी पदार्थ रखा जाता है, वह वैसा ही दिखाई देता है। जब एकाग्र शुद्ध चित्त सतोगुणी वृत्तियों के सम्पर्क में आता है तब वह भी सात्विकता से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर दिखाई देता है। इस तदाकार तन्मया में जो स्थिति प्राप्त होती है, उसे सम्प्रज्ञात कहा जाता है।

समाधि शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—विक्षेपों को दूर करके एकाग्र चित होना। जहाँ ध्यान और ध्येय वस्तु दोनों मिलकर एकाकार हो जाते है, वह समाधि कहलाती है।

योग वसिष्ठ में समाधि का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—

इमं गुण समाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तः शीतलमा यस्य समाधिरिति ॥

अर्थात् – जब हम इस गुण समूह को आत्मा से अलग देखकर

अन्तःकरण में शीतलता का अनुभव करते हैं, तब उस स्थिति का नाम ही समाधि है ।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार समझाया है—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मरायेव स्थितिर्यां सा समाधि रभिधीयते ।।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा जब साम्यावस्था में आ जाते हैं, तभी समाधि होती है ।

यही बात स्कन्दपुराण में कही गई है ।

यत्समयत्व द्वयोरत्र जीवात्मा परमात्मनो ।
सनष्ट सर्व सङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ।।
परमात्मात्मनोर्यो ऽयमविभागः परन्तप ।
स एव तु परो योगः सआसात्कथितत्सव ।।

इनमें भी यही भाव दर्शाये गये हैं कि जिस स्थिति में विकारों से ओत-प्रोत सारे सङ्कल्प नष्ट हो जाते हैं और जीवात्मा और परमात्मा दोनों साम्यावस्था में आ जाते हैं, उसे ही समाधि कहते हैं ।

गीता में साम्यावस्था प्राप्त साधक को ही स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मभूत, जीवन मुक्त और समाधिस्थ कहा गया है । गीता २।५४) में अर्जुन भगवान से समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के लक्षण पूछते हैं । इस पर भगवान उत्तर देते हैं "जब कोई व्यक्ति मन की समस्त वासनाओं को त्याग देता है और अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं (२।५५) ।" "दुःख में जो दुःखी नहीं होता और सुख में आसक्त नहीं होता, जिसने क्रोध, भय और प्रीति को छोड़ दिया है" (५६) जिसका मन सब ओर से निःसङ्ग हो जाता है और शुभाशुभ से प्रसन्नता और दुःख नहीं होता (५७), कछुए की तरह जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच लेता है (५८) तभी उसकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है । यही समाधिरूप साधक के भी लक्षण हैं ।

एक विद्वान ने लिखा है 'उपासना और समाधि में केवल अन्तराय की मात्रा का भेद नहीं है, स्थिति का भेद नहीं है अर्थात जिस समय बिना किसी अन्तराय, विघ्न और बाधा के साधक चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करके दीर्घकाल तक एकासन पर बैठता है, उस समय वह समाधि की स्थिति में प्रविष्ट होता है।

विभिन्न प्रकार की समाधियां

योग दर्शन में दो प्रकार की समाधियाँ बताई गई है । सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात । सम्प्रज्ञात के चार भेद हैं ।

(१) वितर्कानुगत--यह स्थूल पंचभूतों और इन्द्रियों की भावना पर आधारित है । इसमें केवल अपने इष्टदेव की स्थूल मूर्ति या चित्र का ध्यान किया जाता है और तन्मयता प्राप्त की जाती है । चित्त की एकाग्रता के लिए इन स्थूल पदार्थों जैसे सूर्य, चन्द्र, ग्रह व राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि की मूर्तियों का ध्यान सरल होता है । आरम्भ में सूक्ष्म तत्वों का ध्यान असम्भव होता है । इसे वितर्क समाधि कहते हैं ।

(२) विचारानुगत--इसमें चिंतन का विषय कोई सूक्ष्म वस्तु चुनी जाती है जैसे सत्य, शिव, सुन्दर । स्थुल पदार्थों के बाद सूक्ष्म तन्मात्राओं जैसे रूप, रस गन्ध, स्पर्श के भावनात्मक विचारों से समाधि होती हैं । इसे विचार समाधि कहते हैं ।

(३) आनन्दानुगत—इसमें विचार शून्यता की स्थिति प्राप्त हो जाती है और केवल आनन्द की ही अनुभूति होती है ।

(४) अस्मितानुगत—इसमें चिंतन का विषय कोई बाह्य विषय स्थूल या सूक्ष्म नहीं होता । स्वयं चिंतक ही चिंतन का विषय हो जाता है । इसमें ध्यान बाह्य विषयों से हट जाता है और अपने स्वरूप पर जम जाता है ।

योगदर्शन समाधिपाद (१।१८) में असम्प्रज्ञात समाधि के सम्बन्ध में लिखा है "जिसकी पूर्णावस्था विराम प्रत्यय है तथा जिसमें चित्त

की स्थिति संस्कार मात्र शेष रह जाती है, वह दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि है।" सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त और पुरुष की भिन्नता का अनुभव होता है। इस चित्त की वृत्ति से जब साधक तृष्णा रहित हो जाता है, तब वह 'पर-वैराग्य' की स्थिति में आता है। पर वैराग्य से विवेक ख्याति रूपी अन्तिम वृत्ति का भी विरोधी हो जाता है। इस स्थिति को विराम प्रत्यय कहा जाता हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में अभ्यास बढ़ जाने से अनुभवों के चिन्हों अर्थात् संस्कारों के आश्रय से ही ध्यान जमाना सम्भव हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि है। उसमें कोई वृत्ति शेष नहीं रहती। सभी वृत्तियों का इनमें विरोध हो जाता है।

शास्त्रों में २७ प्रकार की समाधियों का वर्णन आता है। जैसे कि काष्ठ समाधि, भाव समाधि, ध्यान समाधि, प्राण समाधि सहज समाधि आदि। मूर्छा, नशा या किसी दवा के सूँघने से जो समाधि की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उसे काष्ठ समाधि कहा जाता है। जब शारीरिक चेष्टायें संज्ञा शून्य हो जाती हैं उसे भाव समाधि कहते हैं। ध्यान समाधि में निराकार सत्ता साकार हो उठती है। प्राणों का ब्रह्मरन्ध्रादि में एकत्रित करने को प्राण समाधि कहते हैं। जब स्वयं का वृत्ति में लीन होने का आभास होने लगता है, उसे ब्रह्म समाधि कहते हैं।

सहज समाधि की व्याख्या इस प्रकार है। साधक को संसार और उसके कार्यों से विमुख नहीं होना पड़ता। वह अपने गृहस्थ का संचालन करता है, उसे अपना पुनीत कर्तव्य मानता है, परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता। बच्चों के विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है, परन्तु उनमें मोह ग्रस्त नहीं रहता। भोजन करता है परन्तु शरीर को स्वस्थ्य और सुरक्षित रखने की दृष्टि से। चटोरेपन का उसके सामने कोई मूल्य नहीं रहता। इन्द्रियों के विषयों से वह वर्तता है परन्तु उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है। उसमें प्रत्येक क्रिया कर्तव्य और यज्ञरूप हो जाती है। वह परिवार का सम्बर्धन, पालन पोषण करता है परन्तु

कामनाएँ और वासनाएँ उसे छू तक भी नहीं पातीं, धन जमा करने की तृष्णा वृथे नहीं सताती। रज और तम से दूर वह सत सत्व के समुद्र में स्नान करता है। सत सत्व में एक अद्भुत मस्ती, अखण्ड उल्लास का अनुभव होता है। यह स्थिति जितनी दृढ़ बनती जाती हैं, उतनी ही उसकी तन्मयता भी बढ़ती जाती है। इससे आन्तरिक प्रसन्नता और शान्ति भी असाधारण होती जाती हैं, इसी स्थिति को सहज समाधि नाम दिया गया है।

समाधि की सीढ़ियाँ

योग दर्शन में समाधि के आधार स्तम्भों का वर्णन करते हुए कहा गया है :–

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।

(समाधि पाद २०)

अर्थात् दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उनकी श्रद्धा, वीर्य (पुरुषार्थ), स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।

समाधि सिद्ध करने के लिए प्रथम शर्त अपने अन्दर श्रद्धा को जाग्रत, सुरक्षित और बनाए रखना है। यह प्रत्येक साधना की नींव मानी जाती है। जो इस नींव को दृढ़ करने का प्रयत्न नहीं करते और ऊँचा भवन खड़ा करना चाहते हैं, उन्हें आगे चलकर निराशा ही होती है क्योंकि कच्ची नींव का भवन एक दिन गिरकर ही रहेगा, यह स्वाभाविक है। श्रद्धालु बनना साधना की अनिवार्य शर्त है। सफलता चाहने वाले को इसे अपना ही होगा।

सात्विकी श्रद्धा से योग साधन करते हुए जो अभ्यास किया जाता है, उसे 'वीर्य' कहते हैं। प्रयत्न पुरुषार्थ के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं होता। फिर समाधि जैसा कठिन कार्य कैसे हो सकता है।

इसके लिए तो निरन्तर प्रयत्न करने की दूसरी सीढ़ी है। जो साधक आलस्य को पनपने का अवसर देता है, वह इस क्षेत्र में बढ़ने का अधिकारी नहीं है।

जब साधक समाधि तक पहुँचने से पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सभी योग साधनाओं को क्रम से करता हुआ आता है, तो उसकी आत्मा में इतनी चमक उत्पन्न हो जाती है कि पिछले जन्मों के कर्म और ज्ञान के संस्कार जाग्रत हो उठत हैं, इसे स्मृति कहते हैं। यहाँ पहुँचने के बाद चित्त में एकाग्रता और स्थिरता आने लगती है। इसके बाद विवेक ज्ञान की अनुभूति, प्रज्ञा की उपलब्धि होती हैं। इस से समाधि सिद्ध होती है यह समाधि की अनिवार्य सीढ़ियाँ है। इन पर चढ़े बिना अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव नहीं है।।

समाधि के लिए कुछ आवश्यक उपाय

प्राणायाम

समाधि लाभ के लिये योग दर्शन में चित्त की निर्मलता और मन की स्थिरता को आवश्यक बताया है और उनके कुछ उपायों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। समाधि पाद सूत्र ३४ में कहा है 'प्राण वायु को बार-बार निकालने और रोकने अर्थात् प्राणायाम करने से चित्त निर्मल होता है।' योग दर्शन (२। ५८) में भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान का आवरण (विवेक ज्ञान का पर्दा) नष्ट हो जाता है।' योग चूड़ामणि उपनिषद की घोषणा है 'प्राणायाम तप रूपी ईंधन के लिए अग्नि स्वरूप है और संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान है। मनुस्मृति ६।७१-७२ में लिखा है' जैसे धातुओं को अग्नि में तपाने से उनके मल

जल जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के सब दोष (पाप) भस्म हो जाते हैं।' योग वसिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ राम को उपदेश देते हुए कहते हैं 'अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने से मन शान्त हो जाता है और केवल निर्वाण ही शेष रह जाता है' (५।८७।४६) दोषों और पापों के नष्ट होने से ही चित्त की निर्मलता आ सकती है, इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राणायाम को एक आवश्यक साधन बताया है ।

विषयों में अनासक्ति

इसके अतिरिक्त कुछ और उपाय भी बताये गये हैं । सूत्र ३५ में कहा है 'विषय वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर वह भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।' अगले सूत्र में कहा हैं 'शोक रहित प्रकाश वाली वृत्ति मन को स्थिर करती है।' सूत्र ३७ के अनुसार 'वीतराग पुरुषों (राग रहित योगियों) का विषय करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।' 'स्वप्न और निद्रा ज्ञान का सहारा लेने वाला मन स्थिर होता है।' (३८)

चित्त की निर्मलता

चित्त की पवित्रता, निर्मलता और एकाग्रता के लिये आवश्यक है कि उसकी वृत्तियों में जो झाड़ झङ्कांड़ उत्पन्न हो गये हैं, उन्हें काटकर फेंका जाये । यह झाड़ झङ्काड़ तामसिक प्रवृत्तियां होती हैं जो निर्मल मन वाले साधक को सांसारिक आसक्तियों की ओर बढ़ाती हैं वह इन्हें अपनाने में ही अपने जीवन की सुख और सफलता मानता है । पिछले अनेकों जन्मों के संस्कारों से यह प्रवृत्तियां जड़ जमाये रहती हैं । चित्त को स्थिर करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे अभ्यास कहा जाता है (योग दर्शन, समाधिपाद, सूत्र १३) । वृत्तियों के निरोध के लिये अभ्यास और वैराग्य ही अपनाना होता है (सूत्र १२) । गीता में भगवान ने अर्जुन को भी यही उपाय बताया था ।

अटूट अभ्यास

महर्षि पतञ्जलि ने साधक को सावधान किया है कि उसके चारों ओर, काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष मोह, मद आदि की सशक्त धारणा प्रवर्तित हो रही हैं। उनका स्पर्श प्रभावोत्पादक होता है। अतः उनके प्रभाव से निरन्तर दूर रहने के लिए आवश्यक है कि अपने अभ्यास को निरन्तर जारी रखना चाहिए, सफलता के चिह्न दिखाई न देने पर उसे छोड़ न देना चाहिए। उन्होंने निर्देश दिया है कि "अभ्यास बहुत काल तक लगातार सत्कार से ठीक-ठीक किया जाने पर दृढ़ भावना वाला होता है।" जो साधक थोड़े समय तक अभ्यास करने पर उसकी परीक्षा करना चाहते हैं कि इससे क्या लाभ होता है, उन्हें निराशा ही हाथ लगेगी। योग की उच्चतम स्थिति समाधि तक पहुँचने के लिये निरन्तर लम्बे समय तक अभ्यास करना आवश्यक है।

ईश्वर प्रणिधान

समाधि सिद्ध करने के लिये ईश्वर प्रणिधान को भी एक उपाय बताया गया है (योग दर्शन समाधि पाद सूत्र २३)। ईश्वर प्रणिधान का अभिप्राय है—अपने आपको ईश्वर के समर्पित करना' अपने अस्तित्व को मिटाकर ईश्वर में मिला देना, उससे एकता स्थापित करना। कहा भी है —

मेरा मुझ में कुछ नहीं, सब कूछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

अपनी समस्त वस्तुओं को ईश्वर से अधिष्ठित करके कर्तव्य का पालन करना मोह, तृष्णा, काम, क्रोध' मद आदि वृत्तियों का नाश करना है। यही मार्ग चित्त की निर्मलता और स्थिरता की ओर बढ़ाता है। जब साधक अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देता है तो उसका अपना कुछ नहीं रह जाता। इस भावना से उसका अहंकार

नष्ट हो जाता है अहं की भावना एक बहुत बड़ी बाधा होती है उसके दूर होने से ईश्वर साक्षात्कार में सुविधा होती है, समाधि सिद्ध होती है।

प्रणव जाप व अर्थ चिन्तनः

समाधि लाभ के लिए प्रणव के जप और अर्थ को एक श्रेष्ठ साधना बताया गया है (योग दर्शन सामाधि पाद सूत्र २८)। अगले सूत्र में क्यों का उत्तर देते हुये कहा गया कि "इससे विघ्नों का अभाव ओर अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान भी होता है।"

प्रणव को वेद शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ मन्त्र, जप तथा ध्यान घोषित किया गया है। तभी वेद ने आदेश दिया 'ॐ स्मर" (यजुर्वेद अ० १५) ॐ का स्मरण करो। क्योंकि शास्त्र का वचन है कि ,'ॐ" के स्मरण, कीर्तन, श्रवण और जप से उस परब्रह्म को मनुष्य प्राप्त हो जाता है। अतः ॐ में परायण रहे।" वेद ने फिर कहा "प्रणवान्तर्गत पर ब्रह्म" ईश्वर साक्षात्कार होता हैं।

मैत्राण्युपनिषद् (५ । ३) में कहा है "जो ब्रह्म है, वही ज्योति है, जो ज्योति है, वही आदित्य है, वही ॐ है। वही आत्मा है। ॐ में सब कुछ अवस्थित है।"

'ॐ' के जप से तमोगुणी वृत्तियों का शमन होता है, सतोगुण वृत्तियों की वृद्धि होती है, मनोबल बढ़ता है, पाप तापों से सघर्प करने का साहस और बल पैदा होता है। आत्मबल ही संसार का श्रेष्ठ बल स्वीकार किया गया है। वह 'ॐ' की साधना से प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होते ही समो बिघ्न बाधाएँ दूर हो जाती हैं और अन्तरात्मा में तेज ओर प्रकाश उत्पन्न होता है जिससे हर वस्तु की वास्तविकता का ज्ञान होता है। इससे चित्त निर्मल व स्थिर होता है और साधक समाधि पथ पर बढ़ता है।

आध्यात्म की उच्चतम स्थिति तक क्रमिक विकास

समाधि तक पहुंचने के लिए अनेकों सीढ़ियों को पार करना होता है ; उनको पार किये बिना समाधिस्थ होना सम्भव नहीं है । साधक क्रमिक विकास करता हुआ इस उच्च स्थिति तक पहुँचता है । उसका सर्वप्रथम पाठ यम का है । वह शारीरिक, मानसिक व प्राणी की हिंसा का परित्याग करता है । प्राणीमात्र से प्रेम की भावनाएँ उसके अन्तःस्थल में जाग्रत हो उठती है क्योंकि हिंसक वृत्ति छोड़ने का परिणाम प्रेम और सहानुभूति ही हो सकती है ।

अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये छल, कपट, झूठ फरेब आदि हथकण्डों को छोड़कर सत्य का आलम्बन लेना पड़ता है जिससे चारों ओर से सात्विक वृत्तियों की बौछार सी होने लगती है । वह परिश्रम से घबड़ा कर अपने शरीर को पुष्ट करता है । सात्विक कमाई से मन भी सात्विक रहता है । काम वासना पर नियन्त्रण रखने का अभ्यास करता है । इन अभ्यासों से उनकी सूक्ष्म शक्तियों का विकास होने लगता है । परिवार के पालन पोषण के लिए वह प्रयत्नशील अवश्य रहता है परन्तु परिग्रह करके उसके प्रति मोह, ममता, को पनपाना नहीं चाहता । वह इस सम्बन्ध में परमार्थ, निःस्वार्थता, निर्भयता व अनासक्ति की वृत्ति को अपनाता है । योग साधना में प्रविष्ट साधक के लिये यह पहली सीढ़ी है ।

दूसरी कक्षा में प्रविष्ट होती ही साधक अपने बाह्य और आन्तरिक क्षेत्रों को पवित्र करता है, उसमें जो झाड़ झकाड़ उत्पन्न हो गये हैं, उनको काँट छाँट देता है, मानसिक गन्दगी उत्पन्न करने वाली बाधाओं को दूर करता है । वह अपनी भौतिक इच्छाओं और कामनाओं को सयमित रखता है, तृष्णाओं पर नियन्त्रण रखता है और जीवन में सन्तोष की साँस लेता है । परिश्रम करना और कष्ट सहना उसका स्वभाव ही बन जाता है । इस तप रूपी नीव पर ही उसकी समस्त सफलताओं का

महल खड़ा होता है । वह अपने विकास का अध्ययन और निरीक्षण साथ-साथ करता है ताकि यदि कोई दोष पनप रहे हों तो उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाए । वह विश्वव्यापी सत्ता पर विश्वास करता है । उसके निर्देशक में ही अपने जीवन की गतिविधियों का सञ्चालन करता है । अपनी सफलताओं व प्रसन्नताओं का सारा श्रेय उस महा-शक्ति को देते हुए अपनी समस्त सम्पत्तियों को उससे अधिष्ठित करता है । अपना सर्वस्व उसके चरणों में रख देता है, अर्पण कर देता है । दूसरी कक्षा में यह पाँच नियम हैं । ५ यम और ५ नियमों के पालन से साधक का जीवन काफी परिमार्जित हो जाता है तभी वह आगे बढ़ता है और आसन, प्राणायाम का अभ्यास करता है । मन की एकाग्रता बढ़ने लगती है । प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखता है । चित्त की चञ्चल वृत्तियों को एक स्थान पर ठहराने के लिये धारणा का सहारा लेता है । चित्त की स्थिरता के लिए ध्यान की साधना करता है । इन कठोर साधनाओं को करता हुआ साधक समाधि अवस्था में पहुँचता है । समाधि के लिए यह दृढ़ भूमि तैयार करनी पड़ती है । इस तैयारी के बिना अन्तिम लक्ष्य तक पहूँचना सर्वथा असम्भव है ।

जीवन के क्रमिक विकास और परिशोधन के लिये यह योग साधना अत्यन्त आवश्यक है । यह साधना अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म-चर्य और अपरिग्रह का पालन करके उत्तम नागरिक बनाती है । साधक अपने राष्ट्रीय कर्तव्यों की ओर सचेत रहता है । इन महाव्रतों का पालन उसकी आत्मा को परिपुष्ट करते हैं । तब वह शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति के बल पर व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत करता है । दुःख, कलह, क्लेश, अशान्ति की जड़ों को वह समूल नष्ट करता चलता है और सुख, शान्ति व आनन्द का निष्कण्टक मार्ग बनाता चलता है । जीवन में प्रगति के लिए उद्योग और पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है । यह उसका दैनिक क्रम ही बन जाता हैं । विकारों से ही मानसिक क्लेश उपजते हैं । विकार नाश उसकी साधना

में सम्मिलित रहता है। पवित्रता को वह अपना लक्ष्य बनाता है, सात्विकता से वह ओत-प्रोत रहता है, वासनाओं, इच्छाओं और आसक्तियों से वह छुटकारा पाता चलता है। चित्त की पवित्रता और निर्मलता उसका ध्येय होता है। वह मन के इशारों पर नहीं नाचता वरन् मन को निर्देश देता है। वह मन का भृत्य नहीं, स्वामी बन कर रहता है। यह शक्ति और सिद्धि के लक्षण हैं। आत्मा जब इतनी पवित्र हो जाती है कि उसमें किसी प्राणी के प्रति राग, द्वेष नहीं रह जाता किसी के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न नहीं होते, सब में अपनेपन के ही भाव उत्पन्न होते हैं, चारों ओर अपनी आत्मा ही बिखरी दृष्टिगोचर होने लगती है। जगत के प्रति उसकी अभिन्नता का नाश होता है, एकता की अनुभूति होती है। यह एकता ही आनन्द, मस्ती, प्रसन्नता सुख, शान्ति का स्रोत सिद्ध होती है।

समाधि का अभ्यास करने वाला साधक पाशविक वृत्तियों का शमन करता हुआ सच्चे अर्थों में मानव बनता है। वह सीमा में बँधा हुआ नहीं रह पाता। सारा विश्व उसका कुटुम्ब होता है। सारा जगत उसकी परधि में समाया रहता है। जाति और देश के अन्तर को वह भूल जाता है। विश्व हित को वह अपना हित और स्वार्थ मानने लगता है। दिव्य भावनाएं निरन्तर उसके मन में हिलोरें लाती रहती है। वह स्वयं ही दिव्य स्वरूप बन जाता है। वह आनन्द की ही उच्चतम अवस्था तक नहीं पहुंचता वरन् मानव विकास की उच्चतम स्थिति तक पहुँचना पड़ता है और मानव से महामानव बन जाता है।

मानव विकास की उच्चतम अवस्था तक पहुँचने की शोध का श्रेय भारतीय योगियों को ही है जिन्होंने अनवरत परिश्रम करके मानव जाति को यह सम्पदा प्रदान की अन्यथा वह शरीर की उलझनों को सुलझाता हुआ ही यह मूल्यवान जीवन समाप्त कर देता और उसे कोई शाश्वत मार्ग न सूझ पड़ता। समाधि एक स्थान पर बैठकर

अपने शरी' को संज्ञा शून्य कर देना नहीं है। यह मानव विकास की उच्चतम अवस्था है।

मानव विकास को इस उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिये जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, वह शक्ति विकास के ही मार्ग होते हैं। उत्थान के लिये जिन आसुरी प्रवृत्तियों से संघर्ष करना पड़ता है, शक्ति के बिना उन पर विजय प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। आत्मिक उत्थान का श्रेय प्राप्त करने के लिए शक्ति का सहारा लेना आवश्यक है। मानवोत्थान की उच्चतम स्थिति तक पहुँचने के लिए शक्ति सम्राट बनना होगा अन्यथा इसका अधिकार प्राप्त न हो सकेगा। मन्त्र साधना के लिए शक्ति की नींव चाहिए। इस पर जो भवन निर्मित होगा, वह इतना सुदृढ़ होगा कि युगों तक वह उसी स्थिति में बना रहेगा। साधक का मन इस प्रकार से सुसंस्कृरित हो जायेगा कि आसुरी प्रवृति के आँधी व तूफान आने पर भी स्तम्भवत स्थिर रहेगा।

समाधि को मन्त्र योग का एक आवश्यक अङ्ग स्वीकार किया गया है क्योंकि मानव विकास की उच्चतम अवस्था तक पहुँचे बिना न मन्त्र सिद्धि हो सकती है, न स्थिर रह सकती है।

॥ समाप्त ॥
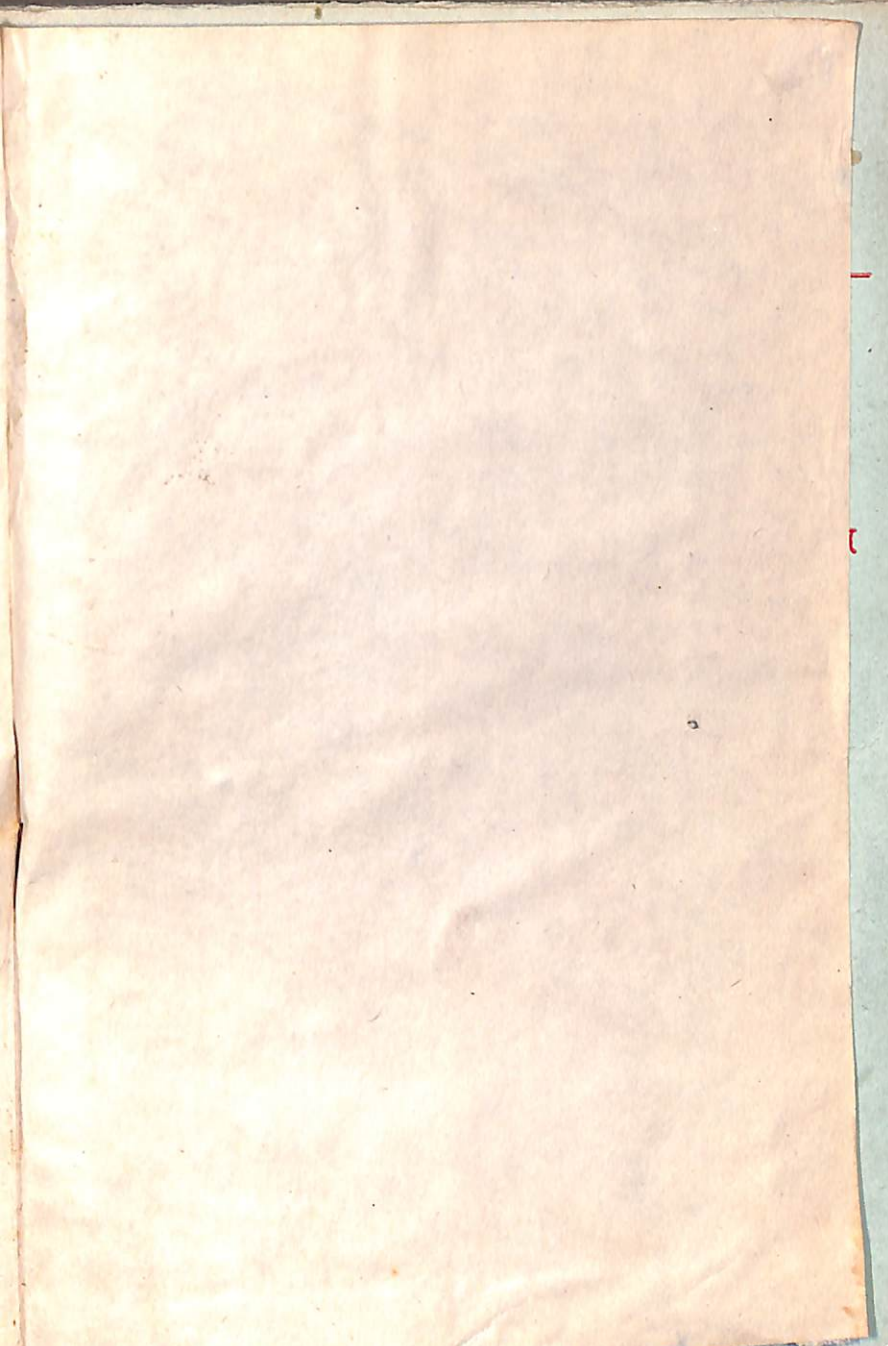
उत्कृष्ट व मौलिक अद्वितीय-ग्रन्थ

१—मंत्र-महाविज्ञान ४ खण्ड ... ३२)
२—मंत्र योग ... ८)
३—वैदिक मंत्र विद्या ... ८)
४—मंत्र शक्ति से रोग निवारण ... ५)७५
५—मंत्र शक्ति से विपत्ति निवारण ... ५)७५
६—मंत्र शक्ति से कामना सिद्धि ... ५)७५
७—मंत्र शक्ति के अद्भुत चमत्कार ... ३)७५
८—ओंकार सिद्धि ... ५)७५
९—मंत्र महासाधना ... १०)
१०—शारदा तिलक ... १०)
११—लक्ष्मी सिद्धि ... ८)७५
१२—उपासना महाविज्ञान ... ९)
१३—देव रहस्य ... ९)
१४—विष्णु रहस्य ... ९)
१५—शिव रहस्य २ खण्ड ... ११)५०
१६—[illegible] महाविज्ञान
१७—ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता
१८—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग ...
१९—[illegible] बोध ... ७)५०
२०—[illegible] संस्कार विधि ... ५)७५
२१—दृष्टान्त सरित सागर ... ८)५०
२२—[illegible] कैसे बनें ? ... ३)५०
२३—चिन्तायें कैसे दूर हों ? ... ३)५०
२४—तंत्र विज्ञान ... ९)७५
२५—तंत्र रहस्य ... ५)७५
२६—तंत्र महाविद्या ... ५)७५
२७—तंत्र महासिद्धि ... ५)७५

प्रकाशक :— संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेद नगर,
बरेली २४३००१ (उ० प्र०)